डाक-पंजीयन म.प्र./भोपाल/4-472/2021-23
पोस्टिंग दिनांक : प्रतिमाह दिनांक 2 से 3, पृष्ठ सं. 140
प्रकाशन दिनांक : 1 से 1 प्रतिमाह

आर.एन.आई क्र. : 38470/83
आई.एस.एस.एन. क्र. : 2456-7167

मूल्य 50/-

42 वाँ वर्ष

अक्षरा

225

साहित्य की मासिकी

दिसम्बर 2023

साधो सबद साधना कीजै
अजित वडनेरकर

स्तंभ
रामेश्वर मिश्र पंकज, कुसुमलता केडिया

अनुवाद
विभा खरे

आलेख
अज़हर हाशमी, राजेन्द्र सिंह गहलौत, आद्या प्रसाद द्विवेदी, राजेन्द्र परदेसी, अरुण तिवारी

शोधालेख
रवि रंजन कुमार, विवेक वर्धन

प्रसंगवश
ओमप्रकाश खुराना, मधु शुक्ला, दिनेश कुमार माली

ललित निबंध
हरिशंकर राढ़ी

व्यंग्य
आलोक सक्सेना

आत्मकथ्य
यतीन्द्रनाथ राही

कहानी
संजय कुमार मालवीय, तनूजा चौधरी, गिरिजेश सक्सेना

कविता
विजय शील, विनीता वर्मा, हर्षदान हर्ष

गीत
अशोक 'आनन', अनूप अशेष

क्षणिकाएँ
पुष्कर राय जोशी

अक्षरा
अंक-225
मूल्य 50/- रुपये

वरिष्ठ छायाकार
जगदीश कौशल

वीरेन्द्र मिश्र

जन्म – 01 दिसंबर 1927
प्रयाण – 01 जून 1975

श्री वीरेन्द्र मिश्र हिन्दी साहित्य जगत् में नवगीत परम्परा के विशिष्ट कवि माने जाते हैं। उनका जन्म एक दिसम्बर 1927 को मध्यप्रदेश के मुरैना में हुआ था। उन्होंने अत्यन्त कठिनाइयों में स्नातक तक की शिक्षा प्राप्त की थी। उनका प्रारम्भिक जीवन आर्थिक संघर्षों और सामाजिक कठिनाइयों से जूझते हुए व्यतीत हुआ। उन्होंने जीवन की परेशानियों से उबरने के लिए छोटी–मोटी नौकरियाँ भी की थीं। वे आकाशवाणी में कार्यरत रहे। उन्होंने दर्जनों फिल्मों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण गीत भी लिखे। उनके बगैर उन दिनों के कवि सम्मेलन अधूरे रहेते थे क्योंकि उनकी आवाज बहुत मधुर थी। जो कवि सम्मेलनों के मंच के लिए बहुत जरूरी है। छायावादोत्तर काल के प्रमुख कवि थे उन्होंने व्यंग्यगीत, नवगीत, राष्ट्रगीत, रेडियो नाटक बाल साहित्य की रचना की। वाणी के कर्णधार, गीतम, मधुवंती, गीत पंचम, उत्सव गीतों की लाशपर, धरती गीताम्बरा, शान्ति गंधर्व, काले मेघा पानी दे आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय गौरव के साथ, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद के घृणित रूपों का चित्रण देखने को मिलता है? उनके गीतों में शक्ति और दृढ़ता, आस्था और विश्वास तथा भावुक प्रेमी कवि की पीड़ा की गूँज स्पष्टरूप से दिखाई देती है। श्री वीरेन्द्र मिश्र को देव पुरस्कार तथा निराला पुरस्कार के अलावा अन्य पुरस्कारों से पुरस्कृत किया गया था– उनका यह दुर्लभ फोटो भोपाल के वरिष्ठ छायाकार श्री जगदीश कौशल ने 1968 में उनके रीवा प्रवास के अवसर पर क्लिक किया था।

अक्षरा

225

यू.जी.सी. द्वारा मान्यता प्राप्त
42 वाँ वर्ष

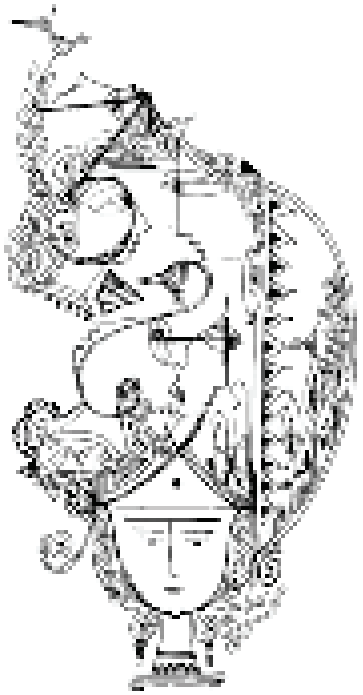

मनोज श्रीवास्तव
प्रधान सम्पादक

जवाहर कर्नावट
प्रबंध सम्पादक

जया केतकी
सम्पादन सहयोग

सुधा बाथम
अक्षर–संयोजन

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपए
दस वर्षीय सदस्यता शुल्क : 5000 रुपए
एक प्रति 50 रुपये
विदेशों के लिए : एक अंक : 10 डॉलर, वार्षिक : 120 डॉलर
चेक या ड्राफ्ट 'म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति- 'अक्षरा' के नाम देय
ऑनलाइन पेमेंट के लिये- इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल
Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610

सम्पर्क : म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - 462002 (म.प्र.)
दूरभाष : 0755- 2660909, (लेखाविभाग-2661087)
ई-मेल - **myakshara18@gmail.com**
hindibhawan.2009@rediffmail.com
वेबसाइट - **www.akshara.page, www.madhyapradeshrashtrabhasha.com**

इस बार के संपादकीय में मैं एक कविता के विश्लेषण के माध्यम से ही कुछ बातें निवेदित करना चाहता हूँ। कविता यों है :

कहते हैं वे विपत्ति की तरह आए
कहते हैं वे प्रदूषण की तरह फैले
वे व्याधि थे
ब्राह्मण कहते थे वे मलेच्छ थे
वे मुसलमान थे
उन्होंने अपने घोड़े सिन्धु में उतारे
और पुकारते रहे हिन्दू! हिन्दू!! हिन्दू!!!
बड़ी जाति को उन्होंने बड़ा नाम दिया
नदी का नाम दिया

वे हर गहरी और अविरल नदी को
पार करना चाहते थे

वे मुसलमान थे लेकिन वे भी
यदि कबीर की समझदारी का सहारा लिया जाए तो
हिन्दुओं की तरह पैदा होते थे

उनके पास बड़ी-बड़ी कहानियाँ थीं
चलने की
ठहरने की
पिटने की
और मृत्यु की

प्रतिपक्षी के खून में घुटनों तक
और अपने खून में कन्धों तक
वे डूबे होते थे
उनकी मुट्ठियों में घोड़ों की लगामें
और म्यानों में सभ्यता के
नक्शे होते थे

न! मृत्यु के लिए नहीं
वे मृत्यु के लिए युद्ध नहीं लड़ते थे

वे मुसलमान थे
वे फ़ारस से आए
तूरान से आए
समरकन्द, फ़रग़ना, सीस्तान से आए
तुर्किस्तान से आए

वे बहुत दूर से आए
फिर भी वे पृथ्वी के ही कुछ हिस्सों से आए
वे आए क्योंकि वे आ सकते थे
वे मुसलमान थे

वे मुसलमान थे कि या ख़ुदा उनकी शक्लें
आदमियों से मिलती थीं हूबहू
हूबहू

वे महत्त्वपूर्ण अप्रवासी थे
क्योंकि उनके पास दुख की स्मृतियाँ थीं
वे घोड़ों के साथ सोते थे
और चट्टानों पर वीर्य बिख़ेर देते थे
निर्माण के लिए वे बेचैन थे
वे मुसलमान थे

यदि सच को सच की तरह कहा जा सकता है
तो सच को सच की तरह सुना जाना चाहिए

कि वे प्रायः इस तरह होते थे
कि प्रायः पता ही नहीं लगता था
कि वे मुसलमान थे या नहीं थे

वे मुसलमान थे

वे न होते तो लखनऊ न होता
आधा इलाहाबाद न होता
मेहराबें न होतीं, गुम्बद न होता
आदाब न होता
मीर मक़दूम मोमिन न होते
शबाना न होती

वे न होते तो उपमहाद्वीप के संगीत को
सुननेवाला ख़ुसरो न होता

वे न होते तो पूरे देश के गुस्से से बेचैन
होनेवाला कबीर न होता
वे न होते तो भारतीय उपमहाद्वीप के
दुख को कहनेवाला ग़ालिब न होता

मुसलमान न होते तो अट्ठारह सौ सत्तावन न होता
वे थे तो चचा हसन थे
वे थे तो पतंगों से रंगीन होते आसमान थे
वे मुसलमान थे
वे मुसलमान थे और हिन्दुस्तान में थे
और उनके रिश्तेदार पाकिस्तान में थे
वे सोचते थे कि काश वे एक बार पाकिस्तान जा सकते
वे सोचते थे और सोचकर डरते थे

इमरान ख़ान को देखकर वे खुश होते थे
वे खुश होते थे और खुश होकर डरते थे
वे जितना पी. ए.सी. के सिपाही से डरते थे
उतना ही राम से
वे मुरादाबाद से डरते थे
वे मेरठ से डरते थे
वे भागलपुर से डरते थे
वे अकड़ते थे लेकिन डरते थे
वे पवित्र रंगों से डरते थे
वे अपने मुसलमान होने से डरते थे
वे फ़िलीस्तीनी नहीं थे लेकिन अपने घर को लेकर घर में
देश को लेकर देश में
खुद को लेकर आश्वस्त नहीं थे

वे उखड़ा-उखड़ा राग-द्वेष थे
वे मुसलमान थे
वे कपड़े बुनते थे
वे कपड़े सिलते थे
वे ताले बनाते थे
वे बक्से बनाते थे
उनके श्रम की आवाज़ें
पूरे शहर में गूँजती रहती थीं
वे शहर के बाहर रहते थे

वे मुसलमान थे लेकिन दमिश्क उनका शहर नहीं था
वे मुसलमान थे अरब का पैट्रोल उनका नहीं था
वे दज़ला का नहीं यमुना का पानी पीते थे

वे मुसलमान थे
वे मुसलमान थे इसलिए बचके निकलते थे
वे मुसलमान थे इसलिए कुछ कहते थे तो हिचकते थे
देश के ज़्यादातर अख़बार यह कहते थे
कि मुसलमान के कारण ही कर्फ़्यू लगते हैं
कर्फ़्यू लगते थे और एक के बाद दूसरे हादसे की
ख़बरें आती थीं

उनकी औरतें
बिना दहाड़ मारे पछाड़ें खाती थीं
बच्चे दीवारों से चिपके रहते थे
वे मुसलमान थे
वे मुसलमान थे इसलिए
जंग लगे तालों की तरह वे खुलते नहीं थे

वे अगर पाँच बार नमाज़ पढ़ते थे
तो उससे कई गुना ज़्यादा बार
सिर पटकते थे
वे मुसलमान थे

वे पूछना चाहते थे कि इस लालकिले का हम क्या करें
वे पूछना चाहते थे कि इस हुमायूं के मक़बरे का हम क्या करें
हम क्या करें इस मस्जिद का जिसका नाम
कुव्वत-उल-इस्लाम है
इस्लाम की ताक़त है

अदरक की तरह वे बहुत कड़वे थे
वे मुसलमान थे
वे सोचते थे कि कहीं और चले जाएँ
लेकिन नहीं जा सकते थे
वे सोचते थे यहीं रह जाएँ
तो नहीं रह सकते थे
वे आधा जिबह बकरे की तरह तकलीफ़ के झटके महसूस करते थे

वे मुसलमान थे इसलिए
तूफ़ान में फँसे जहाज़ के मुसाफ़िरों की तरह
एक-दूसरे को भींचे रहते थे
कुछ लोगों ने यह बहस चलाई थी कि
उन्हें फेंका जाए तो
किस समुद्र में फेंका जाए
बहस यह थी
कि उन्हें धकेला जाए
तो किस पहाड़ से धकेला जाए

वे मुसलमान थे लेकिन वे चींटियाँ नहीं थे
वे मुसलमान थे वे चूजे नहीं थे

सावधान!
सिन्धु के दक्षिण में
सैंकड़ों सालों की नागरिकता के बाद
मिट्टी के ढेले नहीं थे वे

वे चट्टान और ऊन की तरह सच थे
वे सिन्धु और हिन्दुकुश की तरह सच थे
सच को जिस तरह भी समझा जा सकता हो
उस तरह वे सच थे
वे सभ्यता का अनिवार्य नियम थे
वे मुसलमान थे अफ़वाह नहीं थे

वे मुसलमान थे
वे मुसलमान थे
वे मुसलमान थे

यदि 'हिन्दू तन-मन हिन्दू जीवन रग रग हिन्दू मेरा परिचय' वाली कविता अटलबिहारी वाजपेयी लिखें तब वे तो सांप्रदायिक हुए, फ़ासिस्ट हुए पर देवी प्रसाद मिश्र जी उपर्युक्त कविता लिखें तो 'आलोचना' अपने अक्टूबर-दिसंबर 1989 के अंक में संपादकीय के तुरत बाद छापेगी।

पहले वाले मामले में तो रचयिता को कवि की ही गिनती में लेना हेठी मानी जायेगी पर दूसरे वाले मामले में प्रगतिशीलता साक्षात रूपायित हो गई। आप कहेंगे कि पहली तो एक हिन्दू ने स्वयं पर लिखी, जबकि दूसरी एक हिन्दू ने अन्य के धर्म पर लिखी। इसलिए पहली हुई सांप्रदायिक, दूसरी हुई प्रगतिशील। इस तर्क के मान से कवि को कवि के रूप में न देखो, पहले उसका संप्रदाय देखो। कविता तो स्वयं में प्रमाण है। वह कोई नृत्य की तरह नर्तक से अभिन्न थोड़ी है। लिखे जाने के बाद कवि अलग, कविता अलग। और यदि अपने आस्था-विश्वास की कविता लिखना कवि न होना है तो यह दाँते के लिए कहिए जिसने डिवाइन कॉमेडी लिखी।टी एस इलियट को कहिए। इक़बाल को तो अभी तक सिर पर उठाए फिरते हैं, उनकी कुछ रचनाओं को क्या कहेंगे। क्या वे कविता नहीं हैं?

अब इस कविता की चालाकियाँ देखिए। यह इस्लाम और आक्रामकों के बीच में फ़र्क ही नहीं करती। इस्लाम और इस्लामिक उपनिवेशवाद दो अलग-अलग चीजें हैं। ठीक वैसे ही जैसे इस्लाम और इस्लामिक आतंकवाद दो अलग-अलग चीजें हैं। इस्लाम का समर्थन करने के नाम पर कोई इस्लामिक उपनिवेशवाद को कैसे जस्टिफ़ाई करता है, यह कविता उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यहाँ उस उपनिवेशवाद को कवि 'आए' और 'फैले' शब्द से ढाँपने की कोशिश करता है। और उन्हें म्लेच्छ कहने का दोष ब्राह्मणों पर मढ़ देता है। पर यह म्लेच्छ शब्द तो उनके तथाकथित आने से बहुत पहले से प्रचलित था। म्लेच्छ प्राचीन भारत में दूसरे देशों से आये हुए विद्याहीन पशुतुल्य लोगों को कहते थे। शुक्रनीतिसार में शुक्राचार्य का कथन है-

त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीडकाः।
चण्डाश्चहिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः॥

(अर्थ : जिन्होंने धर्म का आचरण करना छोड़ दिया हो, जो निर्घृण हैं, दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं, क्रोध करते हैं, नित्य हिंसा करते हैं, अविवेकी हैं-वे म्लेच्छ हैं।)

पर हमारा कवि बड़ी चतुराई से न केवल इस शब्द की गुणवाचकता या अवगुणवाचकता को एक race के पिंजरे में क़ैद कर देता है बल्कि इसे ब्राह्मणों विरुद्ध मुसलमानों की एक बाइनरी, भी दे देता है। कुछ ऐसे कि जैसे शेष समस्त भारत के लिए तो वह आक्रमण नहीं था, आगमन था।

ये विल ड्यूराँ जरा ठीक-ठीक पता करें कहीं ब्राह्मण तो नहीं था जिसने कहा The Islamic conquest of India is probably the bloodiest story in history. मत पूछिए कि ब्राह्मणों को यह दोष देने वाला कवि स्वयं ब्राह्मण है क्योंकि कविता लिखकर वह उससे अलग हो गया है।

और अपांक्तेय या पंक्तिदूषक ब्राह्मण का खिताब उस पर आयद नहीं होता क्योंकि ऐसा लिखकर वह अपने वर्ग-चरित्र के पार जाता है। उसके हिसाब से ब्राह्मण ने ही म्लेच्छ कहा और किसी क्षत्रिय ने नहीं कहा, किसी वैश्य ने नहीं कहा, किसी बलात्कृता ने नहीं कहा, किसी शूद्र ने नहीं कहा- इस कवि को एकदम precision के साथ मालूम है। प्रतीक्षा करें

कि कब ये कवि महाशय 1857 की क्रांति का दोष मंगल पांडेय पर मढ़ते हैं।

पर इसका क्या कि चचनामा बताती है–कोई ब्राह्मण नहीं– कि मोहम्मद बिनकासिम ने कैसे मंदिरों को ढाया, कैसे सिंध के प्रतिरोधकों का कत्लेआम किया और उनके आश्रितों को गुलाम बनाया और उनका धन लूटकर ले गया। क्या वह 'विपत्ति' न कही जाकर कुछ और कहा जाना था? सिंध की स्त्रियों के साथ किये बलात्कारों को 'प्रदूषण' न कहकर और क्या कहना चाहिए था? और कवि की चतुराई का सबसे बड़ा नमूना इस कविता में तब आता है जब वो कहता है–

प्रतिपक्षी के खून में घुटनों तक / और अपने खून में कन्धों तक
वे डूबे होते थे

यानी उन्होंने दूसरों को कम मारा, खुद ज़्यादा मारे गये। पर यहाँ लगता है कवि ने स्वयं 'आगंतुकों' के दरबारी इतिहासकारों से अनुमति नहीं ली। उनका अहम् इस इलहाम को स्वीकार ही नहीं करता जो इतनी शताब्दियों बाद हमारे कवि को हुआ। फिर तो वो सब मुंडों की मीनारें व्यर्थ हुईं, वो लाखों काफिरों के सर कलम कर देने के दावे इस कवि की दो पंक्तियों ने फीके कर दिये। ये आगंतुक स्वयं अपनी आत्मकथा में भी जो दावे करते थे, मसलन तुज़्के बाबरी में–वे भी डींगें थीं।

वास्तव में तो हमारे कवि के अनुसार उनका बहाया खून घुटनों तक ही आया था, और खुद उनका कंधों तक बहा था। और सोचिये कि उन्हें विजेता होने का वहम था। यानी हमारे प्रगतिशील कवि ने इक़बाल के द्वारा खुदा तक पर चढ़ाये गए अहसान का जो समाँ इतनी मेहनत से बाँधा था, उसकी भी वाट लगा दी। याद कीजिए –

तुझ को मालूम है लेता था कोई नाम तिरा
क़ुव्वत-ए-बाज़ू-ए-मुस्लिम ने किया काम तिरा
बस रहे थे यहीं सल्जूक़ भी तूरानी भी
अहल-ए-चीं चीन में ईरान में सासानी भी
इसी मामूरे में आबाद थे यूनानी भी
इसी दुनिया में यहूदी भी थे नसरानी भी
पर तिरे नाम पे तलवार उठाई किस ने
बात जो बिगड़ी हुई थी वो बनाई किस ने
थे हमीं एक तिरे मारका-आराओं में
ख़ुश्कियों में कभी लड़ते कभी दरियाओं में

यह कहीं वह damn with faint praise वाला मुहावरा तो सच नहीं कर रहा कवि?

तो इस कविता पर भी इकबाल के 'शिकवा' का असर है और यह कवि भी उन्हीं की तरह लिखता है–'**वे फारस से आए / तूरान से आए / समरकंद फरगना सीस्तान से आए/ वे तुर्किस्तान से आए।**' कितने शब्द मिलते हैं न जब हाथ मिला, दिल मिले, तो क्यों न शब्द मिलते?

इसे इकबाल का plagiarism नहीं कहिए, प्रेरणा या प्रभाव कहिए। सच्चा साम्यवादी कभी यहाँ की चीज वहाँ से नहीं उठाता, लेकिन इसका क्या करें कि वह घिसे-पिटे खटरागी सिद्धान्त जरूर उठा लेता है। मसलन ये पंक्तियाँ नोश फरमाएँ–

'उन्होंने अपने घोड़े सिंधु में उतारे
और पुकारते रहे हिन्दू! हिंदू!! हिन्दू!!!'

अब कवि ने पहले 'हिन्दू' सम्बोधन पर एक विस्मयादिबोधक '!' लगाया, दूसरे 'हिंदू' सम्बोधन पर कुछ विस्मय और बढ़ गया तो दो! लगाये और तीसरे 'हिंदू' सम्बोधन पर विस्मय की यह क्रमशः और अनवरत वृद्धि होती गई तो '!!!' लगे। यानी दुहराव से चीजें घिसती नहीं हैं–अज्ञेय ग़लत कहते थे कि बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है–बल्कि उनके कौतुक-बोध में और वृद्धि होती जाती है। तो यह 'सिन्धु' से 'हिन्दू' बनने का खटराग इस कविता में बाकायदा मौजूद है। वह क्या था कि यों तो यह आक्रान्त हुई सभ्यता बच्चों का नामकरण संस्कार करती आई और 'नाम' का महत्त्व भी इसके यहाँ जाने कब से बताया जाता रहा, पर इसमें सहस्राब्दियों बाद भी इतना शऊर नहीं आया कि खुद अपनी आस्था को कोई नाम दे देती।

बस एक निठल्ली प्रतीक्षा करती रही कि कब वे 'आगंतुक' आएँगे और उसे किसी नाम से पुकारेंगे। और इस अनाम-से बेपहचाने-से multitude को कोई संज्ञा प्राप्त होगी। यानी इसमें भी चूक हुई कि लोग यह कहते रहे कि मध्यकालीन

आक्रमणों से भारतीय संस्कृति हतसंज्ञ हो गई थी, अचेत हो गई थी। सच तो यह है कि उससे उनकी संज्ञा लौटी। 'संज्ञा माने noun हमारे कवि के हिसाब से। 'नाम' देने से 'काम हो गया। 'आगंतुकों' के इसी अहसान को आगे बढ़ाते हुए हमारा प्रगतिशील कवि लिखता है –

बड़ी जाति को उन्होंने बड़ा नाम दिया।

नदी का नाम दिया और यही तो आश्चर्य है कि जिन्हें 'स' को 'स' कहना नहीं आता था, उन्होंने उसे 'ह' कहा। फिर भी यह नदी 'सिंधु' ही रह गयी और उसके पार की यह जाति 'हिन्दू' हो गई। इतनी हो गई कि इसका कोई पुराना नाम रहा भी हो तो वह भी मिट गया। विस्मयादिबोधक कुछ और ज़्यादा लगने थे। और कवि का यह बोधोदय तो देखिए कि आगंतुकों ने बड़ी जाति को बड़ा नाम दिया, नदी का नाम। यानी साम्यवादी कवि का क्लास कैरेक्टर कभी छुपता नहीं है। कहेगा वह उसे 'बड़ी जाति' ही और उतने ही कौशल से हिन्दू नाम को 'बड़ा नाम ' कहेगा। ये मुक्तिबोध ही थे न जो कहते थे कि 'उस वर्ग का अपना एक वर्ग-चरित्र होता है। उस वर्ग-चरित्र से तुरन्त हम पहचान लेते हैं कि यह व्यक्ति निम्न वर्ग का है, मध्यम वर्ग का है, अथवा पुराने सामंती वर्ग का प्रतिनिधि है।' तो इतनी मशक्कत के बाद भी हमारे समतावादी कवि में 'बड़ी जाति' होने का भाव बना हुआ है-ये कीचड़ छूट नहीं पाया। यह 'बड़ा नाम' वाला दाग-धब्बा यह नहीं मिटा। यह कुछ जैसे बद्धमूल था।

और 'आगंतुकों' का यह नदी प्रेम भारत आने पर ही जागा। यह कृपा भारत के लिए बचा रखी गई थी। अरब नाम नदी पर नहीं था, फारस नदी पर नहीं था। हालाँकि स्वयं 21 मार्च 1935 को पहलवी वंश के रज़ा शाह ने एक डिक्री जारी कर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से फारस को ईरान कहने का आग्रह किया था और क्या करें कि उस 'ईरान' शब्द में संस्कृत 'आर्यन' की बू आने के बावजूद कहा था। फिर भी हमारा कवि उसे फारस बोलेगा, हालाँकि उसमें भी किसी नदी की स्मृति नहीं, न उसके द्वारा प्रयुक्त दूसरे शब्द तूरान में किसी नदी की याद है।

कवि समरकंद का नाम लेता है जिसके पास से जरफशान नदी बहती है और जो इसी नदी के द्वारा बनाए गए मरुद्यान पर निर्भर होने के बावजूद अपना नाम इस नदी के नाम पर नहीं रखता। और समरकंद की याद कर तैमूर को श्रद्धांजलि पेश करने का वही कवि-कौशल देखते ही बनता है, जैसे फरगना की याद कर 1989 की उस heat में बाबर को खिराजे-अकीदत पेश करने में कवि दिखाता है। पर यह फरगना नाम भी नदी पर नहीं है। यदि होता तो उसका नाम नरयिन होता या कारा होता। ये दो दरिया वहाँ बहते हैं। सीस्तान में भी हेलमंद नदी बहती है। पर भाईलोग वहाँ भी चूक गये और तुर्किस्तान में भी उन्हें 'ताक़तवर' का पर्याय तुर्क शब्द पसंद आया, किजिलिरमॉक नदी पसंद न आई।

तो हमारे प्रगतिशील कवि का बोधोदय यह कि जो स्वयं अपने अंचलों का नाम नदी के नाम पर नहीं रख सके, भारत भूमि पर कदम धरते ही वे इतने प्रकृति-प्रेमी हो गये कि उन्होंने इस बड़ी जाति को नदी का नाम दे दिया। ले फिर वही ' भलि भारतभूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भला लहिकै' वाले गोस्वामी संस्कार हमारे प्रगतिवादी साम्यवादी कवि में घुसे चले आए। यानी इस हद तक कि हमें सहानुभूति हो आती है कि ये घर के रहे या घाट के?

तो कवि का यह गीला ख़्वाब और आगे चलता है और अब वह कहता है –

उनकी मुट्ठियों में घोड़ों की लगामें
और म्यानों में / सभ्यता के नक्शे होते थे

यानी आप गलत समझते हैं कि म्यानों में तलवार होती थी। म्यानों में सभ्यता के नक्शे थे। तलवार ही सभ्यता थी। सभ्यता ही तलवार थी। इस सादगी से आए थे वे। लड़ते थे पर हाथ में तलवार नहीं थी। नक्शा था सभ्यता का। अब रुडयार्ड किपलिंग के सिविलाइजिंग मिशन का यह मध्यकालीन संस्करण है और इस मौलिक उद्भावना के लिए कवि का सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि middle ages को दुनिया भर में लोगों ने dark ages का पर्याय बना लिया है। वह एक अलग अति है।

मध्यकालीन मानसिकता–यह शब्द एक गाली की तरह प्रचलित हो गया है। एक टिपिकल अंधकार प्रकाश का बिम्ब इतिहासकारों ने बनाया है और भारत के संदर्भ में तो द्वितीय उपनिवेशन वाली लहर ने बनाया और मध्यकाल को तमस और आधुनिक काल को प्रकाश बताया। यह historiographical periodization अपने आप में समस्या है क्योंकि उपनिवेशन अपने आप में काफी 'डार्क' होता है, चाहे वह प्रथम हो या द्वितीय। तो हुआ यह इस 'सभ्यता के नक्शे ' को म्यान में रखने वालों से कि विल ड्यूराँ ने निष्कर्ष निकाला कि–

It is a discouraging tale, for its moral is the complex order of civilisation may at any time be overthrown by barbarians invading from without or multiplying within.

तो यह सभ्यता का नक्शा सभ्यता के चिह्नों को मिटाकर बनना था। इस प्रोजेक्ट में विश्वविद्यालयों को नष्ट किया जाना था। पुस्तकालयों को जलाया जाना था। कला और पुरातत्व के सुंदर भवन ढहाये जाने थे। कुछ पुताई कर पुराने स्थानों को नयी पहचान देनी थी।

वो म्यान वाली बात से फिर मुझे इक़बाल याद आते हैं –
निगाहे–मुसलमाँ को तलवार कर दे।
और ये कवि महोदय इन आक्रामकों की असलियत ज्यादा देर तक छुपा भी नहीं पाते तो 'आए' और 'फैले ' में संगोपित लड़ने का सच अंतत: सामने आ ही जाता है। कवि लिखता है–

न ! मृत्यु के लिए नहीं / वे मृत्यु के लिए युद्ध नहीं लड़ते थे

तो फिर कवि महाशय यह भी बता देते कि 'वे' लड़ते ही किसलिए थे। उस बात को अधूरी अनुत्तरित छोड़कर ये जनाब लिखते हैं –
वे मुसलमान थे क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि वे मृत्यु के लिए युद्ध नहीं लड़ते थे, बस इसलिए लड़ते थे कि वे मुसलमान थे। ये इस्लाम की तारीफ़ की जा रही है या निंदा? लड़ाई निष्प्रयोजन थी? मुसलमान होने का अर्थ यह है कि 'जब जवान हों बच्चे तो क़त्ल हो जाएँ?' कि 'दूर दूर के मुल्कों में क़हर बो जाएँ?' ये मश्गला सियासत का था, हुक्मरानों का था–जैसा साहिर कहते हैं कि मज़हब का था?

वामपंथी मुस्लिमों को लड़ने की टर्म्स में रिकास्ट क्यों करना चाहते हैं? अलगज़ाली, अल फराबी, इब्न सीना जैसी परंपरा फिर बेकार ही जन्मी? मुसलमान होने की परिभाषा इन आक्रामकों के हवाले से ही क्यों समझाई जा रही है?

जैसे ही कविता में लड़ाई का यह वीभत्स सच सामने आता है, कवि एक बार तो सकपका जाता है लेकिन फिर से अपने को संगठित कर वह 'आने' के मेटाफर में लौट जाता है –

वे बहुत दूर से आए / फिर भी पृथ्वी के ही कुछ हिस्सों से वे आए
वे आए क्योंकि वे आ सकते थे

पर जब कवि इतना उदार है और उसकी विश्व–दृष्टि इतनी व्यापक है तो फिर वह पृथ्वी के ही कुछ हिस्सों से आने पर ही मुतमईन क्यों है? फिर तो पीके की तरह यदि कोई दूसरे ग्रह से आ जाता, या फ्लैश गॉर्डन सीरियल के गिद्ध मनुष्यों की तरह या फ्रांसिस फ्लैग के Bub-Ho के छिपकली–मनुष्यों की तरह या आर्सन स्काट के एंडर्स गेम के कीट–मनुष्यों की तरह आ जाता–तो उसमें भी क्या समस्या होनी थी? यह तो एक तरह की जागतिक बहुवचनीयता (Cosmic pluralism) होती। तब यह कवि–दृष्टि पृथ्वी के प्रति किसी पार्थिव पक्षपात से भरी हुई लगती है।

एच जी वेल्स के उपन्यास The War of the Worlds में भी काश खगोलीय शक्तियों के आक्रमणों के बारे भी यही 'आने' की विराट् दृष्टि अपना ली जाती। इन तथाकथित आगमनों की कीमत स्थानीय और देशज सभ्यताओं ने किस तरह चुकाई, इस तफ़्सील में जाने की कोई परवाह इन सज्जन को नहीं है। और इस दृष्टि में आने का तर्क कितना सीधा है – 'वे आए क्योंकि वे आ सकते थे।' As simple as that 'आ सकते थे–'सकने' में शक्ति की एक ध्वनि है। आ सकने की शक्ति थी, रौंदने, कुचलने की शक्ति थी तो आ गए। आप इसे 'माइट इज़ राइट' की जंगली अवस्था का सूचक ही नहीं मानें। वामपंथी मानस में यह Power

grows out of the barrel of a gun वाली सोच बहुत गहरे गड़ी है। मध्यकालीन तलवार और कम्युनिस्ट गन इस बिंदु पर एकमत हैं। एक बार ठीक इसी तरह से इन कवि महोदय के घर कोई 'आ' जाए तब हम देखें कि 'आने' के दर्शन का उनका प्रदर्शन कितनी देर टिकता है।

मुसलमानों को वामपंथ ने भारत में इसी ट्रेप में फँसाया जहाँ उसे एक क्रूर अतीत से लगातार आइडेन्टिफाई करना है और उसे जस्टिफाई करते रहना है। मुस्लिम सत्तारूढ़ों को ही इतिहास में पढ़ाया गया, मुस्लिम दार्शनिकों को नहीं और मध्यकालीन सत्ता-उन्माद और उसकी विकृतियों को डिफेन्ड करने की जिम्मेदारी औसत मुसलमानों को self-validation exercise की तरह सौंप दी गई। इसने संप्रदायों में दूरी पैदा की। आख़िरकार कोई भी समाज अपने ऊपर हुए अत्याचारों को कैसे सराह सकता है जब तक कि वह स्टॉकहोम सिंड्रोम से ग्रस्त न हो या देवी प्रसाद मिश्र न हो। वामपंथी बुद्धि यह है कि आक्रमण को आगमन कहो जो कोढ़ में खाज की तरह काम करे। सवाल यह है कि दिन प्रतिदिन रोजी रोटी के चक्कर में फँसे औसत मुसलमान को इससे क्या मदद मिलती है? क्या इससे पेट्रोल और किरोसीन के दाम कम हो जाएँगे? क्या इससे उसके बेटे को रोजगार मिल जाएगा? इसी कविता में जो लोग कवि बताता है-

वे कपड़े बुनते थे / वे कपड़े सिलते थे
वे ताले बनाते थे / वे बक्से बनाते थे
उनके श्रम की आवाज़ें / पूरे शहर में गूँजती रहती थीं

उनकी कोई समस्या उन सुल्तानों और बादशाहों द्वारा ढाये गये कहर और जुल्मों की मिल्कियत अपने ऊपर लेने से हल होती है?

और ये सब वाम सहानुभूति के तमाशे भारत सहित उन्हीं देशों में ही जहां ये दोनों सत्ता में नहीं हैं। अन्यथा अपनी-अपनी जगह दोनों एक-दूसरे को बर्दाश्त तक नहीं करते। यानी जब इसके ब्यौरे पढ़ो कि सोवियत शासन ने मोमिनों और मस्जिदों की क्या दुर्गति की थी तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। 1937 तक कौकाज़ में दस लाख मुस्लिम मार डाले गये थे। 1940 में किर्गिज़िया में पचास हज़ार उलेमा ख़त्म कर दिये गये। अकेले तुर्किस्तान में 1941 तक 14000 मस्जिदें शहीद कर दी गईं थीं। 1912 तक 26 हजार मस्जिदें मध्य एशिया में थीं। 1941 तक सिर्फ़ एक हजार बचीं। अप्रैल 1922 में कम्युनिस्ट नेता ऐम. फ़ीरोज़ के नेतृत्व में उज़्बेकिस्तान में रेडआर्मी ने मुसलमानों का जो थोक नरसंहार किया था, उसके डिटेल्स खौफनाक हैं। 1918 में, यानी बोल्शेविकों के आने के बाद क्रीनिया में मुस्लिमों का नरसंहार हुआ। यूक्रेन की संसद ने अभी 2015 में एक प्रस्ताव पारित कर द्वितीय विश्व युद्ध-युग में मुस्लिम अल्पसंख्यकों के डिपोर्टेशन को नरसंहार के रूप में मान्य किया है। अज़रबैजान के तेल भंडार कम्युनिस्टों के कब्जे में मस्जिदों, मदरसों और उलेमाओं के भारी उन्मूलन के बाद ही आये थे। मुस्लिमों को बल्मीक कहा गया। यह म्लेच्छ कहे जाने से ज्यादा भयावह था क्योंकि बल्मीक को मारा जा सकता था। हज़ करना प्रतिबंधित कर दिया गया था। अभी 3 जुलाई 2018 की खबर थी कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने एक मुस्लिम सदस्य को इसलिए पार्टी से निकाल दिया कि उसने हज यात्रा कर ली थी। नमाज़ करते हुए पाए जाने पर भारी जुर्माना किया जाता था।

कुरान अरबी लिपि में रखी नहीं जा सकती थी। सिर्फ़ लैटिन और बाद में क्रिलिक लिपि में ही किसी हद तक सही जा सकती थी। चीन में आज भी अरबी शैली में मस्जिद तामीर नहीं हो सकती। बाद में तो कुरान की देश भर में उपलब्ध सारी प्रतियाँ जला दी गईं थीं।

लोग आजकल चीन की तत्कथित मुस्लिम मैत्री को अंतर्राष्ट्रीय राजनय में जब सक्रिय देखते हैं तो उइगर मुस्लिमों की चीन में हो रही दुर्दशा को उसकी वास्तविकता के रूप में पेश करते हैं। पर कभी वो चीन की वक्फ़ सम्पत्तियों की जप्ती का जिक्र नहीं करते। वे कभी चीन में धार्मिक भूमियों के होने मात्र पर लगे निषेध पर चर्चा नहीं करते। वे कभी चीन में वक्फ़ की संरचनात्मक मृत्यु (स्ट्रक्चरल डेथ) पर कुछ बोलते नहीं दिखते कि अब वहाँ कोई वक्फ़ कर भी नहीं सकता, उसे विधिक रूप से

शून्य माना जाता है। यही कार्य रूस की साम्यवादी सरकार ने भी किया। सारी वक्फ़ संपत्ति जप्त और स्टेट प्रॉपर्टी घोषित कर दी गईं जबकि कई वक्फ़ संपत्तियाँ रूस में शताब्दियों पुरानी थीं।

जो भारत में इतने मित्र बनते हैं, वे एक दूसरे को इन देशों में सहन न कर सके, जब ये अपनी पॉवर में आये। सारी मित्रता पॉवर-पूर्व की है। और वह मित्रता है कि एक-दूसरे को इस्तेमाल की सीढ़ी बनाना है? पर भारत में यह प्रगतिवाद है जहाँ हर क़िस्म के बीभत्सतम उपनिवेशवाद का समर्थन किया जाता है-ऐतिहासिक नियति के नाम पर। यही कार्ल मार्क्स ने यूरोपीय उपनिवेशवाद के लिए कहा था, यही ये कविवर यहाँ कह रहे हैं-आये क्योंकि आ सकते थे। क्या लॉजिक है। पर यह भी वाम-प्रशिक्षण का ही अंग है। इसे वे historical determinism कहते हैं। चीजें हुईं क्योंकि उन्हें होना था।

उनका सारा संशोधनवाद शास्त्रों को लेकर है। वहाँ यह नहीं वह होना था। बाकी इतिहास की तो अपनी एक नियति है। उसी इतिहास पर उनसे आगे सुनिये -

वे घोड़ों के साथ सोते थे
और चट्टानों पर वीर्य बिखेर देते थे
निर्माण के लिए वे बेचैन थे

अब चट्टानों से नहीं, उन काफ़िर और गुलाम स्त्रियों से बिखेरने की इस क्रूरता के बारे में पूछा जाता तो बेहतर होता। अल अज़हर विश्वविद्यालय की महिला प्रोफ़ेसर सऊद सलेह ने अल हयात टी. वी. पर कहा कि अल्लाह ने अनुमति दी है कि काफिर औरतों के साथ रेप किया जा सकता है। बोको हराम से लेकर हमास तक सब कहाँ क्या बिखेरते रहे हैं-इसे कौन नहीं जानता।

पर चट्टान के इस बिंब का एक सारस्वत अर्थ भी होगा। उन अत्याचारों के बाद वे स्त्रियाँ जड़वत् शिलावत् रह जाती होंगी। जैसे अहिल्या हो गई थी। उन्हें पाषाण-सी हो गई देहें मिली होंगी। तो कवि ने लिखा तो सही ही लिखा।

वैसे भी जब छल-छंद से जीत पाने में महारत हो-पढ़िये Deception in Medieval Warfare : Trickery and Cunning in the Central Middle Ages तो वीरता को चट्टानों पर ही बिखरना था। और फिर उस विध्वंसकता की छवि बदलने की समस्त तथ्यों के विपरीत कोशिश का यह महान वाक्य-वे निर्माण के लिए बैचेन थे

जैसे अभी अपने प्रभाव क्षेत्रों में सांस्कृतिक विरासत का विनाश कर रहा है, वैसे ही शुरू से ही होता आया था। वह विध्वंस अपनी सत्ता और नियंत्रण के उद्घोष की ही तरह नहीं था, वह एक मज़हबी कर्तव्य की तरह निभाया गया। बुतशिकन होने को उपाधि की तरह धारण किया जाता था। वे सिर्फ़ भविष्य को मुट्ठी में नहीं करना चाहते थे, बल्कि अतीत को भी क़ाबू करना चाह रहे थे। वे भवन उनके लिए पत्थर ही नहीं थे बल्कि ऐसी स्मृति भी थे जिसे मिटा देना उनके लिए ज़रूरी था। भवन उनके लिए किसी पत्थर और चट्टान से अधिक था। और उन चट्टानों पर अपना शौर्य उनके विध्वंस के जरिये ही अंकित करते थे। तो कवि का लिखना यों सही ही था।

चट्टानों में सिर्फ़ अहल्या की स्मृति नहीं थी, शालिग्राम की स्मृति भी थी। ये चट्टानें बदलते समय की उपस्थितियाँ रेखांकित करतीं थीं। यहाँ अहिल्या को ही नहीं नारायण को भी शिलावत् होना पड़ा। ये चट्टानें सिर्फ़ rocks नहीं थीं।

निर्माण के लिए तथाकथित बेचैनी का यह कवि-कथन घावों पर नमक की तरह लगेगा कि वह नाश मंदिरों का ध्वंस ही नहीं था, गाँव-गाँव जलाये गये थे। शहर शहर नष्ट किये गये थे। और यह Collateral damage नहीं था। भवनों, मंदिरों, पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों का नाश किया जाना एक ऐसे विगत को विनष्ट करना था जो वर्तमान में उनके अस्तित्व को निरंतर रखने को वैधता देता था। यह bastardisation of buildings था जिस पर कवि यह कहकर पर्दा डालता है कि-

वे न होते तो लखनऊ न होता
आधा इलाहाबाद न होता
मेहराबें न होतीं, गुम्बद न होता

वे पूछना चाहते थे कि इस लालकिले का हम क्या करें वे पूछना चाहते थे कि इस हुमायूं के मक़बरे का हम क्या करें

हम क्या करें इस मस्जिद का जिसका नाम –

कुव्वत-उल-इस्लाम है / इस्लाम की ताक़त है

पर सवाल यह है कि लखनऊ का न होना कैसे पूर्वकल्पित किया जा रहा है। क्या लखनऊ का मध्यकाल से पूर्व कोई इतिहास नहीं है? शकील बदायूनी तक लखनऊ की सरजमीं पर ऐसे एकतरफ़ा तरह से नहीं लिखते। आधे की कृपा इलाहाबाद पर कविता कुछ ऐसे करती है जैसे लखनऊ पूरा मुस्लिम इतिहास का ही नगर हो। इन कवि महोदय को 27 हिन्दू और जैन मंदिरों को तोड़कर उनके पत्थरों से तामीर की गई कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद ही क्यों याद आती है? ऐसी भी तो मस्जिदें होंगी जो मूलत: मुस्लिम होंगी? निर्माण के लिए बेचैनी का सही प्रतीक? उनका उल्लेख करने से इस्लामिक सृजनात्मकता का सही प्रतिनिधित्व होता। या एक ग़लत उदाहरण चुनकर वे यह जताना चाह रहे हैं कि भारत में मौलिक इस्लामिक स्थापत्य में कुछ भी उल्लेख्य नहीं है?

कवि का इतिहास-बोध इस हद तक इकतरफ़ा है कि वह हमारे स्वतंत्रता संग्राम तक को अपनी कलुषित सांप्रदायिक दृष्टि से प्रदूषित करने में नहीं हिचकता और बिना किसी तर्क के एकदम बेलौस तरह से कह देता है कि-'मुसलमान न होते तो अट्ठारह सौ सत्तावन न होता।' यह 1857 को एक तरह की मुस्लिम घटना मानना है। यदि 1857 के संदर्भ में मंगल पांडे, रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, नाना साहेब जैसे व्यक्तिगत नाम नहीं भी लिए जाएँ तो भी डेरिम्पिल के अनुसार 1857 के विद्रोही सैनिकों में 90प्रतिशत ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। तब अपने सांप्रदायिक एजेन्डे में ये कवि महोदय स्वतंत्रता के संयुक्त प्रयास को भी कलर करने में देर नहीं लगाते।

वे 'उपमहाद्वीप के संगीत को सुनने वाला खुसरो' याद करते हैं पर उन्हें यह याद नहीं आता कि उपमहाद्वीप था तो संगीत था, यह नहीं कि खुसरो हुआ तो संगीत हुआ।

नहीं तो तालिबान सहित कई संगठनों / देशों ने संगीत पर के प्रतिबंध लगाये हैं, मौसिकी की कब्र को गहरे गाढ़ने के निर्देश देने वाले बादशाह भी हुए हैं, जाकिर नायक जैसे लोग अभी भी हैं जो डफ और तंबूरे के अलावा सारे वाद्य यंत्रों को हराम बताते हैं, ईरान के अयातुल्ला, सादिक हुसैनी शिराजी, मोहम्मद रजा गोलपायागानी, लोल्फोल्ला सफी, मोहम्मद तकी मेस्बाह यजदी, अहमद जन्नती आदि का फ़ैसला है कि सभी तरह का संगीत और संगीत उपकरण भले ही उनका कुछ भी उद्देश्य हो, हराम हैं। तो भारतीय उपमहाद्वीप के कारण खुसरो संगीत सुन पाए।

कबीर को मुस्लिमों और हिन्दुओं में बाँटकर देखने वाले इस वामपंथी की सोच पर हैरानी होती है। यानी उनकी अस्थियों के फूल पर जो किंवदंती चलती है, वह भी इस कवि को सांप्रदायिक तुष्टीकरण से विरत नहीं कर सकी। इसके बाद शेष कविता में कवि कुछ समसामयिक मुद्दों पर आ जाता है। तब 'वे मुसलमान थे।' वाली टेक बड़ी अजीब लगती है। 'थे' की टर्म्स में भारत की सबसे तेजी से बढ़ती आबादी को बताना कवि की राजनीति है, कविता नहीं है।

और यहीं से कविता disjointed हो जाती है। क्योंकि करोड़ों लोगों का 'थे' में बदल जाना ही अविश्वसनीय है। और उसमें किसी अतिशयोक्ति अलंकार का कोई काव्य सौंदर्य भी नहीं है। 'थे' तो तब होता जब उनका भारत से पलायन हो गया होता या उनका कश्मीर के हिंदुओं की तरह कोई जेनोसाइड हुआ होता-वैसा तो कुछ हुआ नहीं, बल्कि इस कविता के लिखे जाने के एक वर्ष के अंदर कश्मीर से हिन्दुओं का कुख्यात निर्मूलन हुआ, कारसेवकों पर अयोध्या में फायरिंग हुई।

निश्चित ही जिन मुरादाबाद, मेरठ, भागलपुर के जिन दंगों का संदर्भ इस कविता में दिया गया है, वे भी भारत की समन्वयवादी संस्कृति की सरासर पराजय हैं, वे सारे दंगे कलंक हैं-पर वे किसी समुदाय को 'थे' में बदल नहीं सके और अन्तत: सहजीवन व सहअस्तित्व की भारतीय जीवन शैली ही विजयी हुई। तो अतीत का वर्णन करते हुए 'थे' कहना जितना उचित लगता है, वर्तमान में किसी समुदाय को 'थे' के रूप में वर्णित करना मेलोड्रामेटिक हो जाता है और स्पष्ट लगता है कि अब एक यातनाकारी भ्रम (persecutory delusion) तैयार किया जा रहा है। एक नाज़ी नीति है यह। इसके अंतर्गत विक्टिमहुड और ब्लेम गेम दोनों खेले जाते हैं। डरा हुआ मुआशरा संगठित होता है, आक्रमण करता है। नाज़ी नेता हरमन गोरिंगका सिद्धांत

था : The people don't want war, but they can always be brought to the bidding of the leaders. This is easy. All you have to do is tell them they are being attacked. यह कविता एक समुदाय के भीतर डर का ऐसे ही नाट्य तैयार करती है –

वे सोचते थे कि काश वे एक बार पाकिस्तान जा सकते
वे सोचते थे और सोचकर डरते थे
इमरान ख़ान को देखकर वे खुश होते थे
वे खुश होते थे और खुश होकर डरते थे

वे जितना पी.ए.सी. के सिपाही से डरते थे / उतना ही राम से
वे मुरादाबाद से डरते थे / वे मेरठ से डरते थे
वे भागलपुर से डरते थे / वे अकड़ते थे लेकिन डरते थे

वे पवित्र रंगों से डरते थे / वे अपने मुसलमान होने से डरते थे

क्या 1989 में भारतीय मुसलमानों के पाकिस्तान जाने पर कोई पाबंदी थी? तब तो कुछ माहों पहले भुट्टो–गाँधी वार्ता हुई थी और बहुत अच्छा माहौल था। 'काश एक बार पाकिस्तान जा पाते।' तो तब होता जब तत्कालीन राजीव गाँधी सरकार ने भारतीय मुसलमानों को वीसा देने पर रोक लगा दी होती तब इस बेकार की fearmongering का मतलब क्या था?

इमरान खान पर तो लड़कियाँ दीवानी रहतीं थीं–वैसे कविता लिखे जाने के वक्त तक इमरान खान को रिटायर हुए कई बरस हो गये थे। तो वह कौनसा डर था जो पाकिस्तान की जीत पर पटाखे भारत में फोड़ने से नहीं डरता था–आज भी नहीं डरता। डर कर कभी पटाखे फोड़े जाते हैं? आज बाबर आजम या रिज़वान की भारत में तारीफ़ खुलेआम होती है तब ये देवीप्रसाद जी कौन सा डर खोज लाये? वैसे कविता बड़ी चतुरता से यह स्थापित तो कर ही देती है कि मुसलमान इमरान खान को देखकर खुश होते थे पर कविता यह क्यों छुपाती है कि भारत के मुसलमान भारतीय खिलाड़ियों को देखकर भी खुश होते थे। कपिल हों या श्रीकांत–उनकी उपलब्धियों पर भी आनंदित होते थे।

डर की इस विरुदावली में कम्युनिस्ट आत्मा को तब परमोत्तेजना का सुख प्राप्त होता है जब वह राम को पी ए सी के सिपाही के स्तर पर उतार लाये। सो वह काम सफलतापूर्वक कर लेता है यह कवि। इन उदाहरणों से कवि एक mean India syndrome पैदा क्यों करना चाहता था? वह इसलिए कि कवि यह कहता है –

वे मुसलमान थे लेकिन दमिश्क उनका शहर नहीं था
वे मुसलमान थे अरब का पैट्रोल उनका नहीं था
वे दज़ला का नहीं यमुना का पानी पीते थे

तो दमिश्क, दज़ला और अरब के सामने भारत को नीचा दिखाने की कवि को पड़ी ही क्यों है? कि यह इन पंक्तियों के ज़रिए किन्हीं सीमान्तरताओं के आरोप नकारे जा रहे हैं और उनके विरुद्ध एक नैरेटिव तैयार किया जा रहा है? कि कवि को उस दौर में मीनाक्षीपुरम् धर्मांतरण में पेट्रो–डालर्स की भूमिका का निषेध करना है? कि यमुना का पानी पीकर कृष्ण जन्मभूमि के प्रति द्रोह तो संभव ही नहीं होना चाहिए था। यह कवि तब क्यों लिखता है –

वे सोचते थे कि कहीं और चले जाएँ / लेकिन नहीं जा सकते थे
वे सोचते थे यहीं रह जाएँ / तो नहीं रह सकते थे
वे आधा जिबह बकरे की तरह तकलीफ़ के झटके महसूस करते थे

पर चलिए बकरे की तक़लीफ तो समझ आई इन पंक्तियों के कवि को। संवेदना का इतना जागरण ही ग़नीमत है। कई बार यह सहस्राब्दियों में संभव नहीं होता। और कुल मिलाकर यह कविता अपने आप में इस बात का संपूर्ण उदाहरण तो है ही कि संवेदना के कोष्ठक बनाये कैसे जाते हैं। फिर भी यह सवाल रह ही जाता है कि ऐसे कोष्ठक बनने भी क्यों चाहिए?

कोई यह नहीं कहता कि भारत में एक सर्वगुणसम्पन्नता आ गई है। बहुत–से अधूरेपन हैं, असंतुष्टियाँ भी हैं। पर भारत को किसी टार्चर चेंबर की तरह पेश करना कि जिसमें एक वर्ग की औरतें पछाड़ खा रहीं हों और आदमी सर पटक रहे हों, अपने आप में द्रोह है। इत्यलम्

(मनोज श्रीवास्तव)
राम–रज, 3–पारिका–फेज 2,
चूना भट्टी, कोलार रोड,
भोपाल–462016 (म.प्र.)
मो.–9425150651
ईमेल–shrivastava_manoj@hotmail.com

अनुक्रम – अंक 225 दिसंबर 2023

सम्पादकीय

साधो सबद साधना कीजै

'समय' की पहचान / **अजित वडनेरकर**/14

धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित समाज शास्त्र-9

सनातन धर्म में स्त्री जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप एवं वैविध्य / **रामेश्वर मिश्र पंकज**/16

सर्प योनि में गये अपने ही पूर्वज से युधिष्ठिर का संवाद / **कुसुमलता केडिया**/19

अनुवाद

स्वतंत्रता के लिए मैं मरने को तैयार हूँ : मंडेला (**मूल : नेल्सन मंडेला**) / **अनु. विभा खरे**/22

आलेख

बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे डॉ. धर्मवीर भारती / **अज़हर हाशमी**/28

इतिहास के आइने में देश-विदेश की रामलीलाएँ / **राजेन्द्र सिंह गहलौत**/30

लोककला के समक्ष वर्तमान चुनौतियाँ / **आद्या प्रसाद द्विवेदी**/36

व्यंग्य के हस्ताक्षर : हरिशंकर परसाई / **राजेन्द्र परदेसी**/39

गंगा विलास नहीं, नदी तीर्थ : तीर्थ गाँव / **अरुण तिवारी**/42

बुन्देलखण्ड के ऋतुपरक लोकगीत / **सरोज गुप्ता**/46

शोधालेख

सामाजिक व राजनीतिक सिनेमा का व्यावहारिक अध्ययन / **रवि रंजन कुमार**/50

पालि भाषा एवं साहित्य की विकासयात्रा / **विवेक वर्धन**/54

रिपोर्ताज

पावस व्याख्यान माला में / **अखिलेश सिंह श्रीवास्तव 'दादूभाई'**/58

स्मणांजलि

प्रेम का अद्भुत संसार / **अश्विनी कुमार दुबे**/63

पुण्य स्मंरण

पद्मा सचदेव : संजीदगी में समाया साहित्य / **निर्मला डोसी**/69

प्रसंगवश

सर्व कल्याणकारी गीता प्रेस गोरखपुर को नमन / **ओमप्रकाश खुराना**/71

हिन्दी गीत के सशक्त हस्ताक्षर : नरेंद्र दीपक / **मधु शुक्ला**/73

उद्भ्रांत : विलक्षण साधना पर एक विहंगम दृष्टि / **दिनेश कुमार माली**/77

आत्मसंस्मरण

डि'प सा'ब की तीसरी बेटी / **सूर्यबाला**/87

ललित निबंध

आसमान के मोती/**हरिशंकर राढ़ी**/90

व्यंग्य

ताऊ का ताऊ होना / **आलोक सक्सेना**/93

आत्मकथ्य

कलम है कि थकती नहीं / **यतीन्द्रनाथ राही**/95

साक्षात्कार

यशपाल से शैवाल सत्यार्थी की बातचीत/99

कहानी

शास्त्री कालीचरण / **संजय कुमार मालवीय**/102

नेत्रोन्मीलन/ **तनूजा चौधरी**/105

फर्ज का कर्ज / **गिरिजेश सक्सेना**/108

कविता

आषाण का दिन / **विजय शील**/111

दिनचर्या / **विनीता वर्मा**/112

आदि सूत्रधार / **हर्षदान हर्ष**/113

गीत

मौसम काइयाँ / **अशोक 'आनन'**/114

स्वेटर बुन रही है सुबह / **अनूप अशेष**/115

क्षणिकाएँ

उदास नैन / **पुष्कर राय जोशी**/116

समीक्षा

प्रेम सेतु की गिलहरी (शिल्पी दिवाकर) / **आनंद सिंह**/117

हासिल (पवन माथुर) / **सुरेश धींगड़ा**/120

सरल सा हल नहीं मिलता (चंद्रभान भारद्वाज) / **पद्मा शर्मा**/123

निर्गुण और सगुण श्रीराम-कृष्ण (प्रभुदयाल मिश्र) / **प्रेम भारती** /125

खिड़की (यशोधरा भटनागर) / **रणविजय राव**/127

वनगमन (गोवर्धन यादव) / **प्रदीप कुमार श्रीवास्तव**/128

प्रबंध सुधाकर (जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय') / **जया केतकी**/132

प्रतिक्रिया/ **अशोक धमेनियाँ**/135

समय की पहचान

– अजित वडनेरकर

जन्म – 1962।
शिक्षा – हिंदी साहित्य में स्नातकोत्तर।
रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राजकमल प्रकाशन का विद्यानिवास मिश्र कृति पांडुलिपि सम्मान।

वक्त अपने साथ ताक़त और रफ़्तार दोनों लेकर चलता है। यह साबित होता है हिन्दी के उन कई कालसूचक शब्दों से जो गतिवाची, मार्गवाची क्रियाओं से बने हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि गति का स्वाभाविक सम्बन्ध शक्ति से है। गति, प्रवाह, वेग दरअसल शक्ति को ही दर्शाते हैं। देवनागरी का 'इ' वर्ण संस्कृत में क्रिया भी है जिसमें मूलत: गति का भाव है, जाना, बिखरना, फैलना, समा जाना, प्रविष्ट होना आदि 'इ' क्रिया का का विशिष्ट रूप अय् है और इसमें भी गति है। अय् में सम् उपसर्ग लगने से बनता है समय। 'सम' यानी साथ-साथ 'अय' यानी जाना यानी साथ-साथ चलना, जाना। दरअसल हमारे आसपास का गतिमान परिवेश ही समय है अर्थात् समूची सृष्टि, ब्रह्माण्ड, प्रकृति जो कुछ भी दृश्य-अदृश्य हमारे इर्दगिर्द गतिमान है, वह सब काल के दायरे में है। जो कुछ घट रहा है, वह काल है। मनुष्य के लिए उससे तादात्म्य बिठाना ही समय है। बिहारी ने कहा है-'**समै समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोय। मन की रुचि जैति जितै, तित तैति रुचि होय।**'

प्रकृति की लय में लीन हो जाना ही जीवन है। मोनियर विलियम्स के कोश में सम + इ के मेल से समय बनता है। 'इ' का समरूप अय् इसमें निहित है। जिसमें समागम, मिलन, एक होना, व्यवस्थित होना जैसे भाव इसमें हैं। इसके अलावा मौसम, अवधि, युग, काल, ऋतु, अवसर, सीमा, परिधि, संकेत, अवकाश, अन्तराल जैसे भाव भी इसमें हैं। समयोचित और सामयिक जैसे शब्दों में समय पहचाना जा रहा है समय में गति है इसीलिए हम कहते हैं कि वक्त बीत रहा है या बीत गया। समय का सम्बन्ध परिवेश में होने वाले बदलावों से है। 'समय को पहचानो' का तात्पर्य संसार को पहचानने से है। 'समय बदल रहा है' में दुनिया की रफ़्तार से रफ़्तार मिलाने की नसीहत है। स्पष्ट है कि समय में परिवेश का भाव प्रमुख है। जो घट रहा है, जो बीत रहा है, के संदर्भ में 'दुनिया मेरे आगे' ही समय है। संस्कृत के वीत में जाने का भाव है। इससे बना एक शब्द है वीतराग अर्थात् सौम्य, शान्त, सादा, निरावेश। राग का अर्थ कामना, इच्छा, रंग, भावना होता है। वीतराग वह है जिसने सब कुछ त्याग दिया हो। एक पौराणिक ऋषि का नाम भी वीतराग था। वीतरागी वह है जो संसार से निर्लिप्त रहता है।

चरैवेति यानी चलना ही जीवन :- इसी कड़ी में आता है चरैवेति जो चर + वेति का मेल है। चर यानी चलना, आगे बढ़ना। वेति में ढकेलना, उकसाना, ठेलना (सभी में शक्ति), पास आना, ले जाना, प्रेरित करना, प्रोत्साहित करना, बढ़ाना, भड़काना, उठाना जैसे अर्थों को चरैवेति के सकारात्मक भाव से जोड़ कर देखना चाहिए। सभी धर्मों में, संस्कृतियों में काल की गति को सर्वोपरि माना गया है। मगर इसके साथ जीवन को, मनुष्यता को लगातार उच्चतम स्तर पर ले जाने की अपेक्षा भी कही गई है। चलना एक सामान्य क्रिया है। चर के साथ वेति अर्थात् प्रेरणा (ठेलना, ढकेलना) का भाव सौद्धेश्य है। प्रेरित व्यक्ति एक दिशा में चलता है। उच्चता के स्तर पर मनुष्य लगातार अनुभवों से गुज़रते रहने पर ही पहुँचता है। 'चरैवेति-चरैवेति' की सीख भी यही कह रही है कि निरंतर गतिमान रहो। ज्ञानमार्गी बनो। ज्ञान एक मार्ग है जिस पर निरंतर गतिमान रहना है। अनुभव के हर सोपान पर, हर अध्याय पर मनुष्य कुछ और शिक्षित होता है, गतिमान होता है, कुछ पाठ पढ़ता है।

गति की शब्दावली :- देवनागरी के 'व' वर्ण में ही गति का भाव है। इससे बनी 'वा' क्रिया में प्रवाह, गति का आशय है। हिन्दी की तत्सम शब्दावली का वेग इसी कड़ी में है। मार्गवाची शब्दों के निर्माण में भी 'व' की भूमिका है। वर्त्मन यानी राह। बाट इसी वर्त्मन का देशज रूप है। अंग्रेजी के वे (way) को देखें जिसका अर्थ पथ, रास्ता, मार्ग है। यह भारोपीय मूल की 'वे' wegh क्रिया से बना है जिसका समरूप विज् है जिससे संस्कृत का वेग बना है। राह कहीं ले जाती है। लिथुआनी के वेजू में ले जाने का आशय। रूसी में भी यह वेग और वेगात (भागना) है। संस्कृत का वात, फ़ारसी बाद, हिन्दी का वायु आदि में सम्बन्ध देखा जा सकता है। वीत में जाना और आना दोनों हैं। वीथि यानी रास्ता इससे ही बनता है। रामविलास शर्मा संस्कृत की 'वा' के समानान्तर 'या' क्रिया का उल्लेख करते हैं। इनमें गति के साथ जलवाची अर्थवत्ता भी है। जल के साथ हमेशा ही गतिबोध जुड़ता है। मोनियर विलियम्स के कोश से इसकी पुष्टि होती है। संस्कृत का वारि जलवाची है तो रूसी के वोद (वोदका) का अर्थ पानी है। तमिल में नदी के लिए यारू शब्द है। 'या' में जाना, चलना, गति करना निहित है साथ ही इसमें खोज, अन्वेषण भी है। चलने पर ही कुछ मिलता है। चलने की क्रिया मानसिक भी हो सकती है। 'या' में ध्यान का भाव भी है। 'आया', 'गया' में इस गति सूचक 'या' को पहचाना जा सकता है।

गति के कालवाची आयाम :- संस्कृत में यान का एक अर्थ मार्ग तो दूसरा वाहन भी है। हीनयान, महायान, वज्रयान, सहजयान में रीति, प्रणाली की अर्थवत्ता है। किन्हीं व्याख्याओं में वाहन के प्रतीक को भी उठाया गया है। दोनों में ही ले जाने का भाव है। तमिल में इसके प्रतिरूप यानई और आनई हैं। कभी इनका अर्थ वाहन रहा होगा, अब ये हाथी के अर्थ में रूढ़ हैं। एक शब्द है याम जिसमें भी मार्ग के साथ वाहन का भाव है। याम में कालवाची भाव भी है अर्थात् रात का एक पहर यानी तीन घण्टे की अवधि याम है। महादेवी वर्मा ने यामा का प्रयोग रात के अर्थ में किया है। दक्ष की एक पुत्री, और एक अप्सरा का नाम भी यामा, यामी, यामि मिलता है। इसी तरह यव का अर्थ द्रुत गति के अलावा महिने का पहला पखवाड़ा भी है। इसी कड़ी में आयाम भी है। आयाम अब पहलू के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसका अर्थ है समय के अर्थ में विस्तार। किसी चीज़ की लम्बाई या चौड़ाई। किसी विषय के आयाम का आशय उस विषय के विस्तार से है।

काल का प्रशस्त पथ :- फिर समय पर लौटते हैं। समय के अय् में गमन, गति का भाव है, जिसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। इस अय से अयन बनता है। अयन यानी रास्ता, मार्ग, वीथि, बाट, जाने की क्रिया आदि। इसका अर्थ आधे साल की अवधि भी है। दक्षिणायन और उत्तरायण में अवधि का संकेत है। दक्षिणायन में सूर्य के दक्षिण जाने की अवधि और गति का आशय है जिसके ज़रिये सर्दियों का आग़ाज़ होता। तब सूर्य कर्क रेखा से दक्षिण की ओर मकर रेखा की ओर बढ़ता है। सूर्य की उत्तरायण अवस्था इसके उलट होती है। इससे गर्मियों का आग़ाज़ होता है। संस्कृत का वेला, तमिल का वरई, कन्नड़ वरि, हिन्दी का बेला, मराठी का वेळ ये तमाम शब्द भी इसी कड़ी में हैं और समय सूचक हैं। संझाबेला, साँझबेला जैसे शब्द कालवाची ही हैं।

चरत्थ भिक्खवे चारिकम :- काल यानी समय अपने आप में गति का पर्याय है। दार्शनिक अर्थों में चाहे समय को स्थिर साबित किया जा सकता है पर लौकिक अर्थों में तो समय गतिशील है। हर गुज़रता पल हमें अनुभवों से भर रहा है। हर अनुभव हमें ज्ञान प्रदान कर रहा है, हर लम्हा हमें कुछ सिखा रहा है। आज के प्रतिस्पर्धा के युग में हम अनुभवों की तेज रफ्तारी से गुज़र रहे हैं। आज से ढाई हजार साल पहले भी इसी ज्ञान की खातिर भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही सीख दी थी-**चरत्थ भिक्खवे चारिकम। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।** हे भिक्षुओं, सबके सुख और हित के लिए चलते रहो।

जी-37, फेज-1, ग्रीन मीडोज
भोजपुर रोड, पी.ओ. मिसरोद,
भोपाल-462047 (म.प्र.)
मो.- 6265739044

सनातन धर्म में स्त्री जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप एवं वैविध्य

- रामेश्वर मिश्र पंकज

वर्तमान में निरंतर सृजनरत, रीवा मध्य प्रदेश में जन्मे ख्यातिलब्ध दार्शनिक, समाजवैज्ञानिक एवं इतिहासविद, समाजवादी एवं गाँधीवादी आंदोलनों में सक्रियता से सहभागिता कर विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों से सेवा निवृत्त। आपकी बाइस पुस्तकें प्रकाशित हैं।

वैदिक साहित्य में स्त्रियों के विविध रूप वर्णित हैं। जैसा कि डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी की पुस्तक 'हिन्दू सभ्यता' (हिन्दी अनुवाद - डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, राजकमल, नई दिल्ली) के अध्याय 4, 5 एवं 6 में तथा डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की पुस्तक 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष (चौखम्भा, काशी, 1955) में अध्याय 3 परिच्छेद 3 में वर्णित है, कन्याओं की शालाएँ वैदिक काल में एक सामान्य तथ्य थीं और कन्या शिक्षा की परंपरा व्यापक थी। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूत्र में कहा है 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्ववेद 11/5/18)। अर्थात् ब्रह्मचारिणी कन्यायें विद्या सम्पन्न कर युवा पति का वरण करती हैं।

आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' (शारदा मंदिर, काशी, 1967 ईस्वी) के त्रयोदश परिच्छेद-'सामाजिक जीवन' में बताया है छात्राओं के दो प्रकार वैदिक वाङ्मय में वर्णित हैं -

1 सद्योद्वाहा-वे छात्राएँ जो अध्ययन पूर्ण कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो, गृहस्थ-धर्म में जीवन-यज्ञ की समान अधिकारिणी बनकर जीवन जीती थीं। पंडित बलदेव उपाध्याय बताते हैं कि इन कन्याओं को 9 वर्षों तक वेद, व्याकरण, संगीत, छन्द, ज्योतिष आदि की शिक्षा दी जाती थी। युवावस्था में वे विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं।

2 ब्रह्मवादिनी-वे स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्म-चिन्तन, धर्म-चिन्तन एवं अध्यात्म-चिन्तन तथा दार्शनिक मनन में प्रवृत्त रहती थीं। वे कुमारी भी होती थीं, उनमें से कई विवाहिता भी होती थीं परन्तु तब वे समानधर्मी ऋषियों को ही पति रूप में स्वीकार करती थीं जो कि स्वाभाविक ही है। अपने क्षेत्र के श्रेष्ठ पुरुषों के सिवाय अन्य क्षेत्रों में पुरुषों से वे विवाह नहीं पसन्द करती थीं। गार्गी कुमारी ब्रह्मवादिनी थीं जबकि मैत्रेयी विवाहित ब्रह्मवादिनी थीं।

अनेक विदुषियाँ मीमांसा-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, वेदान्त आदि का आजीवन अध्ययन करने वाली भी थीं। काशकृत्स्नी एक श्रेष्ठ मीमांसक थी। गार्गी नैयायिक एवं आत्रेयी वेदान्त-विशारद। विश्ववारा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, रोमशा, सिकता, निवावरी आदि वैदिक ऋषिकाएँ प्रसिद्ध हैं। जैन साहित्य में धर्म-दर्शन की आजीवन अध्येता जयंती नामक विदुषी का उल्लेख है। (डॉ. कैलाशचन्द्र जैन रचित 'प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ', अध्याय 12, पृष्ठ 122, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल 1976 ईस्वी)

शिल्पकर्म और स्त्रियाँ :- वैदिककालीन स्त्रियाँ विविध शिल्पों में प्रशिक्षित तथा शिल्प-कर्म द्वारा धनोपार्जन कर रही भी वर्णित हैं। वस्त्र-बुनाई का कार्य अति उन्नत था तथा उसकी विविध शाखाओं में दक्ष स्त्रियाँ थीं। सूची कर्म (सिलाई) करने वाली, पेशस्करी (कसीदाकारी करने वाली), रजयित्रि (रंगाई करने वाली) आदि स्त्रियों का वर्णन मिलता है। बुनकरी के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग वैदिक संज्ञाएँ थीं, जैसे- धोती बुनना (वासो-वाय), ताना बिनना (तंतु वाय), बाना बिनना (ओतु वाय)। सूती धोती को वासस्, रेशमी वस्त्रों को तार्प्य और क्षोम तथा ऊनी वस्त्रों को ऊर्ण-वास्स कहते थे। इन सभी की दक्ष बुनाई करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार बाँस का काम करने वाली (विदलकारी), तलवार की म्यान और पिटारी या सन्दूक बनाने वाली (कोशकारी), आँखों का अंजन बनाने वाली (आंजनीकारी), नृत्य एवं वादन करने वाली, कितव-क्रीड़ागृह (जुआघर) चलाने वाली आदि स्त्रियों का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। इन्द्राणी को अजेय, अपराजिता सेनानी कहा गया है। (डॉ. कपिल देव द्विवेदी रचित 'अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ 168 से 276 तक, विश्व भारती, वाराणासी, 1988 ईस्वी)

स्वतन्त्र स्त्रियों का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में है यानी जो विवाह-बन्धन में न बँधकर स्वैर कामाचार वाला जीवन जीती थीं। ऐसी स्त्रियों के लिए समनगा (उत्सवगामिनी), समनस्था

आदि भी कहा गया है और ऋग्वेद में 'रहसू' शब्द का भी प्रयोग है। बाद में इन्हें स्वैरिणी, पंचचूड़ा आदि कहा गया है। **(आचार्य क्षितिमोहन सेन रचित 'संस्कृति संगम', पृ. 78-79, 'प्राचीन समाज में व्यवहार और उद्देश्य', साहित्य भवन, प्रयाग 1957 ई.)**

नर-नारी संबंधों के विषय में धर्मशास्त्रों के प्रतिपादनों का अध्ययन करते समय कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है-

1 चूँकि सामान्य लोकजीवन के स्तर पर और अध्यात्म के स्तर पर भी स्त्री-पुरुष जैसा कोई भी विभाजन तत्वत: मान्य नहीं है, इसलिये सामान्य संबंधों में जीवन के विविध क्षेत्रों में जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। अर्थात् छात्रा का धर्म वही होगा जो छात्र का। शिक्षिका का धर्म वही होगा जो शिक्षक का। स्त्री संत का धर्म वही होगा जो पुरूष संत का। शासक के रूप में रानी के कर्तव्य वही होंगे जो राजा के। सेनापति के रूप में स्त्री सेनापति और पुरुष सेनापति के कर्तव्य एक ही होंगे। अध्यापन कार्य में दोनों का स्वधर्म समान होगा। इसी प्रकार विभिन्न शिल्प कर्मों में भी दोनों का धर्म समान होगा।

2 दाम्पत्य जीवन में स्त्री और पुरुष की अलग-अलग भूमिका का विस्तार से प्रतिपादन किये जाने के कारण उस क्षेत्र में स्त्रियों के अधिकारों और कर्तव्यों का अलग से उल्लेख किया गया है। इसीलिये उस संदर्भ में स्त्रीधर्म का अर्थ है पत्नी के कर्तव्य।

पत्नी के कर्तव्य :- धर्मशास्त्रों के अनुसार पत्नी का सर्वोपरि कर्तव्य है पति की सुश्रुषा। 'सुश्रुषा' शब्द का अर्थ है बात को अच्छी तरह से सुनना, भली-भाँति श्रवण करना। इस सुनने में आज्ञापालन निहित है। क्योंकि सुनकर बहला देना सुश्रुषा नहीं है। परंतु मूल भाव सदा स्मरण रखना चाहिये कि-पति की बात भलीभाँति सुनना, यही सर्वोपरि पत्नी-धर्म है। पुराणों में इसकी ही व्याख्या विविध कथाओं के माध्यम से की गई है और कथा-सन्दर्भ से कहीं इसकी व्याख्या 'आज्ञापालन' रूप में की गई है, कहीं सेवा रूप में। इन्हें समेटते हुए 'यम्बकयज्वन ने अपनी पुस्तक 'स्त्री धर्म पद्धति' में समझाया है कि 'समस्त प्रीति-उत्पादन-व्यापार सुश्रुषा' है। जैसे शिष्य द्वारा आचार्य की सुश्रुषा का अर्थ है-भिक्षाचरण एवं अग्न्याधान। पति-पत्नी सम्बन्ध की तुलना प्राय: गुरु-शिष्य सम्बन्ध से की गई है। वस्तुत: सुश्रुषा का अर्थ जो लोग मात्र सेवा से ही लेते हैं, उनके लिए यहाँ द्रौपदी का दृष्टान्त उपयुक्त है। द्रौपदी को सावित्री की भाँति पतिव्रता एवं सती कहा गया है। महाभारत में यह बात स्वयं मार्कण्डेय ऋषि युधिष्ठिर से कहते हैं। (यहाँ स्मरणीय है कि वनवास के समय जब द्रौपदी थक जाती थी तो पांडव उसका पैर दबाते थे। इसी प्रकार, भगवती पार्वती प्रणयक्रीड़ा के क्षण में भगवान शिव को पदाघात करती हैं। अत: गुरु-शिष्य-सम्बन्ध दृष्टांत मात्र सांकेतिक है। उसे यथावत् नहीं लेना चाहिए। प्रीति-उत्पादन-व्यापार ही सुश्रुषा है।)

परवर्ती काल में जब सावतीं सदी से मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और आगे की शताब्दियों में जब उनके अन्याय और अत्याचार बढ़ने लगे-विशेषत: स्त्रियों पर, स्त्रियों एवं काम-सम्बन्धी अनुचित इस्लामी धारणाओं के कारण, तब कन्याओं का विवाह बाल्यावस्था में ही होने लगा और कन्याओं का उपनयन-संस्कार पहले बाधित, फिर वर्जित हुआ। स्त्री के लिए तीर्थयात्रा आदि भी अनावश्यक ठहराए जाने लगे। स्मरणीय है कि पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री पूर्ण वयस्क थीं एवं स्वयं ही वर खोजने लायक परिपक्वता उन्हें प्राप्त थी। राजा अश्वपति उसे तीर्थयात्रा पर भेजते हैं। वे यम से भी शास्त्रार्थ करती हैं और उनका नाम सावित्री पड़ा ही इसलिए कि उन्होंने 18 वर्षों तक सावित्री की साधना की थी (यानी विवाह के समय वे 24 या 25 वर्ष की थीं)। अत: बाद में स्मृतियों में जो भी प्रावधान हैं (उपनयन का न होना, अल्पवय में विवाह कर देना, पूजा-साधना-तीर्थयात्रा न करना आदि), वे सावित्री के दृष्टान्त से बाधित हो जाते हैं। स्पष्टत: देश-काल-भेद से परिवर्तन होता रहता है। समाज की प्रधान प्रवृत्ति देखकर सही परम्परा का अनुमान संभव है। स्वाधीन भारत में (1) स्त्री-शिक्षा तेजी से बड़ी है, (2) वयस्क विवाह ही हो रहे हैं तथा (3) शास्त्र-अध्ययन, पूजा, तीर्थयात्रादि में स्त्रियाँ विशाल संख्या में निरन्तर सम्मिलित होती रही हैं, इससे पता चलता है कि मूल परम्परा यही है।

पति-सुश्रुषा के अतिरिक्त अन्य स्त्री-धर्म हैं-दक्ष, गृहकार्य-कुशल, मितव्ययी एवं स्वच्छता-प्रिय रहना, धार्मिक कृत्य करना, धन संजोना, सम्यक व्यय, भोजन पकाना, कुसंग से दूर रहना, श्वसुर एवं सास की सेवा, संयम तथा सुन्दर ढंग से रहना। **(धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड 2, अध्याय 11)**

स्त्री के अधिकार :- पुराणों एवं स्मृतियों में स्त्री-धर्म के साथ पति-धर्म की तथा स्त्री के अधिकारों की भी चर्चा है। मनुस्मृति के अनुसार पत्नी को सदा पति के साथ रहने और पतिगृह में निवास स्थान पाने का अधिकार है। पत्नी यदि व्यभिचारिणी सिद्ध हो जाए, तब भी उसे घर में रहने तथा भोजन-वस्त्र पाने का अधिकार है। केवल वह यज्ञादि में पति के साथ नहीं बैठ सकती। व्यासस्मृति के अनुसार मासिक धर्म के उपरांत यदि स्त्री आगे व्यभिचार न करे तो उसे पत्नी के समस्त अधिकार वापस मिल जाएँगे। मनुस्मृति के अनुसार व्यभिचार एक उपपातक है। वह महापातक नहीं है। ब्रह्महत्या, गुरुपत्नी गमन, चोरी एवं मदिरा पान महापातक हैं तथा ऐसों से संसर्ग रखना भी महापातक है। धरोहर का अपहरण, मनुष्य, भूमि, हीरा-मणि-चाँदी आदि का अपहरण तथा बहन, बहू, चाण्डाल की स्त्री एवं कुमारी से व्यभिचार करना भी महापातक हैं।

स्त्रियाँ अवध्य हैं। महाभारत के आदिपर्व में अध्याय 157 में 31वाँ श्लोक है-

'अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।'

इसी प्रकार महाभारत के वनपर्व में अध्याय 206 का 46वाँ श्लोक है -

'स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः।'

शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति सभी का यही मत है। मनु का कथन है कि स्त्रियों, बच्चों एवं ब्राह्मणों की हत्या करने वाले को राजा प्राणदण्ड दे। स्वधर्म में स्थित पत्नी को पति के समान अधिकार प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि ब्राह्मणों के ही समान सभी स्त्रियाँ भी करमुक्त होती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, महाभारत प्रभृति में स्त्री-पुरुष की एकता एवं समानता की ऊपर चर्चा हो चुकी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र तथा मनुस्मृति के अनुसार भी धर्म की दृष्टि से पति-पत्नी एक एवं समान हैं। जहाँ तक स्त्रियों की निन्दा की बात है, वह निन्दा कहीं भी धार्मिक-निर्देश नहीं है, अपितु (1) धर्मशास्त्रों में वह पुरुष-दोषों के ही समतुल्य वर्णित है और उसका प्रयोजन है अनुशासन की विधि सुझाना, जो यथा प्रसंग पुरुषों के लिए भी विस्तार से सुझाई गई है। जिस प्रकार विभिन्न प्रसंगों में पुरुषों की निन्दा है, उसी प्रकार स्त्रियों की भी। स्त्रियों की निन्दा का निषेध या विधान नहीं है, क्योंकि हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार स्त्री और पुरुष समानधर्मी हैं, स्त्री कोई विशेष 'केटेगरी' नहीं है।

(2) स्त्री-निन्दा का एक अन्य सन्दर्भ वह है, जिसे वराहमिहिर (छठी शती ई.) ने स्पष्ट किया है-'येप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान्, वैराग्यमार्गेण गुणान् विहाय।'

अर्थात् वैराग्यमार्ग का अनुसरण करने वाले लोग स्त्रियों के दोषों की ही चर्चा करते हैं (गुणों की चर्चा से बचते हैं ताकि उस वर्णन से शिष्य-मंडली या साधक-मंडली में स्त्री के प्रति राग एवं मोह न जग जाए)। अत्यन्त उदात्त एवं कोमल हृदय संतों - यथा कबीर आदि ने जो स्त्रियों की निन्दा की है, उसका यही सन्दर्भ है। हिन्दू समाज में पुरुषों में पत्नी के प्रति तीव्र प्रेम तथा साथ ही काम को एक श्रेष्ठ पुरुषार्थ मानने के फलस्वरूप स्त्रियों के प्रति आकर्षण-भाव भी चारों ओर व्याप्त था ही, अतः वैराग्यमार्ग के साधकों के लिए विशेषकर केवल दोषों की चर्चा की गई। जो नवशिक्षित भारतीय नर-नारी केवल यूरोप के ख्रीस्तपंथ के उस इतिहास को ही मानव-जाति का इतिहास मानते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष आकर्षण को घोरतम मूल पाप तथा शैतान की भयंकर करतूत माना जाता है और इसीलिए प्रत्येक निर्दोष पवित्र कोमल दिव्य मानव-शिशु को भी, (जो 'ईश्वर-अंश जीव अविनाशी। चेतन, अमल, सहज सुख-राशी' है) जन्म से ही पाप की सन्तान माना जाता है तथा पादरियों द्वारा बिना विवाह के निरंकुश कामाचार एवं व्यभिचार को 'सेलिबेसी' का सामान्य अंग माना जाता है, वे स्त्री-निन्दा के भारतीय (हिन्दू) वैराग्यमार्गीय उपदेशों को भी अपने पंथ की तरह लें, यह उनका बौद्धिक दैन्य समझ में आने योग्य है। परन्तु उस निन्दा का सम्यक सन्दर्भ वराहमिहिर डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ही स्पष्ट कर चुके हैं। वैसे तब भी वराहमिहिर ने ऐसी स्त्री-निन्दा को भी 'असाधु धृष्टता' ही कहा है। साधुओं के भी कतिपय वचन असाधु हो सकते हैं, इससे उनकी साधुता खंडित नहीं होती। केवल उस असाधु वचन को असाधु मानना तथा साधु के शेष सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर श्रद्धा रखना, यही धर्म-विवेक है। मसीहों एवं पैगम्बरों की तलाश में जुटे मानस को यह बात भले समझ में न आए क्योंकि उन्हें अपने मस्तिष्क को कष्ट देने की आदत नहीं है, पकी-पकाई खीर चाहिए और सपाट हुक्म चाहिए उन्हें, बस। परन्तु भारत में सदा विवेक की साधना ही धर्म का आधार मान्य रही है। **(क्रमशः)**

ए 141, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर-फंदा, भोपाल-462030 (म.प्र.)
मो. 8349350267

सर्प योनि में गये अपने ही पूर्वज से युधिष्ठिर का संवाद

– कुसुमलता केडिया

इतिहास, समाज विज्ञान और अर्थशास्त्र की गहरी अध्येता और तर्कपूर्ण विवेचना में सिद्धहस्त विदुषी प्रो. कुसुमलता केडिया के वैचारिक आलेखों का शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशन किया जा रहा है ताकि हमारे पाठकों में बौद्धिक उत्तेजना उत्पन्न हो और वे हमारी ज्ञान परंपरा को तार्किक ढंग से आत्मसात कर मौलिक लेखन की ओर प्रवृत्त हों। प्रस्तुत है इस लेखमाला की अगली किश्त **'सर्प योनि में गये अपने ही पूर्वज से युधिष्ठिर का संवाद'** *पाठकों की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।*

– सम्पादक

स्वदेशी अर्थचेतना की संवाहक।

जन्म – 2 जुलाई 1954।

जन्म स्थान – पडरौना (उ.प्र.)।

शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।

रचनाएँ – अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

तीर्थयात्राओं के क्रम में सभी महत्त्वपूर्ण तीर्थों के माहात्म्य के उपरांत महर्षि अगस्त्य और विदर्भ राजकुमारी लोपामुद्रा के विवाह की कथा तथा लोपामुद्रा के कहने पर धन प्राप्ति के लिये विभिन्न नरेशों के यहाँ जाने की गाथा महाभारत में विस्तार से वर्णित है और फिर वातापि तथा इल्वल नामक दोनों भयंकर ऋषिभक्षी राक्षसों को नष्ट करने की गाथा है। तदुपरान्त महाराज सगर की तपस्या और सगर पुत्रों पर महर्षि कपिल के प्रकोप तथा अंत में भगीरथ द्वारा हिमालय पर तपस्या कर भगवान शंकर को प्रसन्न कर देव सरिता गंगा जी को पृथ्वी पर लाकर अपने पूर्वजों का उद्धार और समस्त लोक का कल्याण करने की विश्वविख्यात कथा भी दी गई है। बीच में भगवान परशुराम जी की कथा भी है।

इसके बाद बताया गया है कि युधिष्ठिर विभिन्न तीर्थों में होते हुये प्रभास क्षेत्र पहुँचते हैं और वहाँ बलराम जी, सात्यिकी और भगवान श्रीकृष्ण से उनकी बातचीत होती है। इसी क्रम में जटासुर द्वारा महाराज युधिष्ठिर और महारानी द्रौपदी तथा नकुल और सहदेव के अपहरण करने तथा भीमसेन द्वारा जटासुर के वध करने की कथा है। गंधमादन पर्वत पर महाराज युधिष्ठिर से कुबेर की भेंट होती है और वे युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं तथा पाण्डवों की आवश्यक सुविधाओं का प्रबंध करते हैं। वे भीमसेन को आशीर्वाद देते हैं कि तुम सदा ही शत्रुओं का मानमर्दन करने वाले और सुहृदों का आनन्द वर्धन करने वाले बनो। यह सूचना भी देते हैं कि अर्जुन शीघ्र ही आकर मिलने वाले हैं।

अगले अध्याय में अर्थात् वनपर्व के 163वें अध्याय में पुरोहित धौम्य महाराज युधिष्ठिर को मेरूपर्वत के विषय में तथा सूर्य और चन्द्र की गति एवं प्रभाव के विषय में विस्तार से बताते हैं और अंतरिक्ष मार्ग का भी ज्ञान देते हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि भारत में खगोलशास्त्र और अंतरिक्ष विज्ञान कितना प्राचीन है। वे सारे विवरण आज भी पूर्ण प्रामाणिक हैं।

अर्जुन गंधमादन पर्वत पर इन्द्र के दिये रथ पर सवार होकर उतरते हैं और सभी भाइयों से मिलते हैं तथा यह जानकारी देते हैं कि उन्होंने साक्षात् भगवान शिव और इन्द्रदेव तथा वायुदेव से किस प्रकार दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं। इन्द्रदेव सभी पाण्डवों को सांत्वना देकर स्वर्ग लौट जाते हैं और अर्जुन अपनी वियजयात्रा की गाथा से भाइयों को हर्षित करते हैं।

इसके बाद वह महत्त्वपूर्ण प्रसंग आता है जिसमें पाण्डवों के पूर्वज प्रख्यात चन्द्रवंशी सम्राट नहुष ऋषियों के प्रति अपने अनादर के कारण प्राप्त अजगर योनि में रहते हुये, द्वैतवन की एक कंदरा में पहुँचे अपने ही वंशज भीमसेन को बुरी तरह जकड़ लेते हैं और दस हजार हाथियों के बल वाले भीमसेन उस विशाल अजगर की पकड़ में छटपटाने लगते हैं। भीमसेन

के न पहुँचने पर उन्हें ढूँढ़ते हुये युधिष्ठिर वहाँ पहुँच जाते हैं और तब अजगर योनि में रह रहे अपने ही पूर्वज सम्राट नहुष से उनकी वार्ता होती है, जो महत्त्वपूर्ण है।

नहुष बताते हैं कि मैं चन्द्र की पाँचवी पीढ़ी में हुये सम्राट आयु का पुत्र था और यज्ञ, तपस्या तथा स्वाध्याय के कारण तीनों लोकों का साम्राज्य मुझे प्राप्त हुआ था। उस साम्राज्य का अहंकार मुझे हो गया और मैंने ब्राह्मणों का अपमान किया जिसके कारण उनके शाप से मैं इस अजगर योनि में पड़ा हुआ हूँ। अगर तुम मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दे दोगे तो ही मैं तुम्हारे इस भाई को छोड़ूँगा।

स्वाभाविक ही युधिष्ठिर उत्तर देने को तैयार हो जाते हैं परंतु कहते हैं कि यदि आप ब्राह्मणों के द्वारा जानने योग्य तत्व के जानकार प्रमाणित हुये, तो ही मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। इस पर अजगर प्रश्न करते हैं कि ब्राह्मण कौन हैं? युधिष्ठिर उत्तर देते हैं –

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपोऽघृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।।

अर्थात् हे नागराज, ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य, दान, क्षमा, अनृशंसता, तप और दया–ये सद्गुण विद्यमान हैं। जो ब्रह्म को जानने का प्रयास करता है और उसे ही परम ज्ञेय मानता है, वही ब्राह्मण है।

इस पर नागराज पूछते हैं कि जो गुण आपने बताये हैं, वे तो शूद्रों, वैश्यों और क्षत्रियों में भी देखे जाते हैं। इस पर पुनः युधिष्ठिर कहते हैं –

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्।।

अर्थात् हे सर्प, जिस शूद्र में सत्य, तप, दान और ज्ञान को वह शूद्र नहीं है और जिस ब्राह्मण में ये लक्षण विद्यमान नहीं हो, वह ब्राह्मण नहीं है। इन गुणों और लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति ही ब्राह्मण कहा जायेगा और इनसे रहित व्यक्ति को शूद्र ही समझना चाहिये।

तब इस पर पुनः नहुष ने प्रश्न किया कि तो क्या जाति व्यर्थ ही है? इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि हे महामते! जाति की परीक्षा करना बहुत कठिन कार्य है। इसलिये गुणों और लक्षणों से ही परीक्षा सरल होती है। शील ही सर्वोपरि है। शील ही प्रज्ञा का वाचक है। यदि बहुत शास्त्र पढ़ने पर भी शील और सदाचार का उदय नहीं हो तो ऐसे व्यक्ति का ब्राह्मणत्व संदिग्ध मान लेना चाहिये। सदाचार और शील का होना ही संबंधित व्यक्ति के ब्राह्मण होने का निश्चित प्रमाण है।

पुनः अगले 181 वें अध्याय में युधिष्ठिर ने नहुष से प्रश्न करना प्रारंभ किया। उन्होंने पूछा कि किस कर्म के आचरण से सर्वोत्तम गति प्राप्त होती है? नागराज रूपधारी नहुष ने उत्तर दिया – सत्पात्र को दान देने से, सत्य वचन से और प्रिय वचनों से तथा अहिंसा का पालन करने से स्वर्ग प्राप्त होता है। युधिष्ठिर ने पुनः पूछा कि अहिंसा और प्रिय भाषण, इसमें किसका महत्व अधिक है। इस पर नागराज ने कहा –

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम्।।
कस्माच्चिद् दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किंचिद् दानं विशिष्यते।।
एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते।।
एवमेतद् भवेद् राजन् कार्यापेक्षमनन्तरम्।

अर्थात् दान, सत्य, तत्व और अहिंसा तथा प्रिय भाषण–इनकी लघुता और गुरुता कार्य की महत्ता के अनुसार ही देखी जाती है। कोई–कोई दान सत्य से भी अधिक महान होता है और कई बार प्रिय वचन बहुत अधिक महत्व रखते हैं। इसी प्रकार कई बार अहिंसा, प्रिय वचन से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। वस्तुतः गौरव और लाघव का निश्चय कार्य की अपेक्षा से ही होता है।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथन है। इसीलिये हमारे यहाँ सदा शास्त्रों के सांगोपांग अध्ययन का महत्व है। किसी शास्त्र के किसी एक अंश को लेकर उसे अन्य संदर्भों को भूलकर आत्यन्तिक महत्व देना अज्ञान तो है ही, अनिष्टकारी और अनर्थकारी भी है। गाँधी जी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के नाम पर ऐसा ही अनर्थकारी भाष्य कर डाला था क्योंकि वे

शास्त्रों के व्यवस्थित और विधिवत अध्येता नहीं थे तथा शास्त्र का कोई अंश उनके लिये राजनैतिक इस्तेमाल की चीज भर था। आधुनिक राजनीति में ऐसा बहुत होता है कि शास्त्रों के प्रति निष्ठा और श्रद्धा से शून्य राजनेता अपने किन्हीं अशुद्ध या अनुचित प्रयोजनों के लिये शास्त्रों के किसी वाक्य या अंश का उद्धरण देते रहते हैं।

आगे युधिष्ठिर ने नागराज वेशधारी नहुष से पूछा कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आधार क्या है और मन विषयों का एक ही साथ ग्रहण क्यों नहीं करता? इस पर उन्होंने उत्तर दिया– स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के साथ आत्मा नाना प्रकार के भोगों को भोगता है। ज्ञान, बुद्धि और मन इन भोगों के करण हैं। विषयों के उपभोग के समय बुद्धि जीवात्मा के मन को किसी एक ही विषय में नियंत्रित कर देती है। इसीलिये एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण संभव नहीं हो पाता। बुद्धि से भी परे जो क्षेत्रज्ञ आत्मा है, उसे ही बुद्धि के द्वारा जानने की साधना करनी चाहिये। इस पर पुनः युधिष्ठिर ने मन और बुद्धि के लक्षण पूछे। इस पर सर्पवेशधारी नहुष ने उत्तर दिया –

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते।
तदाश्रिता हि संज्ञैषा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत्।।
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद् भवेत्।।

अर्थात् आत्मा के हेतु भोग और मोक्ष का संपादन करना ही बुद्धि का प्रयोजन है। बुद्धि आत्मसत्ता का आश्रय लेकर ही विषयों की ओर जाती है। इसीलिये उसे आत्मा का अनुसरण करने वाली कहा जाता है। बुद्धि की ज्ञानशक्ति के प्रवाह से ही मन इंद्रियों के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है। यह मन की वृत्ति है। बुद्धि जिस गुण का विधान करती है, मन उसी गुण में रंग जाता है।

इस ज्ञानचर्चा से नहुष सर्पयोनि से मुक्त हो गये। उन्होंने बताया कि मुनिवर अगस्त्य का निरादर करने से मेरी यह गति हुई थी। जब मैंने उनसे बारम्बार क्षमायाचना की तो उन्होंने बताया था कि तुम्हारे आज के अभिमान और पाप का फल तो तुम्हें भोगना ही होगा परन्तु यह फल भोग चुकने के बाद तुम्हारे ही वंश के धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शाप से मुक्त करेंगे। उन महर्षि का वह ज्ञान और ब्राह्मणत्व देखकर मुझे बहुत विस्मय हुआ था। ऐसे ब्राह्मणों को बारम्बार प्रणाम है। तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारे भाई महाबलि भीमसेन को भी मुक्त करता हूँ। अब मैं पुनः स्वर्गलोक को जाता हूँ। यह कथा पुण्य और ज्ञान को बढ़ाने वाली है। **(क्रमशः)**

ए–142, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर–फंदा, भोपाल–462036 (म.प्र.)
मो.–8349350267

विशेष अनुरोध

सम्मानित सदस्यों से विनम्र अनुरोध है कि सदस्यता शुल्क मनीआर्डर, आर.टी.जी.एस / एन.ई.एफ.टी, आदि ई–बैंकिंग माध्यमों से भेजने के पश्चात् एक पोस्ट–कार्ड पर अपना पूरा नाम–पता, पिन कोड नम्बर सहित लिखकर 'अक्षरा' कार्यालय को अवश्य सूचित करें। ताकि पत्रिका प्रेषित करने / मिलने में होने वाली असुविधा से बचा जा सके।

बैंक, खाता संख्या निम्नवत् है–

Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610

इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल

स्वतंत्रता के लिए मैं मरने को तैयार हूँ : मंडेला

मूल – नेल्सन मंडेला
अनु. – विभा खरे

शिक्षा – एम.एच.एस.सी., एम.ए.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में लेखन।
विशेष – अनुवाद में विशेष कार्य।

(श्री नेल्सन मंडेला विश्व प्रसिद्ध हैं, शांति, बातचीत और सुलह के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्तित्व के रूप में वे दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद-विरोधी कार्यकर्ता और राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने 1994 से 1999 तक दक्षिण अफ्रीका के पहले राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। वह देश के पहले अश्वेत राष्ट्राध्यक्ष थे और पूर्ण रूप से प्रतिनिधि लोकतांत्रिक चुनाव में चुने गए पहले व्यक्ति थे। प्रस्तुत वक्तव्य प्रिटोरिया सुप्रीम कोर्ट में, रिवोनिया परीक्षण में रक्षा मामले के उद्घाटन पर 20 अप्रैल 1964 को दिया गया।)

प्रिटोरिआ उच्चतम न्यायालय, 20 अप्रैल 1964

मैं पहला आरोपी हूँ।

मैं कला संकाय से स्नातक हूँ और कई वर्षों से जॉहनसबर्ग में ओलिवर टाम्बो के साथ साझेदारी में एटॉर्नी के रूप में कार्यरत हूँ। मैं एक अपराधी हूँ, तथा बिना अनुमति देश छोड़ने और मई 1961 के अंत में लोगों को हड़ताल करने के लिए उकसाने के जुर्म में 5 वर्ष के कारावास की सज़ा भुगत चुका हूँ।

प्रारम्भ में, मैं कहना चाहता हूँ कि सरकार द्वारा शुरुआत में दिया गया सुझाव कि दक्षिणी अफ्रीका का संघर्ष विदेशियों या साम्यवादियों से प्रभावित है, पूर्णत: ग़लत है। मैंने व्यक्तिगत तौर पर अथवा अपने वर्ग के नेता के रूप में जो कुछ भी किया है, दक्षिण अफ्रीका में अपने निजी अनुभवों और अपनी गौरवशाली अफ्रीकी पृष्ठभूमि को महसूस करते हुए किया है, न कि किसी बाहरी व्यक्ति के कुछ भी कहने से।

युवावस्था में ट्रांसकेइ में मैंने अपने कबीले के बुजुर्गों से अतीत की कहानियाँ सुनी हैं। उन कहानियों के माध्यम से उन्होंने मुझे उन युद्धों से जोड़ दिया जो हमारे पुरुखों ने अपनी पुश्तैनी जमीनों की रक्षा के लिए लड़े थे। दिंगने और बम्बाता, हिंत्सा और मकाना, स्कूंगठी और डालसिले, मोश्वेश्वि और सेखुखुनि के नामों की समूचे अफ्रीकन देशों की शान के रूप में प्रशंसा की जाती है। तभी मैंने ये चाहा था कि जीवन मुझे भी अपने लोगों की सेवा करने और उनके आजादी के संघर्षों में कृतज्ञता से भाग लेने का अवसर दे। इन सब ने मुझे वह सब करने के लिए प्रोत्साहित किया जिसके बारे में मुझ पर इस प्रकरण में आरोप लगाए गए हैं।

यह कहते हुए, मैं तत्काल और जरा विस्तारपूर्वक हिंसा के प्रश्न को लेना चाहता हूँ। माननीय न्यायालय के संज्ञान में अभी तक जो भी लाया गया है उसमें से कुछ बातें सत्य हैं और कुछ असत्य। हालाँकि मैं इससे इंकार नहीं करता कि मैंने इस विध्वंस की योजना बनाई थी। किन्तु इसके पीछे मेरी मंशा किसी गैरजिम्मेदाराना रवैये की नहीं थी, न ही ये इस कारण था कि हिंसा के प्रति मेरे मन में जरा भी प्रेम हो। मेरी ये योजना, मेरे लोगों के प्रति श्वेत लोगों द्वारा बरसों-बरस किये गए अत्याचारों, शोषण और उत्पीड़न के पश्चात् उत्पन्न राजनैतिक स्थिति के शांति और सौम्यतापूर्वक किये गए आंकलन का, नतीजा थी।

मैं तुरंत स्वीकार करता हूँ मैं उन व्यक्तियों में से एक हूँ जिन्होंने उमखोंतो वे सिज़वे के गठन में सहायता की और यह कि अगस्त 1962 में गिरफ्तार होने तक मैंने इसके कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अपने वक्तव्य में, जो मैं देने जा रहा हूँ, सरकारी गवाहों द्वारा बनाये गए कुछ झूठे प्रभावों को सही करूँगा। अन्य चीजों के अलावा, मैं यह प्रदर्शित करूँगा कि गवाहों में संदर्भित कुछ कार्य उमखोंतो द्वारा नहीं किये गए और किये भी नहीं जा

सकते थे। मैं अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस और उमखोंतों के बीच संबंधों के सम्बन्ध के विषय में भी चर्चा करूँगा और इन दोनों संस्थाओं के कार्यों में अपनी व्यक्तिगत भूमिका के भाग को भी लूँगा। मैं साम्यवादी पार्टी की भूमिका के भाग को भी लूँगा। इन मामलों को भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए मुझे यह स्पष्ट करना होगा कि उमखोंतो की स्थापना किस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हुई थी और उस के लिए क्या प्रक्रिया निर्धारित की गई थी और उन तरीकों का चयन क्यों किया गया था। मुझे यह भी स्पष्ट करना होगा कि मैं इन संस्थाओं की गतिविधियों से कैसे जुड़ा।

मैं इस बात से इंकार करता हूँ कि उमखोंतो उन कई कार्यों के लिए उत्तरदायी था जो कि स्पष्ट रूप से संस्था की नीतियों के बाहर थे और जिन पर अभियोग पत्र में हमारे विरुद्ध दोष लगाया गया है। मैं नहीं जानता कि इन कार्यों को कैसे न्यायोचित ठहराया गया था किन्तु यह प्रदर्शित करने के लिए कि ये कार्य उमखोंतो द्वारा अधिकृत नहीं किये गए थे मैं संक्षेप में संस्था की मूल नीतियों को संदर्भित करना चाहता हूँ।

जैसा कि मैंने पहले ही जिक्र किया है कि मैं उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने ने उमखोंतो की स्थापना में सहायता की थी। मेरे और अन्य व्यक्तियों द्वारा इस संस्था को प्रारम्भ करने के दो कारण थे। पहला यह कि हम यह मानते थे कि सरकारी नीतियों के परिणामस्वरूप अफ्रीकन लोगों द्वारा हिंसा करना अवश्यम्भावी हो गया था और यदि हमारे लोगों की भावनाओं को नियंत्रित और धाराबद्ध करने के लिए जिम्मेदार नेतृत्व नहीं दिया गया तो आतंकवाद का विस्फोट होगा और यह इस देश के विभिन्न वर्गों के मध्य कटुता और शत्रुता की ऐसी तीव्रता पैदा करेगा जो कि युद्ध तक से पैदा नहीं होती। दूसरा, हम यह महसूस करते थे कि अफ्रीकन लोगों के लिए श्वेत श्रेष्ठता के सिद्धांत के विरुद्ध संघर्ष हिंसा के बिना नहीं जीता जा सकता। विधायिका द्वारा इस सिद्धांत के विरुद्ध प्रगटीकरण के सभी न्यायपूर्ण मार्ग बंद कर दिए गए थे और हम ऐसी स्थिति में थे कि या तो हम अपनी हीन स्थिति को हमेशा के लिए स्वीकार कर लें और या सरकार की अवहेलना करें। हमने कानून की अवहेलना करने का चयन किया। हमने पहले कानून इस तरह तोड़े कि जिनसे हिंसा के रास्ते को उपेक्षित किया जा सके। जब इस तरीके के विरुद्ध भी कानून बनाया गया और जब सरकार ने अपनी नीतियों के प्रति विरोध को कुचलने के लिए जोर जबरदस्ती का सहारा लेना शुरू किया केवल तब हमने हिंसा का प्रतिउत्तर हिंसा के द्वारा दिए जाने का निर्णय लिया।

पर जिस हिंसा को हमने अपनाने का फैसला किया था वह आतंकवाद नहीं था। हम सब, जिन्होंने उमखोंतो की स्थापना की थी, अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के सदस्य थे। और हमारे पीछे ए. एन. सी. की अहिंसा और बातचीत के जरिए राजनैतिक विवादों का हल निकालने की संस्कृति थी। हम मानते थे कि अफ्रीका उन सभी लोगों का है जो यहाँ रहते हैं, न कि किसी एक समूह का, फिर भले वह श्वेत व्यक्तियों का समूह हो अथवा अश्वेतों का। हम अंतर नस्लवादी युद्ध नहीं चाहते थे और हमने अंतिम क्षण तक इसे टालने का प्रयास किया। अगर न्यायालय को इसमें कोई भी संदेह है, तो यह देखा जाए कि हमारी संस्था का सम्पूर्ण इतिहास इस तथ्य को धारित करता है जो मैंने अभी कहा और जो मैं आगे बताऊँगा जब मैं उन तरीकों का वर्णन करूँगा जो उमखोंतो द्वारा अपनाए गए थे। इसीलिए मैं अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ।

अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस का गठन सन 1912 में अफ्रीकी लोगों के अधिकारों की रक्षा हेतु किया गया था जिनमें साउथ अफ्रीका कानून के माध्यम से जबरदस्त कटौती की गई थी, और तब इसे देशी भूमि कानून के माध्यम से डराया गया था। 37 वर्षों-अर्थात् सन् 1949-तक यह कठोरता से संवैधानिक संघर्ष तक सीमित रही। इसने शासन के समक्ष माँगें और प्रस्ताव रखे, इसने शासन के पास यह सोचकर अपने प्रतिनिधि भेजे कि अफ्रीकी शिकायतों का हल शांतिपूर्ण तरीके से बातचीत के माध्यम से हो सकेगा और अफ्रीकी धीरे-धीरे सम्पूर्ण राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। पर श्वेत सरकार द्वारा कोई कदम नहीं उठाए और अफ्रीकियों के अधिकार बढ़ने की बजाय और कम हो गए। मेरे नेता, चीफ लितुलि के शब्दों में, जो 1952 में ए.एन. सी. के अध्यक्ष बने, और जिन्हें बाद में नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया-

'क्या इस बात से किसी को भी इंकार होगा, कि मैंने अपनी जिंदगी के 30 वर्ष, संयम, शांति और नम्रता के साथ एक बंद

और निषिद्ध दरवाजे को व्यर्थ खटखटाते हुए बिता दिए? किन्तु इस संयम का हमें क्या फल मिला? बीते 30 वर्षों ने ऐसे सर्वाधिक कानून देखे, जिन्होंने हमारे अधिकारों और प्रगति को बाधित किया, और आज हम इस स्थिति में पहुँच गए हैं कि हमारे अधिकार लगभग नगण्य हो गए हैं।'

1949 के पश्चात् भी, ए. एन. सी. अहिंसा के लिए प्रतिबद्ध रही। परंतु इस समय, पूर्व में लागू, विरोध प्रदर्शन के संवैधानिक तरीकों पर ही कठोरता से कायम रहने से थोड़ा सा परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन को मूर्त रूप एक निर्णय के माध्यम से मिला जो कि रंगभेद विधान के विरोध में कुछ कानूनों के प्रति शांतिपूर्ण किन्तु गैरकानूनी विरोध हेतु लिया गया था। इस नीति के अनुसरण में ए. एन. सी. द्वारा एक अवज्ञा अभियान प्रारम्भ किया गया जिसमें मुझे स्वयंसेवकों का प्रभारी बनाया गया था। यह अभियान निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत पर आधारित था। 8500 से अधिक लोगों ने रंगभेदी कानूनों की अवज्ञा की ओर जेल गए। इसके बावजूद अवज्ञा करने वालों की और से अभियान के दौरान हिंसा की एक भी घटना नहीं हुई। मैं और मेरे उन्नीस सहयोगियों को इस अभियान के आयोजन में हमारी भूमिका के कारण दोषी करार दिया गया किन्तु हमारी सजा केवल इस कारण से निलंबित कर दी गयी क्योंकि जज ने पाया कि अनुशासन और अहिंसा का पालन पूरे समय किया गया था। यह वह समय था जब ए. एन. सी. का स्वयंसेवक प्रभाग स्थापित हुआ था, और जब शब्द 'अमादेलाकुफा' पहली बार प्रयोग हुआ था–यह वह समय था जब स्वयंसेवकों को कुछ सिद्धांतों का पालन करने की शपथ दिलाई जाती थी। स्वयं सेवकों और उनकी शपथ के सम्बन्ध में कुछ सबूतों को इस प्रकरण में सम्मिलित किया गया है किन्तु यहाँ वह पूर्णत: अप्रासंगिक है। स्वयंसेवक अश्वेत सेना के ऐसे सैनिक, जिन्होंने श्वेत लोगों के विरुद्ध गृहयुद्ध छेड़ने की शपथ ली हुई हो, न कभी थे और न ही हैं। वे ऐसे समर्पित स्वयंसेवक थे, और हैं, जो कि ए. एन. सी. द्वारा शुरू किए गए अभियान में पर्चे बाँटने, हड़तालें आयोजित करने, और जो ऐसे आयोजन की माँग हो, ऐसे कार्यों के नेतृत्व हेतु तैयार रहते थे। वे स्वयंसेवक कहलाते हैं क्योंकि वे कारावास का जुर्माना और दंड भोगने के लिए खुद को प्रस्तुत करते हैं जो कि अब विधेयक द्वारा इन कानूनों में प्रावधानित कर दिया गया है।

अवज्ञा अभियान के दौरान, नागरिक सुरक्षा कानून और फौजदारी कानून संशोधन कानून पारित किये गए। इन विधियों में कानूनों का विरोध जैसे अपराधों के लिए अधिक कड़े जुर्मानों का प्रावधान किया गया था। इस सब के बावजूद विरोध प्रदर्शन जारी रहे तथा ए. एन. सी. अपनी अहिंसावाद की नीति पर कायम रही। 1956 में कांग्रेस गठबंधन के 156 अग्रणी सदस्य, मुझ सहित, गंभीर राजद्रोह तथा साम्यवाद के दमन के अंतर्गत आने वाले अपराध में गिरफ्तार कर लिए गए। शासन द्वारा ए. एन. सी. की अहिंसावाद की नीति को भी मुद्दा बनाया गया, परन्तु जब न्यायालय द्वारा कोई पाँच वर्षों के पश्चात् अपना निर्णय सुनाया, तब उनके द्वारा पाया गया कि ए. एन. सी. में हिंसा की नीति नहीं थी। हम सभी अभियोगों से मुक्त किये गए जिनमें यह अभियोजन भी शामिल था कि ए. एन. सी. तत्समय के शासन के स्थान पर साम्यवादी राज्य की स्थापना करना चाहती है। सरकार अपने सभी प्रतिद्वंदियों पर साम्यवादी होने का ठप्पा लगाना चाहती थी। यह इल्जाम वर्तमान प्रकरण में भी दोहराया गया है, पर जैसा कि मैं दिखाऊँगा, ए. एन. सी. न तो साम्यवादी संस्था है और न ही कभी रही है।

1960 में शार्पविले में गोलीबारी हुई थी, जिसकी परिणति आपातकाल की घोषणा तथा ए. एन. सी. को एक गैर कानूनी संस्था घोषित किये जाने के रूप में हुई। मैं और मेरे सहयोगियों ने सावधानीपूर्वक विचार विमर्श किये जाने के बाद यह निश्चय किया कि हम इस हुक्मनामे का पालन नहीं करेंगे। अफ्रीकन लोग सरकार का हिस्सा नहीं थे और उनके द्वारा वे कानून नहीं बनाये गए थे जिनके माध्यम से उन पर शासन किया जा रहा था। हम मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के शब्दों पर विश्वास रखते थे कि 'सरकार के प्राधिकार का आधार लोगों की इच्छा होगी।' और हमारे लिए प्रतिबंधों को स्वीकार करने का अर्थ था अफ्रीकी लोगों को हमेशा के लिए चुप किये जाने को स्वीकार कर लेना। ए. एन. सी. ने भंग किये जाने से इंकार कर दिया परन्तु इसके स्थान पर वह भूमिगत हो गयी। हम समझते थे कि इस संस्था को बचाए रखना हमारा कर्तव्य था जो विगत 50 वर्षों के निरंतर अथक परिश्रम से निर्मित हुई थी। मुझे जरा भी संदेह नहीं कि कोई भी स्वाभिमानी श्वेत संस्था अपने आपको ऐसी सरकार द्वारा गैरकानूनी घोषित

किये जाने के पश्चात् खुद को नष्ट नहीं करेगी, जिसमें उसका कोई अस्तित्व ही न हो।

1960 में सरकार द्वारा एक जनमत कराया गया जिसके उपरांत गणतंत्र की स्थापना हुई। अफ्रीकन लोग, जो कि दक्षिण अफ्रीका की कुल जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत भाग हैं, इस जनमत में वोट देने हेतु अधिकृत नहीं थे, और न ही उनसे संविधान में परिवर्तन के इस प्रस्ताव की चर्चा की गयी थी। हम सब इस प्रस्तावित श्वेत गणराज्य में अपने भविष्य को लेकर आशंकित थे, और एक सर्व अफ्रीकन राष्ट्रीय सम्मलेन आयोजित किये जाने हेतु संकल्प पारित किया गया तथा यदि सरकार द्वारा इस प्रस्ताव को वापस नहीं लिया जाता तो इस अवांछनीय गणतंत्र की पूर्व संध्या पर एक सामूहिक विरोध प्रदर्शन आयोजित किये जाने का भी निर्णय लिया गया। इस सम्मलेन में विभिन्न राजनैतिक विचारधारा के अफ्रीकनों ने भाग लिया। मैं इस सम्मेलन का सभापति था, और मैंने राष्ट्रीय 'घर पर रहने' के आयोजन की जिम्मेदारी ली जो कि बाद में गणतंत्र की घोषणा की तिथि वाले दिन किया जाना निश्चित हुआ था। क्योंकि अफ्रीकन लोगों द्वारा की जाने वालीं सभी हड़तालें अवैधानिक थीं। ऐसी हड़ताल आयोजित करने वाले व्यक्ति का गिरफ्तार होने से बचने का प्रयास करना आवश्यक था। मेरा चयन ऐसे व्यक्ति के रूप में हुआ था अत: मुझे अपना घर, परिवार और सेवा छोड़कर गिरफ्तार होने से बचने के लिए छुपना पड़ा।

ए.एन.सी. की नीति के अनुसार 'घर पर रहना' एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन था। आयोजकों तथा सदस्यों को हिंसा की स्थिति निर्मित होने से बचने हेतु सावधानी पूर्वक निर्देश दिए गए थे। सरकार का प्रतिउत्तर था, नए और कड़े कानून लागू करना, अपनी सशत्र सेनाओं को गतिशील करना, सेरासीन, अस्त्र वाहन तथा सैनिकों को शहरों में भेजकर लोगों को धमकाने के उद्देश्य से रचित वृहद् शक्ति प्रदर्शन करना। यह एक संकेत था कि सरकार ने मात्र ताकत के बूते पर शासन करने का निर्णय ले लिया है और यह निर्णय उमखोंतो की राह में मील का पत्थर था।

इसमें से कुछ बातें इस मुक़दमे के सम्बन्ध में अप्रासंगिक लग रही होंगी। किन्तु वास्तव में मुझे लगता है कि इनमें से कुछ भी अप्रासंगिक नहीं है क्योंकि मुझे उम्मीद है कि यह न्यायालय को इस राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े विभिन्न लोगों और संगठनों के नजरिये को समझने में अंतत: मदद करेगा। जब मैं 1962 में जेल गया तो तब प्रमुख विचार यही था कि शारीरिक नुकसान को टालना चाहिए। मैं जानता हूँ कि यह 1963 तक भी यही था।

मुझे जून 1961 में लौटना होगा। अपने लोगों के नेता, हम लोगों को क्या करना था? क्या हमें शक्ति प्रदर्शन और भावी कार्यों के लिए निहित धमकी के समक्ष घुटने टेक देने थे अथवा इससे भिड़ना था और अगर संघर्ष करना था, तो कैसे?

हमें इस बात पर जरा भी संदेह नहीं था कि हमें अपनी लड़ाई जारी रखना है। इसके अलावा और कुछ भी नितांत ही आत्मसमर्पण होता। हमारी समस्या यह नहीं थी कि क्या हमें लड़ना चाहिए बल्कि यह थी कि लड़ाई कैसे जारी रखी जाए। हम, ए. एन. सी. के सदस्य, हमेशा रंगभेद विहीन लोकतंत्र के पक्ष में खड़े थे, और ऐसी कार्यवाही से बचना चाहते थे जो वर्णों के बीच के फासले को वर्तमान से और अधिक बढ़ा दे। किन्तु कठोर सत्यता यह थी कि अहिंसा के विगत पचास वर्षों ने अफ्रीकन लोगों को और अधिक दमनकारी कानूनों और चुटकी भर अधिकारों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया था। न्यायालय के लिए शायद यह समझना आसान नहीं होगा किन्तु यथार्थ यही था कि लोग लंबे समय से हिंसा के बारे में बात कर रहे थे–उस दिन की बात जब वे श्वेत लोगों से लड़ कर अपने देश को वापस जीत पाएँगे–और हम, ए. एन. सी. के नेता, फिर भी उन पर हिंसा से बचने और शांतिपूर्ण तरीके अपनाने पर जोर दे रहे थे। जब हममें से कुछ ने इस पर मई और जून 1961 में चर्चा की तो इससे इनकार नहीं किया जा सका कि अवर्ण सरकार प्राप्त करने के अहिंसक तरीके से हम कुछ भी हासिल नहीं कर पाए थे और यह कि हमारे अनुयायी हमारी इस नीति में विश्वास खो रहे थे और परेशान करने वाले आतंकवादी तरीके खोजने लगे थे।

ये नहीं भूलना चाहिए कि वास्तव में इस समय तक हिंसा दक्षिणी अफ्रीका की राजनीतिक परिदृश्य की एक विशेषता बन गयी थी । 1957 में, जब जीरुस्त की महिलाओं को पास

ले कर चलने के आदेश दिए गए थे, हिंसक घटनाएँ हुईं थीं। 1958 में हिंसा हुई थी जब सेखुखुनीलैंड में मवेशियों को मारे जाने हेतु प्रवर्तन किया गया था। 1959 में हिंसा हुई जब केटो मेनोर के लोगों ने पास रेड़ का विरोध किया था। 1960 में हिंसा हुई जब सरकार ने पोन्डोलेण्ड में बंटू प्राधिकरण को थोपने का प्रयास किया था। इन उपद्रवों में 39 अफ्रीकन मारे गए। 1961 में वार्मबॉथ्स में दंगे हो गए थे तथा पूरे समय ट्रांसकेई अशांति से उबल रहा था। हर उपद्रव स्पष्ट रूप से अफ्रीकन लोगों के बीच इस विश्वास की अपरिहार्य वृद्धि की ओर इशारा कर रहा था कि उनके लिए अब हिंसा ही एकमात्र रास्ता था। ये दिख रहा था कि सरकार अपने नियमों का पालन कराने के लिए अपने बल का प्रयोग कर, उत्पीड़ित व्यक्तियों को उनका विरोध करने के लिए बल प्रयोग करना सिखा रही थी। पहले ही शहरी क्षेत्रों में छोटे-छोटे समूह पैदा हो गए थे, और वे राजनैतिक संघर्ष को हिंसक रूप देने की तात्कालिक योजनाएँ बना रहे थे। अब यह खतरा उत्पन्न हो चला था अगर सही निर्देशन नहीं मिला तो ये समूह श्वेत लोगों एवं अफ्रीकन लोगों के विरुद्ध भी आतंकवाद अपना लेंगे। कुछ स्थानों जैसे जीरुस्त, सेखुखुनीलैंड तथा पोंडोलेन्ड में अफ्रीकियों के मध्य उत्पन्न हिंसा का प्रकार विशेषतया परेशान करने वाला था। यह बढ़ते-बढ़ते ऐसा रूप ले रहा था जो कि सरकार के विरुद्ध संघर्ष न होकर-हालाँकि कहा यही जाता था-अपने ही बीच गृहयुद्ध बन गया था, और इसका संचालन तरह किया जा रहा था जिससे सिवाय जीवन के अंत और कड़वाहट के और कुछ हासिल होने की उम्मीद नहीं थी।

जून 1961 की शुरुआत में, अफ्रीकन लोगों की तत्समय की स्थिति पर एक लंबे और गंभीर आंकलन के उपरांत, मैं और मेरे कुछ सहयोगी इस नतीजे पर पहुँचे कि चूँकि अब इस देश में हिंसा अपरिहार्य है, तब ऐसे समय में जब कि सरकारें हमारी शांतिपूर्ण माँगों के लिए बल प्रयोग कर रही हों, अफ्रीकन नेताओं के लिए अभी भी लोगों को शांति और अहिंसा का पाठ पढ़ाना गलत और वास्तविकता के विपरीत होगा।

इस निष्कर्ष पर पहुँचना आसान नहीं था। यह तब हुआ, जब अन्य सभी कुछ असफल हो गया, जब शांतिपूर्ण विरोध के सारे रास्ते हमारे लिए बंद कर दिए गए, तब राजनैतिक विरोध के हिंसक तरीके को आरंभ करने और 'उमखोंतो वे सिजवे' के गठन का निर्णय लिया गया। हमने यह इसलिए नहीं किया कि हम ऐसा करना चाहते थे, बल्कि इसलिए क्योंकि सरकार ने इस के अलावा हमारे लिए और कोई विकल्प नहीं छोड़ा था। उमखोंतो के घोषणा पत्र में, जो 16 दिसंबर 1961, में जारी किया गया था, और प्रदर्श 'अ द' है, हमने कहा था-

'किसी भी देश की जिंदगी में ऐसा समय आता है जब उसके सामने बस दो विकल्प बचते हैं, समर्पण कर देना या लड़ाई जारी रखना। अब दक्षिण अफ्रीका के लिए वह समय आ गया है। हम समर्पण नहीं करेंगे और हमारे पास अपनी पूरी सामर्थ्य और शक्ति से अपने लोगों की सुरक्षा, अपने भविष्य और अपनी स्वतंत्रता के लिए पलट कर प्रहार करने अतिरिक्त कोई और विकल्प शेष नहीं रह गया है।'

1961 की जून में हमारी यही भावनाएँ थीं जब हमने राष्ट्रीय स्वतंत्रता अभियान की नीतियों में परिवर्तन किये जाने पर बल दिया था। मैं बस यह कह सकता हूँ कि मैंने जो कुछ भी किया मैं अपने आपको उसके लिए नैतिक रूप से जिम्मेदार समझता हूँ। हमने इस निर्णय को लेने के बाद अनेक संघटनों के नेताओं के साथ विचार-विमर्श शुरू किया, ए.एन.सी. उनमें से एक था। मैं यह नहीं बताऊँगा कि हमने किससे बात की और उन्होंने क्या कहा, किन्तु मैं संघर्ष के इस दौर में अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस की भूमिका और उमखोंतो वे सिज़वे की नीतियों तथा लक्ष्य की चर्चा करूँगा।

जहाँ तक ए.एन.सी. का प्रश्न है उसने अपना एक स्पष्ट नजरिया बना लिया था जो कि संक्षेप में इस प्रकार था -

(अ) यह एक व्यापक राजनैतिक संगठन था जिसे एक राजनैतिक कार्य का निष्पादन करना था। इसके सदस्य इसकी अहिंसा की व्यक्त नीति के कारण इसमें शामिल हुए थे।

(ब) इस सब की वजह से, यह हिंसा का सहारा न तो ले सकती थी न ही इसने लिया। इस पर जोर डाला जाना चाहिए। कोई इतनी बड़ी संस्था को विध्वंस के लिए आवश्यक एक छोटी, कस कर गुँथी संस्था में नहीं बदल सकता था। न ही यह राजनैतिक रूप से सही होता, क्योंकि इसकी परिणीति सदस्यों द्वारा इसकी आवश्यक गतिविधियाँ : राजनैतिक प्रचार एवं संगठन, बंद किये जाने के रूप में होती। और न संगठन का सम्पूर्ण व्यवहार बदला जाना जायज ही था।

(स) दूसरी ओर, इस परिस्थिति के मद्देनजर जिसका वर्णन मैंने किया, ए.एन.सी. अपनी पचास सालों की अहिंसा की नीति में इस स्तर तक परिवर्तन करने को तैयार थी, कि वह अब उचित रूप से नियंत्रित हिंसा को खारिज नहीं करेगी। अत: वे सदस्य जो ऐसी गतिविधियाँ करेंगे वे ए.एन.सी. द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही के पात्र नहीं होंगे।

मैंने 'उचित रूप से नियंत्रित हिंसा' कहा क्योंकि मैंने यह स्पष्ट किया था कि अगर मैं ऐसी संस्था बनाऊँगा तो यह सुनिश्चित होगा कि यह संस्था ए.एन.सी. के राजनैतिक निर्देशन में कार्य करेगी और अपनी गतिविधियों का, बताये गए विचार से अतिरिक्त, कोई भी दूसरा तरीका, बिना ए.एन.सी. की सहमति के, इख्तियार नहीं करेगी। और अब मैं न्यायालय को यह बताऊँगा कि हिंसा के इस रूप का अवधारण कैसे किया गया था।

इस निर्णय के परिणामस्वरूप नवम्बर 1961 में उमखोंतो की स्थापना हुई। जब हमने यह निर्णय लिया और उसके बाद अपनी योजनाएँ बनाईं तब ए.एन.सी. की अहिंसा और नस्लीय भाईचारे की विरासत पूरे समय हमारे साथ थी। हम महसूस कर रहे थे कि देश एक गृहयुद्ध की ओर जा रहा है जिसमें श्वेत तथा अश्वेत आपस में एक दूसरे से लड़ेंगे। हमें स्थिति खतरनाक लग रही थी। गृह युद्ध का मतलब था ए.एन.सी. जिन मूल्यों के लिए लड़ रही थी वे ध्वस्त हो सकते थे। गृह युद्ध के बाद नस्लीय शांति को प्राप्त करना किसी भी अन्य स्थिति के मुकाबले और अधिक कठिन हो जाना था। युद्धों के परिणामों के उदाहरण दक्षिण अफ्रीकन इतिहास में पहले ही हमारे पास थे। दक्षिण अफ्रीकी युद्ध का जख्म भरने में पचास से भी अधिक वर्ष लग गए थे। तब अंतर्नस्लीय गृहयुद्ध जो दोनों पक्षों के बड़े पैमाने पर नरसंहार के बिना लड़ा जाना संभव नहीं था, के घाव को भरने में कितने साल लगेंगे?

गृहयुद्ध को टालना हमारी सोच पर बहुत दिनों तक हावी रहा, पर जब हमनें नीतिगत रूप से हिंसा को अपनाने का फैसला लिया, तब हमने यह समझ लिया कि शायद किसी दिन हमें भी इस तरह के युद्ध को झेलना होगा। हमें अपनी योजनाएँ बनाते समय इस बात को भी ध्यान में रखना होगा। हमें एक ऐसी योजना चाहिए थीं जो पर्याप्त रूप से लचीली हो और जो हमें समय की आवश्यकता के अनुसार कार्य करने की अनुमति दे। इस सब से महत्त्वपूर्ण यह था की योजना इस तरह की हो जिसमें गृह युद्ध को अंतिम उपाय के रूप में देखा जाए और इस प्रश्न का उत्तर भविष्य पर छोड़ सके। हम गृह युद्ध के लिए प्रतिबद्ध नहीं थे किन्तु इसके अपरिहार्य होने की स्थिति में इसके लिए तैयार रहना चाहते थे।

चार तरह की हिंसा संभव थीं, तोड़-फोड़, गुरिल्ला युद्ध, आतंकवाद तथा खुली क्रांति। हमनें पहले तरह की हिंसा को अपनाने और कोई अन्य निर्णय लिए जाने के पूर्व इसे पूरी तरह से आजमाने का फैसला किया।

हमारी राजनैतिक पृष्ठभूमि के प्रकाश में यह चयन तर्कपूर्ण था। तोड़-फोड़ में जनहानि सम्मिलित नहीं थी, और यह भावी नस्लीय संबंधों के लिए सर्वश्रेष्ठ आशा प्रस्तुत करता था। कड़वाहट न्यूनतम स्तर पर रहती, और यदि नीति सफल होती, तो लोकतांत्रिक सरकार एक वास्तविकता होती। हमने उस समय यही सोचा था और यही हमने अपने घोषणा पत्र में कहा भी था (प्रदर्श अ ड) -

'हम, उमखोंतो वे सिजवे, हमेशा से बिना खून खराबे और गृहयुद्ध के आजादी हासिल करना चाहते थे। हमें इतनी अवधि बाद भी उम्मीद है कि हमारा प्रथम प्रयास सभी को उस विनाशकारी स्थिति से अवगत करा देगा जिसकी ओर राष्ट्रीय नीति हमें ले जा रही है। हमें आशा है की हम सरकार और उसके सहयोगियों को बिना देर हुए होश में ला सकेंगे ताकि सरकार और उसकी नीतियाँ दोनों बदल सकें इससे पहले कि मामला गृह युद्ध की निराशाजनक स्थिति में पहुँच जाए।'

(रिवोनिआ मुक़दमे में सुरक्षा प्रकरण की सुनवाई शुरू होने पर गोदी (डॉक) से नेल्सन मंडेला का कथन)

(क्रमशः)

एच.आई.जी., 72,
हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बागमुगलिया,
एक्सटेंशन, भोपाल-462043 (म.प्र.)
मो.- 9425079134

बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे डॉ. धर्मवीर भारती

– अज़हर हाशमी

जन्म – 25 दिसंबर 1926।

प्रयाण – 4 सितंबर 1997।

अपनी बात बेबाकी से रखने वाले श्रेष्ठ कवि, चिंतक, लेखक, एवं व्यंग्यकार हैं। आपकी सात पुस्तकें प्रकाशित हैं एवं नियमित स्तंभ प्रकाशित होते हैं। आप म.प्र. साहित्य अकादमी के अखिल भारतीय निर्मल वर्मा सम्मान सहित अनेक पुरस्कारों से अलंकृत हैं।

डॉ. धर्मवीर भारती जी पर अपने आलेख का आरंभ, मैं उन्हीं की इस कविता से करना चाहता हूँ जो मुझे बहुत प्रिय है :-

सृजन की थकन भूल जा देवता!

अभी तो पड़ी है धरा अनबनी,

अभी तो पलक में नहीं खिल सकी,

नवल कल्पना की मधुर चाँदनी।

अभी अधखिली ज्योत्स्ना की कली,

नहीं जिंदगी की सुरभि में सनी।

अभी तो पड़ी है धरा अनबनी,

अधूरी धरा पर नहीं है कहीं,

अभी स्वर्ग की नींव का भी पता!

सृजन की थकन भूल जा देवता।

रुका तू, गया रुक, जग का सृजन,

तिमिरमय नयन में डगर भूलकर,

कहीं खोगई रोशनी की किरन,

अलस बादलों में कहीं सो गया,

नई सृष्टि का सप्तरंगी सपन

अधूरे सृजन से निराशा भला

किसलिए जब अधूरी स्वयंपूर्णता?

सृजन की थकन भूल जा देवता।

प्रलय से निराशा तुझे हो गई?

सिसकती हुई साँस की जालियों में

सबल प्राण की अर्चना खो गई?

थके बाहुओं में अधूरी प्रलय

'औ' अधूरी सृजन-योजना खो गई

थकन से निराशा तुझे हो गई?

इसी ध्वंस में मूर्छित-सी कहीं

पड़ी हो नई जिंदगी क्या पता!

सृजन की थकन भूल जा देवता!

डॉ. भारती जी उक्त कविता में दरअसल 'थके हुए कलाकार से' बात करते हैं। इस कविता में निराशा के निविड़ अंधकार को आशा के आलोक से दूर करने का सकारात्मक संदेश है। इस कविता में भारती जी ने एक ओर तो बिम्बों के बादल बरसाए हैं तो दूसरी ओर प्रतिबिम्बों का परिदृश्य भी निर्मित किया है। यह कविता मुझे इसीलिए प्रिय है कि इसमें सकारात्मकता का समूचा संसार समाया हुआ है। मेरे मत में डॉ. भारती ने उक्त कविता में कर्म की कमान से कोशिश का तीर छोड़ते रहने का संकेत दिया है।

पद्मश्री से अलंकृत साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उपन्यास से लेकर काव्य तक, निबंध से लेकर नाटक तक, कहानी से लेकर आलोचना तक उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का परचम लहरा रहा है। उनका उपन्यास

'गुनाहों का देवता' कालजयी कृति है। मेरे मौलिक मत में डॉ. धर्मवीर भारती 'गुनाहों का देवता' लिखकर हिंदी साहित्य के उपन्यासों की 'बारहखड़ी के बैंक' में ऐसा 'फिक्स्ड डिपॉज़िट' कर गए हैं जिसकी शब्द-शक्ति के 'ब्याज' का लाभ पाठकों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होता रहेगा। मैं एक अन्य रूपक/उपमा से कहूँ तो यह कि जिस प्रकार ड्राइनिंग-टेबल पर कोई विशेष सूप भोजनकर्ता के लिए 'अपेटाइज़र' की तरह कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार रीडिंग-टेबल पर रखी हुई डॉ. धर्मवीर भारती की रचनाओं में उनका उपन्यास (गुनाहों का देवता) पढ़कर पाठक में अन्य कृतियों के प्रति 'रीडिंग हंगर' बढ़ाती है। मेरा यह भी मत है कि डॉ. धर्मवीर भारती की रचनाधर्मिता की रेलगाड़ी, प्रयोगों के प्लेटफॉर्म पर पर्याप्त से भी अधिक समय तक ठहरती है, जिसके कारण विलंब से आनेवाले यात्री की भी ट्रेन नहीं छूटती। इसका तात्पर्य यह नहीं कि डॉ. भारती विलंब की पीठ थपथपा रहे हों, बल्कि इसमें यह संदेश छिपा है कि नये प्रयोग को पाँव जमाने में समय लगता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उनका ऐसा ही प्रयोगात्मक उपन्यास है जिसमें जो कथा और शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय है। प्रसिद्ध फिल्म निर्माता-निर्देशक श्याम बेनेगल ने इसी नाम की फिल्म बनाया है। 'अंधायुग' डॉ. धर्मवीर भारती का मशहूर पद्य-नाटक है जिसका मंचन प्रसिद्ध रंगकर्मी इब्राहीम अलकाजी, रामगोपाल बजाज, मोहन महर्षि एम.के. रैना और अरविंद गौड़ के अलावा अन्यों ने भी किया है। 'बंद गली का आखिरी मकान' स्वर्ग और पृथ्वी उनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। उनकी काव्य रचनाओं में 'कनुप्रिया' 'ठंडा लोहा' और 'सात गीत वर्ष' की अपनी अलग पहचान है। 'ठेले पर हिमालय' और 'पश्यंती' में डॉ. धर्मवीर भारती के निबंधकार से साक्षात्कार होता है।

आलोचना के क्षेत्र में 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' उनकी ऐसी रचना है जो पठनीय तो है ही संग्रहणीय भी है। सही तो यह है कि उनकी हर रचना चाहे वह किसी भी विधा में हो, संग्रहणीय है। सन् 1972 में 'पद्मश्री' अलंकरण से अलंकृत डॉ. धर्मवीर भारती को 'हल्दीघाटी श्रेष्ठ पत्रकारिता पुरस्कार 1984' सर्वश्रेष्ठ नाटककार पुरस्कार संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली, 1989 भारत-भारती पुरस्कार उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, 1990 तथा के. के. बिड़ला फाउंडेशन के व्यास सम्मान से सम्मानित किया गया था। 1999 में उस समय के युवा कहानीकार उदयप्रकाश के निर्देशन में डॉ. धर्मवीर भारती पर साहित्य अकादमी दिल्ली के लिए एक वृत्तचित्र का निर्माण भी हो चुका है। ये सब तो हुई। डॉ. धर्मवीर भारती की रचनाओं और अलंकरण-सम्मानों की बातें लेकिन एक बात बहुत खास है जिसका जिक्र करना जरूरी है। उसके बिना बात बनेगी नहीं। यह खास बात है बहुत लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यिक पत्रिका 'धर्मयुग' की (जिसका प्रकाशन अब बंद हो चुका है।) बहुत लंबे समय तक जिसके संपादक रहे थे डॉ. धर्मवीर भारती। मेरा यह सौभाग्य रहा कि मेरी पहली 'हिंदी ग़ज़ल' डॉ. धर्मवीर भारती के संपादकत्व में धर्मयुग (7 अप्रैल 1974) में प्रकाशित हुई। उसके बाद तो गाहे-बगाहे रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जिसके नाम से हिंदी साहित्य का एक कालखंड 'द्विवेदीयुग' के नाम से जाना जाता है। संपादकत्व में निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' और उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद के संपादन में प्रकाशित होने वाली पत्रिका हंस का जो स्तर और गरिमापूर्ण स्थान उनके दौर में था वैसी ही गरिमा-प्रतिष्ठा 'धर्मयुग' को डॉ. धर्मवीर भारती के संपादकत्व में मिली। डॉ. धर्मवीर भारती के संपादन में धर्मयुग में किसी की रचना का प्रकाशित होना 'भारत-रत्न' अलंकरण प्राप्त करने की तरह था। डॉ. धर्मवीर भारती के संपादन में 'धर्मयुग' में किसी स्तरीयता की कसौटी पर कसी हुई रचना छपती थी, किसी का पद या संबंध नहीं। पद का अहंकार धर्मवीर भारती के संपादन में तिरस्कृत होता था किंतु किसी भी रचना का सृजन संस्कार सम्मान पाता था। और अब उनसे जुड़ा मेरा संस्मरण मेरी उनसे मुंबई में ही भेंट हुई थी। मैंने उनसे पूछा था आप किन्हें अपना मानते हैं? 'इसपर डॉ. धर्मवीर भारती ने उत्तर दिया था 'जानने की प्रक्रिया में होने और जीने की प्रक्रिया में जानने वाला मिज़ाज जिन लोगों का है, उनमें मैं अपने को पाता हूँ।' उनका यह उत्तर मेरा संस्मरण हो गया। और अंत में पाठकों को मैं यह बता दूँ कि मध्यप्रदेश बोर्ड की दसवीं कक्षा की हिंदी विशिष्ट (नवनीत) में डॉ. भारती और मेरी कविता पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाती है।

32, इन्दिरा नगर,
रतलाम-457001 (म.प्र.)
फोन-07412-260221

इतिहास के आइने में देश-विदेश की रामलीलाएँ

- राजेन्द्र सिंह गहलौत

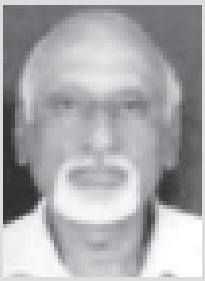

शिक्षा - एम.ए., एल.एल.बी.।
रचनाएँ - चार पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - भारती साहित्य परिषद मानपुर द्वारा ''ज्ञान भारती शिखर सम्मान'' से सम्मान।

देश के महानगरों, नगरों, कस्बों एवं ग्रामों में ही नहीं विदेशों में भी कई स्थलों पर रामलीला का मंचन एवं प्रदर्शन किया जाता है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि रामलीला का सर्वप्रथम प्रदर्शन कहाँ हुआ तथा किस रूप में हुआ? देश के विभिन्न स्थलों पर किन स्वरूपों में रामलीला प्रदर्शित एवं मंचित की जाती है आदि? जब इस दिशा में हम अन्वेषण करते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान कुछ किंवदंतियों की तरफ जाता है। ऐसी ही एक किंवदंती है कि त्रेता युग में भगवान रामचन्द्र जी जब 14 वर्षों के लिये वनवास प्रस्थान कर गए तो अयोध्यावासी उनकी स्मृति में उनकी बाल लीलाओं का नगरों एवं ग्रामों में मंचन एवं प्रदर्शन किया करते थे। यदि इस किंवदंती को सही माना जाए तो रामलीला की शुरुआत भगवान रामचन्द्र जी के युग में ही हो गई थी।

यह तो निर्विवाद है कि रामलीला की शुरुआत सर्वप्रथम उत्तर भारत में ही हुई थी। 11वीं शताब्दी से रामलीला प्रदर्शन के साक्ष्य इस संदर्भ में मिलते हैं। प्रारंभ में रामलीला महर्षि वाल्मीकि के महाकाव्य रामायण पर आधारित थी बाद में रामचरित मानस पर आधारित हुई। 16 वीं शताब्दी में संत तुलसीदास के शिष्यों ने उनकी प्रेरणा से अयोध्या एवं काशी के तुलसी घाट पर पहली बार रामलीला का मंचन किया। कहा जाता है कि संत तुलसीदास जी ने जब रामचरित मानस का लेखन कार्य पूर्ण किया तो तत्कालीन काशी नरेश ने रामनगर में रामलीला कराने का संकल्प लिया था। यह भी कहा जाता है कि रामलीला के प्रवर्तक मेघा भगत थे जो कि काशी के कतुआपुर मोहल्ले में स्थित फुटहे हनुमान के निकट निवास करते थे। इन्हें भगवान रामचंद्र ने स्वप्न में आदेश देकर रामलीला करने को कहा जिससे भगवान के चक्षुष दर्शन हो सके। उसी के अनुरूप मेघा भगत ने रामलीला का आयोजन किया। रामलीला का मूलाधार वाल्मीकि रामायण, तुलसीकृत रामचरित मानस एवं राधेश्याम कथावाचक द्वारा प्रस्तुत रामायण हैं।

देश के दक्षिणी भाग के कुछ प्रांतों को छोड़ कर लगभग हर प्रांत में रामलीला विभिन्न स्वरूपों में मंचित एवं प्रदर्शित की जाती है। मुख्यत: जिन स्वरूपों में विभिन्न रामलीला प्रदर्शित होती हैं वे निम्नानुसार हैं-

(1) खुले मैदान में हर दिन अलग-अलग स्थलों पर आयोजित रामलीला (रामनगर की रामलीला)
(2) एक ही स्थान पर मंचित रामलीला (दिल्ली एवं अन्य स्थलों की रामलीला)
(3) देश के विभिन्न स्थलों पर घूम-घूम कर मंचित की जाने वाली रामलीला (मथुरा, वृंदावन, खजूरीताल आदि की रामलीला मंडलियाँ)
(4) मुखौटा लगा कर प्रदर्शित रामलीला (हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखंड की रामलीला)
(5) मूक अभिनय वाली रामलीला (झुंझुनू बिसाऊ एवं प्रयागराज की रामलीला)
(6) लोक बैले एवं आपेरा को समाहित किये रामलीला (हिमाचल प्रदेश की रामलीला)
(7) प्रांतीय बोली में संवाद प्रस्तुत करने वाली रामलीला (छत्तीसगढ़ एवं महाराष्ट्र की रामलीला)
(8) बाल कलाकारों द्वारा प्रस्तुत रामलीला (हिमाचल प्रदेश के कलोहा ग्राम की रामलीला)
(9) बालिकाओं एवं स्त्री पात्र (सभी पात्र) द्वारा प्रस्तुत रामलीला (बलोदा बाजार छ. ग. की रामलीला)
(10) दिन में होने वाली हल्द्वानी की रामलीला

उपरोक्त प्रकार की रामलीलाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये आइये एक नजर विभिन्न प्रांतों की रामलीलाओं पर डाली जाए-

(1) उत्तर प्रदेश की राम लीला-उत्तर प्रदेश में काशी-प्रयागराज,

अयोध्या, कानपुर, लखनऊ, मथुरा, आगरा, चित्रकूट, चुनार, बरेली आदि स्थलों में आयोजित होने वाली रामलीलाओं का रामलीला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशेष तौर पर रामनगर (काशी) की रामलीला पूरे देश में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में सबसे अधिक चर्चित रामलीला है। महीने भर चलने वाली रामनगर की रामलीला सर्वप्रथम सन 1806 में तत्कालीन काशी नरेश महाराज उदित नारायण सिंह द्वारा प्रारंभ की गई थी। उस समय बनारस में लाइट, माइक या किसी भी तरह के इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रयोग नहीं होता है। पात्र चिल्ला कर अपना संवाद कहते है तथा हर दिन रामलीला प्रदर्शन का स्थान बदलता रहता हैं। कुल 10 किलोमीटर की परिधि में यह रामलीला 16 स्थलों पर प्रदर्शित होती है। देश-विदेश के हजारों दर्शक इसे देखने आते हैं। रामनगर की यह रामलीला काशी की पाँचवीं सबसे पुरानी रामलीला है। रामनगर के अलावा भी काशी के कई स्थलों पर रामलीला आयोजित की जाती है।

अयोध्या शोध संस्थान द्वारा उ. प्र., म. प्र. एवं बिहार की 63 रामलीला समितियों का ज़िक्र किया गया है जिसमें से लगभग 30 रामलीला समितियाँ अयोध्या में ही स्थित हैं। ये समितियाँ अयोध्या तथा पूरे देश के विभिन्न स्थलों में घूम-घूम कर रामलीला मंचित एवं प्रदर्शित करती हैं। इस वर्ष अयोध्या की सबसे प्रसिद्ध रामलीला समिति ने अपनी रामलीला में फिल्मी कलाकारों के अभिनय करने की घोषणा की है। जबकि प्रयागराज की कई रामलीला समितियों में से कटरा रामलीला समिति ने भगवान रामचंद्र की बहन देवी शांता का नया एपीसोड रामलीला मंचन में जोड़ा है। रामचंद्र की दो बहनें कुकवी एवं शांता देवी थीं। शांता देवी रानी कौशल्या की पुत्री थी तथा कुल्लू में उनका मंदिर भी स्थित है। ऐसी जानकारी उक्त रामलीला समिति ने दी। प्रयागराज की एक रामलीला समिति में मूक अभिनय भी होता है।

कानपुर देहात के अकबरपुर में 151 वर्ष पुरानी रामलीला समिति है जिसमें रामचरित मानस की सभी चौपाई पढ़ी जाती हैं तथा अयोध्यापुरी, जनकपुरी और लंका सहित अलग-अलग स्थलों पर प्रसंगानुसार रामलीला प्रदर्शित की जाती है। कानपुर के परेड ग्राउंड में 1877 से रामलीला प्रारंभ हुई थी तथा अंग्रेज भी उसे देखने को लालायित रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि उसके पात्र असली सोने के आभूषण पहनते थे, वह परंपरा आज भी कायम है। जबकि बरेली में सन् 1624 में आज से 455 वर्ष पूर्व लखना स्टेट के राजा बसंत राव त्रिपाठी ने अपनी पत्नी की स्मृति में 'महारानी लक्ष्मीबाई रामलीला समिति' की शुरुआत की थी। यहाँ रामलीला कथावाचक राधेश्याम की रामायण पर आधारित होती है।

लखनऊ में कई स्थानों पर रामलीला प्रदर्शित की जाती है। जिनमें से निम्न रामलीलाओं का ऐतिहासिक महत्व है।

(1) ऐशबाग की रामलीला-ऐसी जनश्रुति है कि 16 वीं शताब्दी में ऐशबाग में गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला की शुरुआत की थी। 1860 में नए रूप में ऐशबाग रामलीला समिति का गठन हुआ। पहले यहाँ रामलीला तालाबनुमा मैदान (स्टेडियम माडल) में होती थी तथा दर्शक ऊपर तट पर बैठते थे। अब यहाँ आधुनिक तकनीक से रामलीला मंचित की जाती है।

(2) खजुआ की बाल रामलीला 1945 में स्थापित की गई।
(3) पाकिस्तान से आये हिन्दू शरणार्थियों द्वारा आलमबाग के वेजीटेबल ग्राउंड में 1951 में रामलीला प्रारंभ की गई।
(4) सदर की लाला गुरुचरण लाल रौनियर वैश्य रामलीला सन 1824 में शुरू की गई।
(5) लोहिया पार्क की पब्लिक रामलीला सन् 1935 से मंचित की जा रही हैं।
(6) चिनहट की रामलीला विगत 88 वर्षों से मंचित की जा रही है।
(7) जनता रामलीला खदरा 58 वर्षों से प्रदर्शित की जा रही है।
(8) पर्वतीय समाज द्वारा स्थापित महानगर रामलीला सन 1965 से प्रारंभ है।
(9) श्री शिशु बाल रामलीला समिति 53 वर्षों से मंचित।
(10) राजा जी पुरम की रामलीला विगत 36 वर्षों से मंचित की जा रही है।

(2) **उत्तराखंड की रामलीला**-उत्तराखंड के कई नगरों में रामलीला मंचित की जाती है लेकिन हल्द्वानी की अपनी अलग ही विशेषता है। वहाँ खुले मैदान में रामलीला आयोजित की जाती है तथा दिन में रामलीला होती है। डॉ. शिवप्रसाद नैथानी के अनुसार उत्तराखंड को लक्ष्मण के पुत्रों को राज्य के रूप में दिया गया था। तब से यानी विगत 2000 वर्षों से उत्तराखंड में श्रीराम, लक्ष्मण, सीता एवं की पूजा हनुमान जी की परंपरा है। दान्या के बद्रीदत्त जोशी सदर अमीन ने सन् 1860 में अल्मोड़ा के बद्रेश्वर मैदान में पहली बार रामलीला आयोजित की थी तथा दुर्गा साह के प्रयत्नों से सन् 1897 से नैनीताल में पहली बार रामलीला आयोजित की गई। सन् 1902 में गंगाराम पुनेठा द्वारा पिथौरागढ़ में रामलीला मंचन की शुरुआत की गई। सन 1931 में जानकीनाथ जोशी द्वारा शिमला में रामलीला की शुरुआत की गई। नृत्य सम्राट उदयशंकर ने 1941 में कुमाऊँ की रामलीला

में छायाभिनय किया था। कुमाऊँ की रामलीला के विकास में पं. रामदत्त जोशी, बद्रीदत्त जोशी, कुंदनलाल शाह आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उत्तराखंड की प्राचीन रामलीलाओं में गढ़वाली टिहरी, देवप्रयाग, पौड़ी, सुभागी, देहरादून, श्रीनगर आदि की रामलीलाओं का नाम लिया जा सकता है। पौड़ी (मांडई ग्राम) में 1890, सुभागी में 1919, श्रीनगर में 1896 में तथा चमोली में 1918 में रामलीला मंचन की शुरुआत हुई चमौली में मुखौटे लगा कर रामलीला की जाती है।

(3) दिल्ली की रामलीला–औरंगजेब ने अपने शासनकाल में रामलीला के मंचन पर रोक लगा दी थी। 1707 ई. में औरंगजेब की मौत हो गई। उसके बाद 1719 ई. में मुहम्मद शाह रंगीला दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उस समय तक शाही खजाना खाली हो चुका था। बादशाह रंगीला ने लाला सीताराम से खजाने के लिए कर्ज के रूप में मदद माँगी। लाला सीताराम ने देने के बदले सीताराम बाजार स्थित अपनी हवेली में रामलीला आयोजन की अनुमति माँगी। उसके बाद कई वर्षों तक सीताराम बाजार में रामलीला होती। 18 वीं शताब्दी में शाह आलम द्वितीय की सेना में शामिल हिन्दू सैनिकों ने रामलीला आयोजन की अनुमति माँग ली तथा उसके बाद लाल किला के पीछे यमुना नदी के किनारे रामलीला होती रही। कुछ व्यवधान के बावजूद आज भी रामलीला का आयोजन लाल किले के पास होता है।

बहादुर शाह ज़फ़र के शासन काल (1837–57) में पुरानी दिल्ली में रामलीला की शुरुआत हुई तथा सन् 1920 में रामलीला मैदान बनाया गया जहाँ वर्तमान में रामलीला होती है। दिल्ली में लगभग 50 रामलीला समितियाँ हैं जिनमें से रामलीला कमेटी, अशोक विहार रामलीला कमेटी एवं रघुनंदन रामलीला कमेटी सबसे पुरानी कमेटियाँ हैं। इसके अतिरिक्त राम भारतीय दिलशाद गार्डन रामलीला, दिल्ली छावनी की रामलीला समिति, मयूर यूथ क्लब मयूर विहार रामलीला, सूरजमल विहार रामलीला भी चर्चित रामलीला समिति है।

(4) राजस्थान की रामलीला–राजस्थान की राजधानी जयपुर में सवाई जयसिंह द्वितीय के समय से रामलीला प्रारंभ हुई थी। आदर्शनगर श्री राम मंदिर के प्रांगण में रामलीला का मंचन प्रारंभ हुआ था। देश विभाजन के पहले गुजरांवाला में रामलीला का मंचन होता था। गुजरांवाला के पाकिस्तान स्नातन में जाने के बाद जयपुर के न्यू गेट प्रदर्शनी मैदान में रामलीला शुरू हुई। बाद में उसका नाम रामलीला मैदान पड़ गया। जयपुर के अलावा सूरतगढ़ कस्बे में रामलीला आयोजित होती है जिसकी विशेषता है। कि वहाँ सभी पात्र राजस्थानी वेशभूषा धारण करते हैं तथा संवाद भी राजस्थानी भाषा में बोले जाते हैं। जबकि झुंझुनू जिला की बिसाऊँ रामलीला में मूक अभिनय होता है तथा खुले मैदान में रामलीला का प्रर्दशन होता है। विदूषक के अलावा सभी पात्र मुखौटा लगाते हैं। मुस्लिम समुदाय के ढोल नगाड़ों की धुन पर रामलीला होती है। इसकी शुरुआत रामाणा जोहण से हुई फिर इसका प्रदर्शन गुगोजी टीले से होने लगा। बाद में स्टेशन रोड पर हुआ। 180 साल पहले जमना नाम की एक सांध्वी द्वारा बिसाऊ के रामणा जोहण में इस लीला की शुरुआत किया जाना बताया जाता है। यह भी खास बात है कि इस लीला का रावण दशहरे के दिन न मर कर चतुर्दशी के दिन मरता है।

(5) मध्यप्रदेश में रामलीला–मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न स्वरूपों में लंबे अरसे से रामलीलाएँ मंचित एवं प्रदर्शित की जा रही हैं जिनमें से कुछ निम्नानुसार है–

छतरपुर जिले के बागेश्वर धाम के नुमाइश खेत मैदान में दीप जला कर रामलीला प्रारंभ की जाती है।। इस रामलीला की शुरुआत सन 1880 से हुई थी लेकिन मंचन 1890 से किया जाने लगा। बागेश्वर धाम के अतिरिक्त गरुण और भराड़ी में भी रामलीला मंचित की जाती है। जबकि राजा राम की नगरी ओरछा के कंचन घाट पर 6 अक्टूबर से 15 अक्टूबर तक रामलीला मंचित होती है। प्रदेश की प्रसिद्ध रामलीला अमरपाटन के खजूरीताल की आदर्श रामलीला मंडली है। जिसका शुभारंभ 1953 में महन्त रामभूषण दास जी ने किया था तथा 70 के दशक में तत्कालीन प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी ने इसे 'बेहतर रामलीला मंचन का पुरस्कार दिया था । खजूरीताल की रामलीला मंडली पूरे प्रदेश में एवं देश के कई स्थलों पर घूम–घूम कर रामलीला मंचित करती है। लगभग 70 वर्ष के अपने मंचीय इतिहास में सिर्फ 5 बार अपने मूल स्थान खजूरीताल (अमरपाटन) में रामलीला मंचित की गई शेष पूरी अवधि में मंडली ने प्रदेश एवं देश के विभिन्न स्थलों पर रामलीला का मंचन किया।

सतना जिला में रामलीला मंचन का 122 वर्षों का इतिहास है। सर्वप्रथम 1897 में सतना शहर के बिहारी चौक में रामलीला मंचित की गई थी। पूरे जिले में लगभग 100 रामलीला समितियाँ सक्रिय हैं। सतना एवं खजूरीताल की रामलीला मंडलियों में बिहारी रामलीला मंडली सतना, आदर्श रामलीला मंडली खजूरीताल तथा डाली बाबा रामलीला मंडली सबसे खास है। जबकि पश्चिमी निमाड़ की अक्षय रामलीला मंडली श्री दामा जी

की प्रेरणा से 26 जनवरी 1972 से प्रारंभ की गई। यह रामलीला नांदरा ग्राम में नदी के तट पर फरवरी माह में निमाड़ी लोकधुन पर मंचित की जाती है।

जबलपुर की श्री गोविन्द जी रामलीला समिति 158 वर्ष पूर्व सन 1865 में बनारस की रामलीला से प्रभावित हो कर शुरू की गई थी। मिलौनी गंज के डल्लन महाराज ने रामलीला का प्रारंभ किया तथा रज्जू महाराज ने सहयोग दिया। पहली बार छोटा फुहारा के कटरा वाले हनुमान मंदिर के सामने मंचन किया गया था। जबकि विदिशा की रामलीला 115 वर्षों से प्रदर्शित की जा रही है अब वह इंटरनेट के माध्यम से देश-विदेश में देखी जा रही है तथा झाँसी में सन 1925 से सदर बाजार में रामलीला मंचित की जाती हैं इसकी खासियत यह है कि इसमें पर्दे के पीछे से संवाद कहे जाते हैं तथा पात्र उसी के अनुरूप हाव-भाव प्रकट करते हैं। भोपाल में इस वर्ष कठपुतलियों के माध्यम से रामलीला प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

विंध्य क्षेत्र के रीवा नगर के नृत्य राघव मंदिर में 181 वर्षों से रामलीला मंचन किया जा रहा है। काशी की रामलीला से प्रभावित हो कर रीवा रियासत के तत्तकालीन महाराजा रघुराज सिंह ने सन् 1840 में रामलीला मंचन की शुरुआत की थी। पहले यह रामलीला एक माह चलती थी। अब 9 दिन ही मंचित की जाती है। रीवा एवं सतना जिला में लगभग 200 से अधिक रामलीला मंडलियाँ पूरे प्रदेश में रामलीला मंचित करती हुई घूमती रहती हैं। जबकि शहडोल संभाग के उमरिया नगर में 1901 में रीवा महाराजा व्यंकटरमण सिंह जी ने रामलीला की शुरुआत की थी तथा लाल हरवंश सिंह को मंदिर के पास मशाल की रौशनी में रामलीला होना प्रारंभ हुई। काफी बाद में इलेक्ट्रिक की रौशनी में रामलीला मंचित की जाने लगी। सरसवाही के लाल रणदमन सिंह की रामलीला काफी मशहूर हुई तथा दूर -दूर तक प्रदर्शन करने के लिए जाती थी। खलेशर रामलीला मंडली का नाम परिवर्तन सन 1983 में महाराजा मार्तण्ड सिंह जी के आगमन पर हुआ तथा उसका नाम परिवर्तित कर 'श्री रघुराज मानस कला मंदिर' रख दिया गया। यहाँ की रामलीला का इतिहास लगभग 122 वर्ष पुराना है।

(6) छत्तीसगढ़ की रामलीला-छत्तीसगढ़ में अपनी आंचलिक संस्कृति के अनुरूप रामलीला मंचित की जाती है। बलौदा बाजार के ग्राम गड़बेड़ा में सन् 1920 से रामलीला मंचित की जा रही है जिसके सभी पात्र छोटे बच्चे-बच्चियाँ होते हैं तथा संवाद छत्तीसगढ़ी बोली में कहे जाते हैं। इसी भाँति दुर्ग जिला के पुरदा नाँव गाँव में मंचित रामलीला के सभी पात्र 10 से 12 वर्ष की बच्चियाँ होती हैं तथा संवाद छत्तीसगढ़ी में बोले जाते हैं। जबकि ग्राम टेकापारा में 35 लड़कियों द्वारा रामलीला का मंचन किया जाता है तथा ग्राम दलदल सिवनी में विगत 86 वर्षों से 4 दिवसीय रामलीला का मंचन किया जा रहा है। यहाँ मंचित की जा रही रामलीला का मूलाधार रामचरित मानस, वाल्मीकि रामायण, आर्य संगीत रामायण तथा हिन्दी अनुवाद रामायण हैं।

(7) महाराष्ट्र की रामलीला महाराष्ट्र में वाल्मीकि रामायण के आधार पर 8 से 10 दिनों की रामलीला प्रदर्शित की जाती है। रामलीला खुले मैदान में प्रर्दशित होती है तथा अधिकांश रामलीलाओं के संवाद मराठी भाषा में होते हैं। मुंबई (ठाड़े) में रामलीला का मंचन सन 1964 से किया जा रहा है। गिरगाँव, चौपाटी, ठाड़े, नवी मुंबई सहित लगभग 40 स्थानों में रामलीला मंचित की जाती है। 1958-59 में क्रास मैदान में मटरूमल बजौरिया के प्रयास से पहली बार रामलीला आयोजित की गई थी। कुछ प्रमुख रामलीला समितियों में से महाराष्ट्र रामलीला समिति मलाड, अखिल भारतीय मानस समिति शहाड, आजाद कलानिकेतन खांडे, नवी मुंबई रामलीला समिति वाशी, आदर्श रामलीला समिति कल्याण, रामलीला महोत्सव घाटकोपर, महाराष्ट्र रामलीला मंडल आजाद चौक आदि का नाम लिया जा सकता है।

(8) बिहार की रामलीला-बक्सर शहर में विगत 107 वर्षों से रामलीला हो रही है। बक्सर वह स्थल है जहाँ भगवान राम ने ताड़का का वध किया था। यहीं पर अहिल्या का उद्धार भी किया गया था। यहाँ 22 दिनों की रामलीला होती है। दशहरा महोत्सव में दिन को रासलीला तथा रात को रामलीला होती है। सन 1915 में नया चौक स्थित श्री चंद मंदिर में पहली बार रामलीला हुई थी। हर वर्ष अश्वनी कृष्णपक्ष अष्टमी तिथि की रात में रामलीला की शुरुआत होती है तथा दशहरा के तीसरे दिन भरत मिलाप तथा राम के राज्याभिषेक के साथ सम्पन्न होती है। 1989 में किला मैदान में रामलीला की जाने लगी। दशहरा मेले वाली रामलीला के अलावा बक्सर में श्री सीताराम विवाह महोत्सव आश्रम की ओर से भी रामलीला का आयोजन किया जाता है। इस रामलीला का भी 50 वर्षों का इतिहास है।

आरा में रामलीला मंचन की 400 साल पुरानी परंपरा है जो नागरी प्रचारिणी सभागार से जुड़ी है। नवरात्र के एक दिन पूर्व जगदीश बाबू की गद्दी से लक्ष्मी व विष्णु की झाँकी निकाली जाती है जो रामलीला मैदान में समाप्त होती है तथा ध्वजारोहण के बाद रामलीला प्रारंभ करने की घोषणा होती है। भागलपुर में

नाथनगर की प्रसिद्ध रामलीला मंचित की जाती है तथा पटना के गाँधी मैदान में ऐतिहासिक रामलीला आयोजित की जाती है।

(9) हिमांचल प्रदेश की रामलीला–हिमांचल प्रदेश में रामलीला अभिनेताओं की अपनी रामलीला मंडली है जिसके माध्यम से वे 14 वर्षों तक लगातार रामलीला मंचन करते हैं। रामलीला में हास्य के प्रसंग एवं लोकगीतों को भी जोड़ा जाता है। कुछ क्षेत्रों में लोक बैले एवं आपेरा का भी प्रदर्शन होता है। इन्हें सील रावल तथा बूरा कहते हैं। भासवा प्रागपुर के तहत कलोहा ग्राम में बाल रामलीला का आयोजन किया जाता है जबकि बैजनाथ के शिव मंदिर जहाँ रावण ने शिव लिंग की स्थापना की थी। वहाँ रामलीला मंचन एवं रावण वध नहीं होता।

(10) पंजाब की रामलीला–लुधियाना में सदियों से रामलीला मंचित की जाती है। जबकि विगत 200 वर्षों से दशहरा के 11 दिन पहले से रोजाना प्रभु राम का डोला निकलता है। गाँव सनेत के कहार बिरादरी के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी यह परंपरा निभा रहे हैं। यहाँ रामलीला–स्थानीय कलाकारों द्वारा भी मंचित की जाती है तथा बाहर से भी मंडलियाँ आमंत्रित की जाती हैं।

(11) ओड़िशा की रामलीला–ओड़िशा में कुछ जगह खुले पंडाल में रामलीला होती है तो कहीं–कहीं पर मुखौटे लगा कर भी रामलीला प्रस्तुत करते हैं। राजपुर और नरसिंहपुर ग्राम के ग्रामीणों में रामलीला के प्रति काफी उत्साह रहता है। ओड़िआ रामायण की रामलीला लंका पोड़ी, पडिया कुसुमी, खालि अपाली तथा दास पल्ला में 12 से 17 दिनों तक मंचित की जाती है।

(12) हरियाणा की रामलीला–नरवाना में लगभग 70 वर्षों से भारतीय कला केंद्र के तत्वाधान में हुंडा ग्राउंड में रामलीला मंचित की जाती है जबकि जवाहर नगर कैम्प की रामलीला का 100 वर्षों का इतिहास है। कैथल में गणेश ड्रामेटिक क्लब के सदस्य रक्षासूत्र बाँध कर रामलीला की शुरुआत करते हैं तथा जब तक रामलीला पूर्ण नहीं हो जाती घर नहीं जाते। लगभग 80 वर्षों से कुरुक्षेत्र गौशाला परिसर में राधा–कृष्ण शिवगंगा ड्रामेटिक क्लब द्वारा रामलीला का मंचन किया जाता है तथा हिसार में रामलीला कमेटी कटरा द्वारा रामलीला का मंचन किया जाता है। जींद जिला में सैनी रामलीला सन 1984 से तथा गुरुग्राम में 1916 से प्रारंभ की गई।

(13) जम्मू–कश्मीर की रामलीला–जम्मू के कठुआ जिले के–बसोहली में 110 वर्षों से रामलीला प्रदर्शित की जा रही है। 11 अक्टूबर 1912 में रामलीला का यहाँ शुभारंभ किया गया था। यह रामलीला खुले मैदान में होती है तथा खुले मैदान में महल आदि के सेट बनाये जाते हैं। इसी भाँति जम्मू–कश्मीर की नियंत्रण रेखा के नजदीक पूंछ में भी रामलीला का आयोजन किया जाता है। जबकि 'जम्मू दीवान मंदिर' के सनातन धर्म नाटक मंडली द्वारा मंचित रामलीला ने फिल्म जगत को कई नामी कलाकार दिये हैं उनमें से के. एल. सहगल चरित्र अभिनेता, हास्य एवं चरित्र अभिनेता ओमप्रकाश तथा चरित्र अभिनेता जीवन का नाम लिया जा सकता है। के. एल. सहगल ने रामलीला में सीता की भूमिका निभाई थी। जम्मू में रंगमंच को बढ़ावा देने में महाराजा रणजीत सिंह का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1860 में उनके शासन काल में रामलीला की शुरुआत हुई थी। रियासी की रामलीला में विश्वामित्र का किरदार निभाने हर वर्ष अतुल केशर स्पेन से अपनी नौकरी से अवकाश लेकर आते हैं। वे वहाँ साफ्टवेयर इंजीनियर हैं।

(14) असम एवं तामिलनाडु में रामलीला–असमिया भाषा में माधव कंदील सहित अनेकानेक रामायण लिखी गई हैं। सब का आधार वाल्मीकि रामायण है। सीता पाताल प्रवेश, अहिरावण वध, रामविजय नाटकों में भी रामकथा को पिरोया गया है। आंकिया नाट्य एकांकी नाटक शैली का प्रचलन असम में है। इसमें रंगे मुखौटे एवं गायन का विशेष महत्व होता है। इन्हीं के आधार पर मंचित रामलीला में जहाँ संस्कृत श्लोकों का प्रयोग होता है, वहीं संवादों में ब्रज बोली एवं असमिया भाषा भी प्रयुक्त होती हैं। जबकि तमिल भाषा में कम्ब रामायण लिखी गई है।

लेकिन तामिलनाडु में कहीं भी रामलीला मंचित किये जाने की कोई भी जानकारी नहीं मिलती है। पश्चिमी बंगाल में बहुतायत में उत्तर भारत के लोग नौकरी एवं व्यवसाय करते हैं तथा वे नवरात्र के कुछ पहले से दीपावली तक उत्तर प्रदेश की रामलीला मंडलियों को बुला कर रामलीला का आयोजन करते हैं। लेकिन मुख्यत: नवरात्र से लेकर दीपावली तक देवी पूजन की ही धूम पूरे पश्चिमी बंगाल में रहती है। इसी भाँति गुजरात में रामलीलाएँ आयोजित होती हैं लेकिन नवरात्र पर वहाँ गरबा की ही धूम रहती है। जबकि कर्नाटक में धूम–धाम से दशहरा उत्सव मनाया जाता है। विशेष तौर पर मैसूर का दशहरा विश्व प्रसिद्ध है लेकिन छुटपुट रामलीला आयोजनों के अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक रामलीला आयोजन की जानकारी नहीं मिलती। इसी भाँति आंध्र प्रदेश में भी कहीं कहीं पर रामलीलाओं का आयोजन किया जाता है।

देश के हिन्दी भाषी प्रांतों के कस्बों एवं ग्रामों में रामलीला मंचन का विशेष महत्त्व था। राम विवाह में श्री राम सीता के पाँव पूजन हेतु भीड़ उमड़ पड़ती थी। ग्रामवासी दिल खोल कर करते थे

तो वहीं रावण के दरबार में नचनियों पर भी पैसे लुटाने में वे पीछे हटते थे। पर अब ग्रामों में भी मनोरंजन के प्रमुख साधन दूरदर्शन एवं मोबाइल हो गए हैं। धार्मिक आस्था में भी कमी आई है। हालत यह है कि रामलीला समितियों को रामलीला मंचन के दौरान अपना खर्चा निकालना भी दूभर हो जाता है। भले ही देश की ऐतिहासिक रामलीला समितियाँ अपना अस्तित्व बनाए रखें पर ताज्जुब नहीं यदि कुछ वर्षों में गाँव कस्बों में आयोजित होने वाली रामलीला अतीत की बात बन कर रह जाते। विदेशों में रामलीला के स्वरूप पर एक नजर–रामलीला का आयोजन सिर्फ अपने देश भारत वर्ष के विभिन्न प्रांतों में नहीं होता अपितु विदेशों के कई देशों में भी विभिन्न स्वरूपों में रामलीलाएँ आयोजित एवं प्रदर्शित की जाती हैं। विदेशों में जिन देशों में रामलीला आयोजित की जाती है उनमें से प्रमुखत: जावा, बाली, श्रीलंका, नेपाल, थाईलैंड, लाओस, फिजी, दक्षिणी अफ्रीका, सूरीनाम, मॉरी, म्यांमार, कंबोडिया, इंडोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, वर्मा, जापान, चीन, कैरीबियाई आदि का नाम लिया जा सकता है।

जावा, वर्मा एवं थाई की रामलीला–जावा के सम्राट वलितुंग के एक शिला लेख जो कि 907 ई. में लिखा गया था, में एक समारोह का वर्णन मिलता है जिसमें सिजालुक के नृत्य और गीत के साथ रामायण का मनोरंजक प्रदर्शन किया गया था। थाई नरेश बोरम (ब्रह्मत्रयी) की राजभवन नियमावली में रामलीला का उल्लेख मिलता है जिसकी तिथि 1458 ई. की है। वर्मा के राजा ने 1767 ई. में श्याम (थाईलैंड) पर आक्रमण किया तथा श्याम पराजित हुआ था। विजेता वर्मा के सम्राट, थाईलैंड के रामलीला कलाकारों को भी अपने साथ वर्मा ले गये तथा वर्मा के राजभवन में रामलीला का प्रदर्शन होने लगा माइकल साइमंस ने वर्मा के राजभवन में 1794 ई. में जो राम नाटक देखा था, उसे दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (क) मुखौटा रामलीला (ख) छाया रामलीला।

(क) मुखौटा रामलीला–मुखौटा को थाईलैंड में 'खौन' कहते हैं। इसमें गीत और संवाद का प्रसारण पर्दे के पीछे से होता है तथा पात्र उसी पर भावाभिव्यक्ति करते हैं। केवल विदूषक अपना संवाद बोलते हैं। इंडोनेशिया, मलेशिया के 'लाखोन', कंपूचिया के 'ल्खोनहोल' तथा वर्मा के 'यामाप्वे' का इनमें प्रमुख स्थान है।

(ख) छाया रामलीला–छाया रामलीला में जावा तथा मलेशिया के 'वेयांग' तथा थाईलैंड के 'नंग' का विशेष स्थान है। 'वेयांग का अर्थ छाया नृत्य होता है। इसमें चमड़े की पुतलियों को सफेद पर्दे के सामने इस कदर नचाया जाता है कि उनकी छाया पर्दे पर पड़े।' जबकि नंग के दो रूप होते हैं–(1) नंगाई (2) नंगलुग। 'नंग' का अर्थ चमड़ा होता है चमड़े की पुतलियों को 2 मीटर लंबे डंडे में बाँध कर पर्दे के पीछे से नचाया जाता है। जबकि 'नंगतुलुंग' में पुतलियाँ छोटी होती हैं। वेयांग प्रस्तुत करने वाले को 'दालांग' कहते हैं तथा वे संगीत की धुन पर पुतलियों को नचाते हैं। जावा में पंबनाम मंदिर में सेन्द्रातारी रामायण लगभग साल भर चलती है तथा रामकथा पर आधारित बैले डांस जो कि एक नृत्य नाटिका है में 800 तक कलाकार प्रदर्शन करते हैं।

लाओस की रामलीला–लाओस की रामलीला का कुछ भाग वाल्मीकि रामायण पर आधारित होता है। राम को फरालाख फरोक्रराम कहते हैं लेकिन रामकथा का अधिकांश भाग बुद्ध पर केन्द्रित होता है।

सूरीनाम की रामलीला–सूरीनाम की रामलीला में राम को राम त्जांडे तथा सीता को सियेता कहते हैं। यह रामलीला हिन्दी तथा डच के मिश्रण से प्रस्तुत होती है।

कंबोडिया की रामलीला–कंबोडिया में हिन्दू खमेर का 600 वर्षों तक साम्राज्य रहा। वहाँ रामलीला मंचन की परंपरा काफी पुरानी है। वहाँ राम को प्रिय रीम, सीता को नेयांग सेड़ा तथा लक्ष्मण को प्रीत लीक कहा जाता है।

जापान एवं चीन की रामलीला– जापान के हो त्सुशु ग्रंथ में संक्षिप्त रामकथा संकलित है। इसकी रचना वैरानो मासुयोरी ने 12 वीं शताब्दी में की थी। कथा का श्रोत चीनी भाषा के छ: परमिता सूत्र से माना जाता है। इन्हीं के आधार पर रामलीला मंचित की जाती है।

म्यामार की रामलीला–म्यामार की रामलीला में मुखौटों का इस्तेमाल होता है। रामलीला को भामप्वे कहा जाता है। इसमें विदूषक की मुख्य भूमिका रहती है।

इंडोनेशिया की रामलीला– इंडोनेशिया वासियों का धर्म इस्लाम है लेकिन उनकी संस्कृति रामायण है। वे 9 वीं शताब्दी में लिखी जैवनिस वर्जन ऑफ रामायण को मानते हैं तथा उसी के आधार पर रामलीला मंचित होती है।

इस भाँति रामकथा एवं रामायण ही नहीं अलग–अलग स्वरूपों में रामलीला भी सिर्फ भारत वर्ष ही नहीं विदेशों में भी विभिन्न स्थलों पर आयोजित की जाती है। यह रामकथा की व्यापकता एवं लोकप्रियता का परिचायक है।

बुढ़ार जिला, शहडोल
484110 (म.प्र.)
मो.–9329562110

लोककला के समक्ष वर्तमान चुनौतियाँ

– आद्याप्रसाद द्विवेदी

जन्म – 26 दिसंबर 1941।
शिक्षा – एम.ए., साहित्य रत्न. पीएच.डी।
रचनाएँ – तीन पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – विशिष्ट हिंदी सेवी सम्मान सहित अन्य सम्मान।

लोककला उतनी ही प्राचीन है, जितनी पुरानी मानव सभ्यता है, अत्यंत प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने हृदय की भावनाओं को रंग और रेखा का आकार देकर उसे साकार करने का प्रयास करता रहा है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों को देखकर इस देश के आदिम निवासियों की गृह निर्माण तथा मूर्ति निर्माण कला का परिचय प्राप्त होता है। अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं के भित्ति चित्र उन कुशल कलाकारों की कला का दिग्दर्शन कराते हैं। जिन्होंने अपनी तूलिका के द्वारा निष्प्राण चित्रों में जान डाल दी है, एलोरा की गुफाओं चतुर शिल्पकारों ने अपनी छैनी–हथौड़ी के द्वारा पाषाणमयी मूर्तियों को जीवन्त बना दिया है।

इस देश के निवासियों का जीवन सदा से कलाप्रिय रहा है। हमारी प्राचीन ललित कलाएँ तो गौरव–शालिनी हैं ही, परन्तु इनके साथ–ही–साथ आज जनजीवन में उपलब्ध लोककलाओं का भी कुछ कम महत्व नहीं है। लोककला के अंतर्गत सम्पूर्ण सृष्टि में बिखरी पड़ी वस्तुओं को सम्मिलित किया जा सकता है, जो कलायुक्त है। पत्थर तराशने की कला, काष्ठकला, मूर्ति गढ़ने की कला, हाथ या चाक से मिट्टी के पात्र या खिलौने बनाने की कला, भित्ति चित्र यथा अल्पना, रंगोली आदि, शरीर को आकर्षक ढंग से सजाने के लिये मेहंदी लगाने की कला, सींक और बाँस से अनेक प्रकार के पात्रों को बनाने की कला, आदि तमाम चीजें लोककलाओं के ही विविध रूप हैं। इन सब कलाओं को एकत्र किया जाना लगभग दुरूह कार्य है, तब भी पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में ये कलायें कहीं विलुप्त न हो जाएँ, इसके लिये सांस्कृतिक केन्द्रों, अकादमियों, स्वैच्छिक संगठनों, विश्वविद्यालयों, रेडियो–दूरदर्शन केन्द्रों तथा समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों को अपनी परम्परा के प्रति अपना नैतिक दायित्व समझकर कुछ करना चाहिए।

लोक कलाओं की विशेषताओं पर अगर दृष्टि डाली जाए तो उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रतीक योजना में दीखती है। इस प्रतीकों में ही लोक कलाकारों की सौन्दर्य दृष्टि अभिव्यंजित होती है। इनके अंदर सिर्फ सौन्दर्य बोध ही नहीं मौलिकता और हुनर का कौशल भी झलकता है। भोजपुरी क्षेत्र में वर–वधू के विवाह के अवसर पर घरों में दीवारों पर जाने वाले कोहबर में इस स्वरूप बखूबी देखा–परखा जा सकता है।

लोक कलाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी समग्र दृष्टि में प्रतिबिम्बित होता है। ये कलाएँ केवल एक व्यक्ति के लिये नहीं अपितु समस्त मानव समाज के लिये होती हैं। लोक कलाओं का लक्ष्य है, मन को आनन्द रस से सराबोर करना। लोककलाओं का मूल उद्देश्य अपने विशिष्टताओं के सौजन्य से सम्पूर्ण जनमानस को आनन्दातिरेक से रसप्लाक्ति कर देना। लोककलाएँ किसी व्यक्ति विशेष की अमानत नहीं होती अपितु जनमामान्य की वस्तु होती है। इनमें सहज भावाभिव्यक्ति होती है तथा इनके द्वारा कुछ सीखने की प्रेरणा भी मिलती है। इस कला को एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देकर पितृ ऋण से मुक्त होती है।

लोककलाएँ हमारे मन के गहराइयों में प्रवेश कर संवेदनाओं

को छूकर उन्हें जगाती हैं। साथ ही ये हमें सामाजिक संदर्भ से जोड़ती है, क्योंकि ये स्वयं उस संदर्भों से उपजी और जुड़ी होती हैं, जबकि शास्त्रीय कलायें एक प्रकार से समाज से कटी दिखती हैं। लोककलाएँ माधुर्य और उल्लास का अक्षय स्रोत हैं। इस कलाओं का सृष्टा इनके द्वारा स्वयं को और अपने आस-पास को समाज को अभिव्यक्ति देता है और इस अभिव्यक्ति से साक्षात्कार करके आनन्द और प्रेरणा प्राप्त करता है। लोककलाएँ लोकमानस के रंगीन सपने हैं सहज भावाभिव्यक्ति के खुले मैदान इनके द्वारा मानव जी भर जीने की दृष्टि और विश्वास पाता है। ये आदिम कलाओं को नई रंगत, नए आयाम और नए विषय देती है, इनके स्पर्श से ही कला जीवंत बनती है।

भारत की विशाल जनसंख्या भले ही साक्षर न हो, परन्तु उसके रक्त में सदा से ही संस्कारों के साथ एक उदात्त संस्कृति रची-बसी रही है। हमारे देश में हस्तकलाओं का आधार सदा से ही लोककलाएँ ही रही हैं जो हमारी संस्कृति की प्रभावी अभिव्यक्ति है। यही कलाएँ ही हमारे यहाँ जीवन का सुदृढ़ आधार रहा है। पाश्चात्य संस्कृति की अंधी भी हमारे देश के लोककला की विरासत को नष्ट नहीं कर सकी है। नगरों में भले हो नई पौध को लोक जीवन के सच्चे संस्कार न मिले हों पर ये हमारा सौभाग्य है कि समाज की उन महिलाओं को हमारे आधुनिकता के दौड़ में अनपढ़ और पिछड़ा मानते हैं, आज भी इस धरोहर को बचा कर रखने का श्रेय प्राप्त है। मधुबनी चित्रकारी जिसे मिथिला की कला भी कहा जाता है, की विशेषता है कि यह चित्रकारी पारम्परिक रूप से इस प्रदेश की महिलाएँ ही करती आ रही हैं। लेकिन आज इसकी बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए पुरुष भी इस कला से जुड़ गए हैं। ये चित्र अपने आदिवासी रूप और चटकीले तथा मटमैले रंगों को प्रयोग के कारण देश में ही नहीं विदेशों तक में लोकप्रिय है। मधुबनी चित्रकारी अनेक परिवारों की आमदनी का एक प्रमुख साधन बन गया है। विश्व में इस कला के चलते बाजार मिथिला की महिलाओं की कुशलता के लिए एक प्रशस्ति है जिन्होंने भित्ति चित्र की अपनी तकनीकियों को कागज पर चित्रकारी के लिए सफल प्रयोग किया।

वर्तमान दौर में लोककलाओं के इस्तेमाल पर अगर दृष्टि डालें तो बड़ी ही दुखद स्थिति दिखाई पड़ती है। लोककलाओं को वर्तमान सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में अब उनके मूल स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन हो रहा है। वर्तमान परिवेश उपयोगिता वादी, दृष्टिकोण के कारण नई पीढ़ी के लोगों में इन सांस्कृतिक तत्वों का सहज हस्तांतरण नहीं हो पा रहा है। और यदि वे सीख भी रहे हैं तो केवल प्रतियोगिताओं में भागीदारी के लिए। लोककलाओं के क्षरण के लिये इससे बड़ा कारण और क्या हो सकता है कि जो कुछ हमारे पूर्वज बोलना और चलना सीखने के दिनों में ही अपने माता-पिता, दादा-दादी, आस-पड़ोस से स्वाभाविक दंग से सीखते आए उन तत्वों को अब पाठ्यक्रम के किसी विषय की तरह प्रशिक्षकों के माध्यम से पड़ रहा है।

मूल प्रश्न है बदलते हुए परिवेश में लोककलाओं के भविष्य का सवाल। आज के शिक्षित युवक-युवतियों में आस्था का घोर अभाव है, जिसमें वह लोककला और लोकसंस्कृति को बेकार चीज मानता है। लोक विश्वासों को वह कल्पित मनगढ़ंत एवं रूढ़िवादी मानता है। बढ़ते विज्ञान के प्रभाव के कारण उसमें कलाओं के प्रति रुचि का अभाव होता जा रहा है जिसके कारण वह लोकगीत और लोककलाओं में कोई रुचि नहीं लेना चाहता, उसमें परम्परागत आदर्शों के प्रति प्रेरणा का भी अभाव है, फलत: वह लोकसंस्कृति से उदासीन होता जा रहा है। जब वह लोक संस्कृति से हटता जा रहा है तो उसे लोक कला से अनुराग क्यों होने लगा? इस प्रकार की सोच वाले वर्ग के लोगों को हमें बताना होगा कि लोककलाएँ हमारे देश की अमूल्य निधि हैं। जो विभिन्न विधाओं के रूप में लाखों गाँवों और बस्तियों में बिखरी हुई हैं। यह अवश्य है इनमें से अनेक लोककलाएँ आज संकट में हैं और इन्हें जीवित रखने वाले परम्परागत कलाकार बेहद अभावग्रस्त जीवन जी रहे हैं। कई कारणों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पैतृक कलाएँ भी नहीं सीख रही है। इस स्थिति में संस्कार तथा स्वैच्छिक संगठन दोनों की बड़ी जिम्मेदारी है कि वे लोककलाओं की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास करें।

हमारे अनेक लोककलाकार दलित और निर्धन परिवारों से हैं। अशिक्षित होने के बावजूद पास बहुत समृद्ध लोककलाएँ हैं। अक्षर ज्ञान हो या न हो, पर ये लोककलाकार घंटों तक गा सकते हैं। कुछ आदिवासी क्षेत्र तो लोककला और चित्रकला, दोनों से समृद्ध हैं।

शहरी क्षेत्रों में भी लोककलाओं की संस्थाएँ देखने मिल जाती हैं। दिल्ली में कठपुतली नगर का विशेष महत्व है, क्योंकि इसमें विविध तरह के लोककलाकार एक ही बस्ती में रहते हैं। ऐसी बस्तियों की विशिष्ट पहचान को बचाए रखते हुए इनके विकास कार्य होने चाहिए, ताकि लोक कलाकारों की रचनात्मकता को उभरने का अवसर मिले तथा नई पीढ़ी भी इसे लेकर प्रोत्साहित हो। हमारे देश में कई संगठन ऐसे हैं जो अपने स्तर पर काफी पहले से लोककलाकारों और कलाओं को रक्षा के लिए सक्रिय हैं। इस संगठनों की सहायता से सरकार को यह कार्य आगे बढ़ाना चाहिए। मगर स्वार्थी सरकारी अनुदान हजम करने के जुगाड़ में लगी स्वार्थी संस्थाओं को पहचानना भी जरूरी है।

लोक कलाकारों को अनेक वाद्य अब दुर्लभ होते जा रहे हैं। इस वाद्यों की रक्षा के बिना लोककला नहीं बच पाएगी। हमें परम्परा से हटकर भी लोककलाओं को नये संदर्भ में खोजना चाहिए जिस तरह कठपुतली कला का सुन्दर उपयोग राजस्थान के कलाकारों व कार्यकर्ताओं ने सूचना के अधिकार व रोजगार की गारंटी के प्रचार-पसार के लिए किया है, वह आधुनिक संदर्भ में लोककलाओं की नई उपयोगिता का शानदार उदाहरण है। लेकिन वहीं एक चीज यह भी देखी जा रही है कि बदलते समय के साथ त्यौहारों में आ रहे नित्य नए बदलावों से बाजार को तो फायदा मिल रहा है लेकिन अंचल की लोककला का कौशल और हुनर समाप्त भी होता जा रहा है। लगातार कई परम्पराएँ और विधाएँ लुप्त हो रही हैं। तीज-त्यौहारों और उत्सवों के समय ग्रामीण अंचलों में कभी समृद्ध रही एक से एक खूबसूरत लोककलाएँ अब दम तोड़ने लगी हैं।

आज वह समय आ गया है जब संक्रमण की इस बेला में सरकार भारती जैसी संस्था की जिम्मदारी बढ़ जाती है। इस संस्था का दृष्टिकोण खुली किताब की तरह स्पष्ट है। संस्कार भारती चाहती है कि हमारा समाज सुरुचि समृद्ध और संस्कारवान बने। संस्कार भारती का यह भी लक्ष्य है कि बदलते दौर में देश की मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित किया जाए। इसके लिये उसके पास कला का औजार है। इस संस्था का यह भी लक्ष्य है कि लोककलाएँ अपने मौलिक रूप में रहते हुए विकसित हो। उसका ध्येय है कि लोककलाओं को पूँजी आधारित बाजार तथा प्रगति के तथाकथित विकासवादी आघात से बचाया जाए। इसमें संदेह नहीं कि लोक संस्कृति और लोककलाओं को बचने से ही आने वाली पीढ़ी अपनी जड़ों को पहचान सकेगी और इतिहास के प्रति भावुक न होकर मनुष्य के क्रमिक विकास को समझने की चेतना पैदा होगी। इतिहास के मृत्यु की घोषणा करने वाले लोग अपनी जड़ों को पहचानने से कतराने वाले लोग हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम लोकजीवन की विशिष्ट पहचान लोककला को बचाने की हर संभव कोशिश करें। देश का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि लोककला की दुकानदारी करने वाला वर्ग आज लोककला के संरक्षण की बात उठा रहा है।

अस्तु यह सुखद स्थिति होगी कि लोक सांस्कृतिक चिह्नों को जो लोककलाओं में दिखाई देती है, बचाने का प्रयास चल रहा है। इस प्रयास से लोक संस्कृति जीवित रहेगी। यदि लोक संस्कृति जीवित रहेगी तो लोककला भी मुक्त रूप से साँसें लेती रहेगी। वास्तव में संस्कृति और कला एक-दूसरे की साँसें हैं।

मालती कुंज
सिद्धार्थ इन्कलेव विस्तार,
एच.आई.जी.-द्वितीय 32, तारामण्डल,
गोरखपुर -273017 (उ.प्र.)
मो.-9450639170

व्यंग्य के हस्ताक्षर : हरिशंकर परसाई

- राजेन्द्र परदेसी

जन्म स्थान - बबुरा, भोजपुर (बिहार)।

शिक्षा - ए. एम. आई. ई.,डी.लिट्।

रचनाएँ - लगभग बारह पुस्तकें प्रकाशित।

हिन्दी साहित्य में व्यंग्य कला के क्षेत्र में हरिशंकर परसाई ऐसी विभूति हैं जिन्होंने अपनी तेज धारदार व्यंग्य रचनाओं के द्वारा स्वतंत्रता के उपरान्त व्याप्त सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक भ्रष्टाचार को स्पष्ट रूप में उजागर किया है। समाज की सूक्ष्म से सूक्ष्म कमजोरियाँ भी परसाई की दृष्टि से बच नहीं पाई हैं। जागरूक पर्यवेक्षक की तरह उसका पर्दाफाश करके पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर उनका ध्यान इस ओर बरबस आकर्षित कर देते हैं। इनके लेखन की सबसे बड़ी विशेषता है इनकी निर्भीकता। जीवन का कोई क्षेत्र हो उसकी कमजोरी को अपनी लेखनी से पाठकों के सम्मुख लाने का पूरी ईमानदारी से प्रयास किया है।

हरिशंकर परसाई का जन्म 22 अगस्त 1924 को मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जनपद के जमानी ग्राम में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा जनपद के विद्यालयों में ही हुआ। उसके पश्चात् नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. किया। प्रारम्भ के कुछ वर्ष विद्यालय में अध्यापन कार्य भी किया। लेकिन यह कार्य उन्हें रास नहीं आया। अध्यापन को 1947 में त्यागकर जबलपुर आकर रहने लगे और वहीं स्वतंत्र लेखन करने लगे। जबलपुर से ही 'वसुधा' नाम से एक साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन भी किया। तत्पश्चात् 'देशबंधु' दैनिक में सम्पादकीय सलाहकार के रूप कार्य किया और वहीं से 'प्रहरी' पत्रिका में 'उदार' नाम से नियमित लिखना आरम्भ किया। फिर तो वह हिन्दी की सभी चर्चित पत्रिकाओं से स्तम्भ लेखक के रूप में जुड़े।

हरिशंकर परसाई ने उपन्यास, कहानी, निबंध, रिपोर्ताज आदि विधाओं में प्रचुर सृजन किया है किन्तु इनकी ख्याति एक व्यंग्यकार के रूप में अधिक है। उनके व्यंग्य इतने तीक्ष्ण हैं कि सामान्य से सामान्य पाठक भी उसे सहजता तथा आसानी से प्रभावित हो जाता है। व्यंग्य मानव चेतना को झकझोर देने वाली, दुर्बलताओं को उजागर कराने वाली, सत्यता को सोचने को मजबूर करने वाली, व्यवस्था की सड़ी-गली नीतियों को प्रदर्शित करने एवं परिवर्तन की प्रेरणा देने वाली एक विधा है। इसी कारण परसाई के निबंधों लेखक को विषयगति, प्रगतिशील दृष्टि से राजनीतिक समस्याओं पर टिप्पणियों के रूप में प्रदर्शित होती है। वैचित्र्यपूर्ण कथात्मक उनके निबंध लेखन विधा का आवश्यक अंग है। परसाई का हास्य मौलिक भी है और शिष्ट भी।

हरिशंकर परसाई की रचनाओं में विषय वैविध्य है। राजनीति, शासन, समाज, धर्म, न्याय व्यवस्था, पुलिस, साहित्य आदि क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों को उन्होंने अपने व्यंग्य का विषय बनाया है। परसाई के व्यंग्य मुख्य रूप से राजनीतिक व्यवस्था पर अधिक हैं। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, व्यक्ति की धनलिप्सा और स्वार्थवृत्ति के लिए राजनीति की व्यवस्था को दोषी ठहराते है। इनके अधिकांश निबंधों में व्यंग्यात्मक ढंग से यही प्रतिपादित किया गया है। किस प्रकार शोषणवादी प्रवृत्तियाँ इस व्यवस्था का लाभ उठाती हैं। परसाई ने विसंगतियों की चर्चा के साथ कहीं-कहीं स्वस्थ चिंतन के आधार पर दिशा निर्देश किए हैं।

हरिशंकर परसाई के प्रमुख निबंध संग्रह हैं–तब की बात और थी, भूत के पाँव के पीछे, बेईमानी की परत पगडंडियों का जमाना, सदाचार का ताबीज, शिकायत मुझे भी है, और अन्त में, ठिठुरता हुआ गणतंत्र, अपनी–अपनी बीमारी, तिरछी रेखाएँ, तुलसीदास चन्दन घिसै, वैष्णव की फिसलन, विकलांग श्रद्धा का दौर, कागभगोड़ा, इसके अतिरिक्त उनके उपन्यास हैं–रानी नागफनी की कहानी, तट की खोज, तथा कहानी संग्रह हैं– हँसते हैं, रोते हैं, और जैसे उनके दिन फिरे, परसाई की यह सभी रचनायें परसाई रचनावली के नाम से छः भाग में समायोजित भी की गई हैं।

परसाई मूलतः व्यंग्य लेखक हैं। इस कारण उनकी भाषा व्यंग्य प्रधान है। बोलचाल की सरल व्यावहारिक भाषा है। वे शब्दों के चयन में माहिर हैं। कहाँ कौन–सा शब्द अधिक चोट करेगा इसका सदैव ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अधिकतर हिन्दी के प्रचलित शब्दों को अपनाया साथ में अन्य भाषा के प्रचलित शब्दों का भी यथा प्रयोग किया। उन्होंने अपने लेखन से उर्दू और अंग्रेजी के बहुचर्चित शब्दों का भी बहिष्कार नहीं किया। कहीं–कहीं रचनाओं में देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। वह भाषा के पक्षधर रहे। सहज–सरल भाषा में वक्रता को उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता उनमें दिखती है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक शब्द व्यंग्य का पुट लिए हुए सटीक और सार्थक रहता है। उनके व्यंग्य बड़े मार्मिक और चुटीले हैं। पाठक के हृदय पर सीधे असर करता है। कहावतों तथा मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा सजीव बन गई है। देशज शब्दों का सही प्रयोग उनकी अपनी विशेषता है, दृष्टव्य है–

'मनीषी राजनीति व्यवसाय अपनाया नेता हो जाना अच्छा धंधा है। पर वे किसी भी दल के साथ पक्षपात नहीं करते थे। वे एक साथ ही कांग्रेस समाजवादी दल, साम्यवादी दल, जनसंघ, रामराज्य परिषद् आदि सबके थे। एक बार वे एक सभा में बोलने खड़े हो गए। बड़े जोश में बोले–कांग्रेसी चोर है, समाजवादी उचक्के हैं, साम्यवादी लुच्चे हैं; श्रोताओं ने हल्ला मचाया अपने शब्द वापिस लो, मनीषी जी ने हँसते हुए कहा–तुम शब्द वापिस लेने की बात करते हो मैं अपना पूरा भाषण वापिस लेता हूँ और अब अपना भाषण आरम्भ करता हूँ।'

हरिशंकर परसाई की रचनाओं में विषयवस्तु की विविधता के साथ–साथ शैली में भी विविधता नज़र आती है। उनकी रचनाओं में कहीं लघुकथा है तो कहीं पर कहानियों ने निबंध का रूप धारण कर लिया है। व्यंग्य और हास्य को उत्पन्न करने के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार व्यंग्यात्मक, भावात्मक और चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया है।

सरसता, स्पष्टता, मार्मिकता तथा पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता हरिशंकर परसाई की व्यंग्यात्मक शैली के प्रमुख गुण हैं, जैसे–'ऐसा नहीं कि उसने श्रम करने का प्रयास न किया हो, हिमालय की सम्पादकीय के सिवाय वे सब कार्य कर चुके हैं। कहने लगे, स्टंट पिक्चर में मुझे काम मिला, पूना में शूटिंग हो रही थी, मेरा काम था कि मैं पुल पर नाले के किनारे खड़ा रहूँ और हीरो घोड़े के किनारे से निकले, तो तलवार का ऐसा वार करूँ कि तलवार उसे लगती हुई दिखे पर लगे नहीं। मुझे गुस्सा आ गया और मैंने भोथरी तलवार का ऐसा वार किया कि बेटा नाली में गिर पड़े, हाथ की हड्डी टूट गई पर मेरी नौकरी भी उसी वक्त खत्म हो गई।

परसाई की रचनाओं में यत्र–तत्र संवादात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने वाक्यों के द्वारा अपने को प्रभावी बनाने का सफल प्रयास किया है, दृष्टव्य है–

'स्त्री पूछती क्या सिर में दर्द है? वे कहते हैं, हाँ सिर फटा पड़ता है। स्त्री सहज ही उनका सिर दबा देती। उनकी पत्नी ने ताड़ लिया। कहने लगी, क्योंजी, जब कोई स्त्री तुमसे मिलने आती है, तभी तुम्हारा सिर क्यों दुखने लगता है? उसने जवाब भी माकूल दिया। कहा, तुम्हारे प्रति मेरी इतनी निष्ठा है कि पर स्त्री को देखकर मेरा सिर दुःखने लगता है।'

हरिशंकर परसाई ने अपने चिन्तन प्रधान निबंधों में भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। जब गम्भीर विषय पर चिन्तन करते हैं और मर्मस्पर्शी भावों में खो जाते हैं तो उनकी लेखनी भावात्मक हो उठती है। फिर कटु से कटु यथार्थ को व्यक्त करने में वे हिचकिचाते नहीं हैं। उनकी इस अभिव्यक्ति के पीछे भावों की मार्मिकता ही प्रेरक के रूप में कार्य करती है,

दृष्टव्य है–

'श्रद्धा पुराने अखबार की तरह रद्दी में बिक रही है, विश्वास की फसल को तुषार मार गया। इतिहास में शायद कभी किसी जाति को इस तरह श्रद्धा और विश्वास से हीन नहीं किया गया होगा। जिस नेतृत्व पर श्रद्धा थी उसे नंगा किया जा रहा है। जो नया नेतृत्व आया है, वह उतावली में अपने कपड़े खुद उतार रहा है। कुछ नेता अन्डरवियर में ही हैं। कानून से विश्वास गया। अदालत से विश्वास छीन लिया गया। बुद्धिजीवियों की नस्ल पर ही शंका की जा रही है। डॉक्टरों को बीमारी पैदा करने वाला सिद्ध किया जा रहा है। कहीं कोई श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।'

हिन्दी साहित्य जगत में हरिशंकर परसाई ऐसे व्यंग्यकार हैं, जिनकी शैली की अपनी निजी विशेषता है। उन्होंने अपने व्यंग्य को तीव्र और सशक्त बनाने के लिए चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया है। इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर निबंध में पुलिस के षड्यंत्रों से पूर्ण हथकंडों को गलत तरीकों और दोगले आचरणों को चित्रात्मक शैली में अभिचित्रित कर व्याप्त का पर्दाफाश किया है। विकलांग श्रद्धा का दौर व्यंग्य लेख का निम्नलिखित चित्र बड़ा ही हृदयस्पर्शी बन पड़ा है–

'अभी कच्चा हूँ पीछे पड़ने वाले तो पवित्रता को भी छिनाल बना देते हैं। मेरे ये श्रद्धालु मुझे पक्का श्रद्धेय बनाने में तुले हैं। पक्के सिद्ध श्रद्धेय मैंने देखे हैं। सिद्ध मकरध्वज होते हैं। उनकी बनावट ही अलग होती है। चेहरा, आँखें, खींचने वाले पाँव ऐसे कि बरबस आदमी झुक जाए। पूरे व्यक्तित्व पर श्रद्धेय लिखा होता है। मुझे वे बड़े बौड़म लगते हैं पर ये पक्के होते हैं।

हरिशंकर परसाई की लेखन शैली में विविधता और अनूठापन है। कभी वह रामायण से लंका विजय के बाद की कथा चुनती है और कभी वह बेताल की तीन कथाओं के रूप में प्राचीन कथा साहित्य में दौड़ लगाती है। उनकी अपनी शैली में कहीं भी एकरसता और एकरूपता नहीं आने पाई है। वह निरन्तर परिवर्तनशील और विकासशील रही है।

आधुनिक हिन्दी के व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई का स्थान शीर्षस्थ। उन्होंने हास्य और व्यंग्य की दिशा में हिन्दी गद्य के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया है। उनकी जागरूकता, निर्भीकता और अभिव्यक्ति विशेष उल्लेखनीय है। उनकी रचनाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। रचनाएँ आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि विविध क्षेत्रों की नाना प्रकार की घुटन को अपने में समेटे हुए है तथा पीड़ाओं को सामने लाती है, निदान प्रस्तुत करती है, साथ ही नव जीवन प्रदान करती है। इस प्रकार मानवीय दु:ख और पीड़ा के प्रति गहरी करुणा का भाव उनकी रचनाओं में अनन्त सलिला की तरह विद्यमान अत: यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हरिशंकर परसाई की रचनाएँ जन साधारण के निकट होकर जनमानस का सम्बल हैं और बुद्धिजीवियों के लिए पथ-प्रदर्शक व्यंग्य के अद्भुत सर्जक हरिशंकर परसाई का देहावसान 12 अगस्त 1995 में मध्यप्रदेश के जबलपुर में हुआ।

136-मयूर रेजीडेंसी, फरीदी नगर,
लखनऊ-226015 (उ.प्र.)
मो. - 9415045584

सूचना

अक्षरा के सम्माननीय पाठकों, सदस्यों से विनम्र आग्रह है कि पते के साथ अपना मोबाइल नंबर भी अवश्य भेजें। ताकि पत्रिका आपको पहुँचने में विलंब न हो।

गंगा विलास नहीं, नदी तीर्थ : तीर्थ गाँव

– अरुण तिवारी

जन्म – 15 मई 1964।
शिक्षा – स्नातकोत्तर।
रचनाएँ – ग्यारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – अनुपम मिश्र पुरस्कार।

दिलचस्प है कि हमारा घूमना-घुमाना, आज दुनिया के देशों को सबसे अधिक विदेशी मुद्रा कमाकर देने वाला उद्योग बन गया है। विश्व आर्थिक फोरम का निष्कर्ष है कि भारतीय पर्यटन उद्योग में भारत के सकल घरेलू उत्पाद में 25 फीसदी तक योगदान करने की क्षमता है; वह भी गाँवों के भरोसे। फोरम मानता है कि भारत के गाँव विरासत, संस्कृति और अनुभवों के ऐसे महासागर है, जिन तक पर्यटकों की पहुँच अभी शेष है। गाँव आधारित प्रभावी पर्यटन को गति देकर, भारत वर्ष 2027 तक प्रति वर्ष 150 लाख अतिरिक्त पर्यटकों को आकर्षित करने की क्षमता हासिल कर सकता है। इस तरह वह 25 अरब अमेरिकी डॉलर की अतिरिक्त विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकता है। इसके लिए भारत को अपने 60 हजार गाँवों में कम से कम एक लाख उद्यमों को गतिशीलता प्रदान करनी होगी। यह भारत में ग्रामीण पर्यटन के विकास की पूर्णतया वाणिज्यिक दृष्टि है। भारतीय दृष्टि भिन्न है।

भ्रमण की भारतीय दृष्टि :- भ्रमण तो कई जीव करते हैं, किंतु मानव ने अपने भ्रमण का उपयोग अपने अंतर्मन और अपने बाह्य जगत का विकास के लिए किया। बाह्य जगत का विकास यानी सभ्यता का विकास और अंतर्मन का विकास यानी सांस्कृतिक विकास। इसीलिए मानव अन्य जीवों की तुलना में, अधिक जिज्ञासु, अधिक सांस्कृतिक, अधिक हुनरमंद और अधिक विचारवान हो सका; अपनी रचनाओं का विशाल संसार गढ़ सका। स्पष्ट है कि भ्रमण, मनुष्य के लिए मूल रूप से सभ्यता और संस्कृति दोनों को पुष्ट करने का माध्यम रहा है। भ्रमण की भारतीय दृष्टि का मूल यही है। इसी दृष्टि को सामने रखकर भारतीय मनीषियों ने भिन्न उद्देश्यों के आधार पर भ्रमण को पर्यटन, तीर्थाटन और देशाटन के रूप में वर्गीकृत किया है और तीनों को अलग-अलग वर्गों के लिए सीमित किया है। भ्रमण के इस वर्गीकरण तथा दृष्टि को यदि हम बचाकर रख सकें तो बेहतर होगा; वरना हमारे गाँवों के भ्रमण में जैसे ही पूर्णतया नई वाणिज्यिक दृष्टि का प्रवेश होगा, हमारा भ्रमण तात्कालिक आर्थिक लाभ का माध्यम तो बन जाएगा, किंतु भारतीय गाँवों को लम्बे समय तक गाँवों के रूप-स्वरूप में बचा रखना असंभव हो जायेगा। भारतीय गाँवों के बचे-खुचे रूप-स्वरूप के पूरी तरह लोप का मतलब होगा, भारत की सांस्कृतिक इकाइयों का लोप हो जाना। सोचिए कि क्या यह उचित होगा?

तीर्थ भाव से हो ग्राम्य पर्यटन का विकास :- हमें नहीं भूलना चाहिए कि भारत के गाँव महज् सामाजिक इकाइयाँ न होकर, पूर्णतया सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं। हमारे गाँवों की बुनियाद सुविधा नहीं, रिश्तों की नींव पर रखी गई है। भारतीय गाँवों में मौजूद कला, शिल्प, मेले, पर्व आदि कोई उद्यम नहीं, बल्कि एक जीवन शैली हैं। बहुमत भारत आज भी गाँवों में ही बसता है। इसीलिए आज भी कहा जाता है कि यदि भारत को जानना हो तो भारत के गाँवों को जानना चाहिए। रिश्ते-नाते, संस्कृति, विरासत और अपनी प्राकृतिक धरोहरों को सँजोकर रखने के कारण भारत के 60 हजार गाँव अभी भी तीर्थ ही हैं। तीर्थाटन-तीर्थयात्रियों से सादगी, संयम, श्रद्धा और अनुशासन की माँग करता है। तीर्थयात्री से लोभ-लालच, छल-कपट की अपेक्षा नहीं की जाती। भारतीय गाँवों में पर्यटन और पर्यटकों के रुझान का विकास इसी भाव और अपेक्षा के साथ करना चाहिए। नदियाँ, इस भाव को पुष्ट करने का सर्वाधिक सुलभ, सुगम्य और प्रेरक माध्यम हैं और आगे भी बनी रह सकती हैं। क्यों? क्योंकि भारत की नदियाँ आज भी अपनी यात्रा की ज्यादातर दूरी ग्रामीण इलाकों से गुजरते हुए तय करती हैं; क्योंकि नदियाँ आज भी भारतीय संस्कृति व सभ्यता का सर्वप्रिय प्रवाह हैं।

नदी पर सवार संभावना :- गौर कीजिए कि भारत, नदियों का देश है। सिंधु, झेलम, चेनाब, रावी, सतलुज, ब्यास, मेघना, गंगा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी नर्मदा, ब्रह्मपुत्र, तुंगभद्रा, वैगई, महानदी, पेन्नर, पेरियार, कूवम, अडयार, माण्डवी, मूसी, मीठी, माही, वेदवती और सुवर्णमुखी गिनती गिनते जाइए कि भारत में नदियाँ ही नदियाँ हैं। मरुभूमि होने के बावजूद, राजस्थान 50 से अधिक नदियों का प्रदेश है। राजस्थान के चुरु और बीकानेर को छोड़कर, भारत में शायद ही कोई जिला ऐसा हो, जहाँ नदी न हो। भारत के हर प्रखण्ड के रिकॉर्ड में आपको कोई न कोई छोटी-बड़ी नदी लिखी मिल जाएगी। भारत में शायद ही कोई गाँव हो, जिसका किसी न किसी नदी से सांस्कृतिक रिश्ता न हो। मुण्डन से लेकर मृत्यु तक; स्नान से लेकर पूजन, पान, दान तक; पर्व, परिक्रमा से लेकर मेले तक, संन्यास, शिष्यत्व से लेकर कल्पवास तक; सभी कुछ नदी के किनारे। हर नदी के अपने कथानक हैं; गीत-संगीत हैं; लोकोत्सव हैं। भैया दूज, गंगा दशहरा, छठ पूजा, मकर संक्रान्ति पूरी तरह नदी पर्व हैं। गंगा के किनारे वर्ष में 21 बार स्नान पर्व होता है। गंगा, शिप्रा और गोदावरी के किनारे लगने वाले कुंभ में बिना बुलाए करोड़ों जुटते आपने देखे ही होंगे। 14 देवताओं को सैयद नदी में स्नान कराने के कारण खारची पूजा (त्रिपुरा) तथा मूर्ति विसर्जन के कारण गणेश चतुर्थी, दूर्गा पूजा, विश्वकर्मा पूजा आदि पर्वों का नदियों से रिश्ता है। नदियाँ योग, ध्यान, तप, पूजन, चिंतन, मनन और आनंद की अनुभूति की केन्द्र हैं ही। नदी में डुबकी लगाते, राफ्टिंग-नौका विहार करते, मछलियों को अठखेलियाँ लेते हुए घंटों निहारते हमें जो अनुभूति होती है, वह एक ऐसा सहायक कारक है, जो किसी को भी नदियों की ओर आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है। किंतु इस पूरे आकर्षण को नदी, गाँव और नगर के बीच के सम्मानजनक रिश्ते की पर्यटक गतिविधि के रूप में विकसित करने के लिए कुछ कदम उठाने जरूरी होंगे।

जरूरी कदम :- 1. नदी केन्द्रित ग्राम्य पर्यटन को विकसित करने के लिए नदियों को अविरल-निर्मल तथा गाँवों को स्वच्छ-सुन्दर बनाना सबसे पहली जरूरत होगी। एशिया का सबसे स्वच्छ गाँव का दर्जा प्राप्त होने के कारण ही मेघालय का गाँव मावलिन्नांग, आज पर्यटन का नया केन्द्र बन गया है।

2. नदी-ग्राम्य पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए नदियों को उनकी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत करना शुरू करना होगा; जैसे सबसे छोटा आबाद नदी द्वीप-उमानंद, भारत का सबसे पहला नदी द्वीप जिला-माजुली, स्वच्छ नदी-चम्बल, भारत का सबसे वेगवान प्रवाह-ब्रह्मपुत्र, सबसे पवित्र प्रवाह-गंगा, एक ऐसी नदी जिसकी परिक्रमा की जाती है-नर्मदा, ऐसी नदी घाटी जिसके नाम पर सभ्यता का नाम पड़ा-सिंधु नदी घाटी, नदियाँ जिन्हें स्थानीय समुदायों ने पुनर्जीवित किया-अरवरी, कालीबेंई, गाड गंगा।

3. सच पूछो तो भारत की प्रत्येक नदी की अपनी भू-सांस्कृतिक विविधता, भूमिका और उससे जुड़े लोक कथानक, आयोजन व उत्सव हैं। नुक्कड़ नाटक, नृत्य-नाट्य प्रस्तुति, नदी सम्वाद, नदी यात्राओं आदि के जरिए आगुन्तकों को इन सभी से परिचित कराना चाहिए। गंगा, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, कावेरी, गोदावरी, नर्मदा.. छः मुख्य नदियों को लेकर इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र ने यह शुरुआत की है। इससे न सिर्फ नदियों के प्रति चेतना, जन-जुड़ाव व दायित्वबोध बढ़ेगा, बल्कि नदी आधारित ग्रामीण पर्यटन को अधिक रुचिकर बनाने में भी मदद मिलेगी।

4. नदी पर्यटन का वास्तविक लाभ गाँवों को तभी मिलेगा, जब नदी पर्वों-मेलों के नियोजन, संचालन और प्रबंधन में स्थानीय ग्रामीण समुदाय की सह-भागिता बढ़े। इसके लिए स्थानीय गाँववासियों को जिम्मेदार भूमिका में आने के लिए प्रेरित, प्रशिक्षित और प्रोत्साहित करना जरूरी होगा।

5. केरल ने ग्राम्य जीवन के अनुभवों से रूबरू कराने को अपनी पर्यटन गतिविधियों से जोड़ा है। नदी आयोजनों को भी स्थानीय ग्राम्य अनुभवों, कलाओं, आस्थाओं आदि से रूबरू कराने वाली गतिविधियों से जोड़ा जाना चाहिए। स्थानीय खेल-कूद, लोकोत्सव तथा परम्परागत कला-कारीगरी-हुनर प्रतियोगिताओं के आयोजन तथा ग्रामीण खेत-खलिहानों, घरों के भ्रमण, इसमें सहायक होंगे।

6. उत्तर प्रदेश के जिला गाजीपुर में गंगा किनारे स्थित गाँव गहमर, एशिया का सबसे बड़ा गाँव भी है और फौजियों का मशहूर गाँव भी। फौज में भर्ती होना, यहाँ एक परम्परा जैसा है।

नदियों किनारे बसे अनेकानेक गाँव ऐसी अनेक खासियत रखते हैं। नदी किनारे के ऐसे गाँवों की खूबियों से लोगों को रूबरू होना, क्या अपने आप में एक दिलचस्प अनुभव नहीं होगा? नदी–गाँव पर्यटन विकास की दृष्टि से क्या यह एक आकर्षक पर्यटन विषय नहीं हो सकता? इसे नदी–गाँव यात्रा के रूप में अंजाम दिया जा सकता है।

7. भारत की अनेकानेक हस्तियों, विधाओं का जन्म गाँवों में ही हुआ है। माउंट एवरेस्ट फतह करने वाली प्रथम भारतीय पर्वतारोही बछेन्द्रीपाल का गाँव नाकुरी, मिसाइलमैन अब्दुल कलाम का गाँव रामेश्वरम्, तुलसी–कबीर–रहीम–प्रेमचंद के गाँव, कलारीपयट्टु युद्धकला का गाँव, पहलवानों का गाँव, प्राकृतिक खेती का गाँव, मुकदमामुक्त–सद्भावयुक्त गाँव आदि–आदि। ऐसी खूबियों वाले गाँवों की लड़ियाँ बनाकर ग्राम्य पर्यटन विकास के प्रयास भी गाँव–देश का हित ही करेंगे। अतुल्य भारत–विचार पर काम हुआ है। 'अतुल्य नदी अतुल्य गाँव' के इस प्रस्तावित नारे के आधार पर भी तीर्थ विकास के बारे विचार करना चाहिए। इसके जरिए नगरवासियों की गाँवों के प्रति समझ भी बढ़ेगी, सम्मान भी और पर्यटन भी। ऐसे गाँव प्रेरक भूमिका में आ जाएँगे; साथ ही उनकी खूबियों का हमारे व्यक्तित्व व नागरिकता विकास में बेहतर ढंग से उपयोग हो सकेगा। हाँ, ऐसे गाँवों को उनकी खूबियों के सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए तैयार रखने की व्यवस्थापरक जिम्मेदारी स्थानीय पंचायतीराज संस्थानों तथा प्रशासन को लेनी ही होगी। पर्यटन, संस्कृति तथा पंचायतीराज विभाग मिलकर ऐसे गाँवों की खूबी विशेष आधारित विकास के लिए, विशेष आर्थिक प्रावधान करें तो काम आसान हो जाएगा। इसके बहुआयामी लाभ होंगे।

8. नदी आयोजनों में होटल और बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियों में बनी वस्तुओं से अटे पड़े बाजार की जगह, स्थानीय मानव संसाधन, परिवहन, ग्रामीण आवास, स्थानीय परंपरागत खाद्य व्यंजनों के उपयोग को प्राथमिकता देने की नीति व योजना पर काम करना चाहिए। इसके लिए जहाँ गाँवों को इस तरह के उपयोग से जुड़ी सावधानियों के प्रति प्रशिक्षित करने की जरूरत होगी, वहीं बाहरी पर्यटकों में नैतिकता, अनुशासन, जिज्ञासु व तीर्थाटन भाव का विकास भी जरूरी होगा।

9. कुम्भ अपने मौलिक स्वरूप में सिर्फ स्नान पर्व न होकर, एक मंथन पर्व था। कुम्भ एक ऐसा अवसर होता था, जब ऋषि, अपने शोध, सिद्धांत व आविष्कारों को धर्म समाज के समक्ष प्रस्तुत करते थे। धर्म समाज उन पर मंथन करता था। समाज हितैषी शोध, सिद्धांत व आविष्कारों को अपनाने के लिए समाज को प्रेरित व शिक्षित करने का काम धर्मगुरुओं का था। राजसत्ता तथा कल्पवासियों के माध्यम से यह ज्ञान, समाज तक पहुँचता था। समाज अपनी पारिवारिक–सामुदायिक समस्याओं के हल भी कल्पवास के दौरान पाता था। एक कालखण्ड ऐसा भी आया कि जब कुम्भ, समाज की अपनी कलात्मक विधाओं तथा कारीगरी के उत्कर्ष उत्पादों की प्रदर्शनी का अवसर बन गया। कुम्भ को पुन: सामयिक मसलों पर राज–समाज–संतों के साझे मंथन तथा वैज्ञानिक खोजों, उत्कर्ष कारीगरी व पारम्परिक कलात्मक विधाओं के प्रदर्शन का अवसर बनाना चाहिए। इससे गाँव–नदी पर्यटन के नजरिए को ज्यादा संजीदा पर्यटक मिलने तो सुनिश्चित होंगे ही कुम्भ, देश–दुनिया को दिशा देने वाला एक ऐसा आयोजन बन जाएगा, जिसमें हर कोई आना चाहे।

10. नदियों के उद्गम से लेकर संगम तक तीर्थ क्षेत्र, पूजास्थली, तपस्थली, वनस्थली, धर्मशाला और अध्ययनशालाओं के रूप में ढाँचागत व्यवस्था पहले से मौजूद है। भारत में कितने ही गाँव हैं, जहाँ कितने ही घर, कितनी ही हवेलियाँ वीरान पड़ी हैं। नदी–गाँव पर्यटन में इनके उपयोग की संभावना तलाशना श्रेयस्कर होगा।

11. हाँ, इतनी सावधानी अवश्य रखनी होगी कि नदी–गाँव आधारित कोई भी पर्यटन गतिविधि, उपयोग किए गए संसाधन तथा प्रयोग किए गए तरीके सामाजिक सौहार्द, ग्रामीण खूबियों और पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले न हों। सुनिश्चित करना होगा कि पर्यटन गाँव व नदी संसाधनों की लूट का माध्यम न बनने पाये। गाँव–नदी पर्यटन को नगरीय पर्यटन की तुलना में कम खर्चीला बनाने की व्यवस्थात्मक पहल भी जरूरी होगी।

कहना न होगा कि चाहत चाहे तीर्थाटन की अथवा पर्यटन की; भारत की नदियों और गाँवों में इनके उद्देश्यों की पूर्ति की संभावना अकूत है। इस संभावना के विकास का सबसे बड़ा

लाभ गाँवों के गाँव तथा नदियों के नदियाँ बने रहने के रूप में सामने आयेगा। लोग जमीनी हकीकत से रूबरू हो सकेंगे। अपनी जड़ों को जानने की चाहत का विकास होगा। ग्रामीण भारत के प्रति सबसे पहले स्वयं हम भारतवासियों की समझ बेहतर होगी। इससे दूसरे देशों की तुलना में अपने देश को देखने का हमारा नजरिया बदलेगा। दुनिया भी जान सकेगी कि भारत, एक बेहतर सभ्यता और संस्कृति से युक्त देश है। इसी से भारत की विकास नीतियों में गाँव और प्रकृति को बेहतर स्थान दे सकने वाली गलियाँ कुछ और खुल जाएँगी। नदियों के सुख-दुख के साथ जन-जुड़ाव का चुम्बक कुछ और प्रभावी होकर सामने आएगा। भारत के अलग-अलग भू-सांस्कृतिक इलाकों के लिए स्थानीय विकास के अलग-अलग मॉडल विकसित करने की सूत्रमाला भी इसी रास्ते से हाथ में लगेगी। कितना अच्छा होगा यह सब!

पर्यटन : एक पारिवारिक-सामाजिक-आर्थिक क्रिया – पर्यटन, संस्कृत भाषा के मूल शब्द 'अटन' से जुड़कर निकला शब्द है। 'अटन' यानी भ्रमण। पय जमा अटन = पर्यटन यानी आनंद और ज्ञान की प्राप्ति के लिए भ्रमण। देश जमा अटन = देशाटन यानी देश-विदेश में भ्रमण। तीर्थ जमा अटन = तीर्थाटन यानी तीर्थ क्षेत्रों का भ्रमण। अंग्रेजी भाषा में भ्रमण के लिए 'टूरिज्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'टूरिज्म' शब्द, मूल रूप से लैटिन भाषा के शब्द 'टोमोस' तथा 'टोमोस' शब्द, यहूदी भाषा के 'तोरह' शब्द से निकला है। 'तोरह' शब्द का एक अर्थ है, शिक्षा की खोज। 'टोमोस' का शाब्दिक अर्थ है, वृत्त अथवा पहिए का घूमना।

पर्यटन की अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि, सिद्धान्त रूप से अपने मूल स्थान से निकलकर किसी भी अन्य देश अथवा स्थान पर 24 घंटे से अधिक ठहरने वाले को पर्यटक कहती है। यह दृष्टि रक्त-सम्बन्ध, ज्ञान-सांस्कृतिक विनिमेय, साहसिक उद्देश्य, मनोविनोद, चिकित्सा, खोज, समुद्र-दर्शन आदि जैसे उद्देश्यों से की गई यात्रा को पर्यटन की श्रेणी में रखती है। अपने मूल स्थान से दूसरे स्थान पर नौकरी करने, किसी आवासीय विद्यालय में पढ़ने अथवा कहीं स्थायी आवास के लिए की गई यात्रा की श्रेणी में नहीं रखा जाता। पर्यटन की यह दृष्टि व्यापार, वाणिज्य, राजनीतिक परिस्थितियाँ और धार्मिक आस्था को तीन ऐसी मूल शक्तियाँ मानती है, जो किसी को पर्यटन हेतु प्रेरित करती है।

गौर कीजिए कि दुनिया में पर्यटन का विकास एकल अथवा पारिवारिक न होकर, सामूहिक क्रिया के रूप में हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व पर्यटन के परिणाम चाहे जो रहे हों, लेकिन उसके पश्चात् पर्यटन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में क्रांति का वाहक सिद्ध हुआ। हालाँकि पर्यटन में संस्थागत प्रवेश के लक्षण अब सामने आने लगे हैं, लेकिन वास्तव में पर्यटन आज भी एक पारिवारिक-सामाजिक-आर्थिक क्रिया ही अधिक है। पर्यटन, अज्ञान को दूर कर, ज्ञान की नई विधाओं की खिड़कियाँ खोलता है। पर्यटन, आध्यात्मिक विकास के अवसर देता है। पर्यटन, सामाजिक सद्भाव तथा आर्थिक विकास की परिस्थितियाँ निर्मित करता है। पर्यटन, सांस्कृतिक, शैक्षिक, भौतिक और आर्थिक विनिमेय को सुलभ बनाता है।

यह सुलभता रूढ़ियों से मुक्त होने की प्रेरणा देती है; धर्म, जाति, रंग, वर्ग और वर्ण विभेद की लकीरों को धुँधला करती है। यह सुलभता, कालखण्ड विशेष की समस्याओं के समाधान सुझाने में भी सहायक सिद्ध होती है।

बड़ा परिवार, मँहगाई, समयाभाव, खराब सेहत, अरुचि, तनाव, सूचना का अभाव, खराब असुविधाजनक परिवहन तंत्र तथा पर्यटन स्थल पर अशांति को पर्यटन के विकास में बाधक माना गया है। अशांति हो तो इंसान क्या, प्रवासी पक्षी भी उस स्थान पर जाना पसंद नहीं करते हैं। अवकाश की अधिक अवधि, औद्योगिक विकास, नगरीकरण, अधिक आय, सस्ता परिवहन, शिक्षा में विशिष्टीकरण, सांस्कृतिक अभिरुचि, प्रचार तंत्र तथा राजकीय सहयोग को पर्यटन में सहायक माना गया है। जाहिर है कि यदि पर्यटन का विकास करना हो तो ऊपरलिखित बाधाओं का निराकरण तथा सहायक पहलुओं का प्रोत्साहन होना ही चाहिए।

146, सुन्दर ब्लॉक, शकरपुर,
दिल्ली-110092
मो. - 9868793799

बुन्देलखण्ड के ऋतुपरक लोकगीत

- सरोज गुप्ता

जन्म - 20 जुलाई 1963।
शिक्षा - एम.ए., बी.एड, पीएच.डी.।
रचनाएँ - बारह पुस्तकें प्रकाशित, कतिपय सम्पादित।
सम्मान - महर्षि अगस्त्य सम्मान सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।
विशेष - त्रिभाषी लोकशब्द कोश बुंदेली।

बुन्देलखण्ड कृषि प्रधान जनपद है। यहाँ के लोग कोलाहलमय जीवन से दूर अपने मनोरंजन के लिए गीतों को अपना साथी मानते हैं। इनका जीवन गीतमय होता है। इन लोकगीतों का सृजन लोकमाता धरती की गोद में, उमड़ते-घुमड़ते बादलों की गर्जना के साथ, नाचते मन मयूरों, फलते आम्रनिकुंजों पर पिऊ-पिऊ की रट लगाते उन्मत्त चातकों, कोयल की मधुर कूक, बासंतिक वायु के प्रवाह से झमक झूमती खेतों की बालों एवं झुकती लहराती वृक्षों की डालियों को देखकर लोक मन गा गाकर अपनी अभिव्यक्ति प्रदान करता है। प्रत्येक ऋतु व प्रत्येक पर्व, त्यौहारों के अलग गीत हैं जिनसे ग्रामवासियों के सुख-दुख कटते हैं। गाँवों में जहाँ किसान अपनी कर्मठता का परिचय देते हुए ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की छाया में और भोले-भाले ग्रामवासियों के बीच अपनी समस्याएँ सुलझाने में व्यस्त हैं। गाँवों के प्राकृतिक सौंदर्य की निखरती छटा के बीच मानो नेत्र सफल और हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। उषाकाल से पूर्व कोमल कंठों से मनोहर गीत सुनाई देते हैं। चकिया पीसते, कुँए से पानी भरती महिलाओं के द्वारा बारहमासी लोकगीतों की मधुरिम छटा देखते ही बनती है। बारामासी गीत देखिए-

चैत मास जब लागो सजनी, बिछुरे कुँवर कन्हाई।
कौन उपाय करौं जा ब्रज में घर अँगना ना सुहाई।
फिर वैशाख मास में सजनी, गर्मी जोर जनाई।
पलक से जरियन नींद ना आवे, घर नहिं कुँवर कन्हाई।
जेठ मास जब लागै सजनी, चहुँ दिस पवन झकोरा।
पवन के ऊपर अगन बरत है, अंग-अंग पर डोले।
आषाढ़ मास जब लागे सजनी, सब दिस बादल छाए।
मोरें और पपीहा बोले, दादुर वचन सुनाए।
सावन मास सुहावन महिना, झमक-झमक घन बरसैं।
कान कुँवर की बिछुड़न पर गई, देखने को जी तरसे।
भादों मास भयंकर महीना, दिस दिस नदिया बाड़ी।
अपुन तो ऊधौ पार उतर गए, हम जमुना तट ठाँड़ी।
क्वाँर मास की छुटक चाँदनी, बाड़े सोच हमारे।
आवत देखे भर-भर नैना, जात न काऊ निहारे।
कार्तिक मास धर्म के महीना, कौन पाप हम कीने।
हम सी नार अनाथ छोड़कर कुब्जा को सुख दीन्हे।
अगन मास आगम के मईना, चलौ सखि ब्रज में बसिए।
कै हँसिए ब्रजलाल राउ सों, कै जमना जल धँसिए।

बुन्देलखण्ड की संस्कृति में एकता का भाव यहाँ के पर्वों, उत्सवों, व्रतों, त्यौहारों, मेलों, नगरों, गाँवों में समान रूप से देख सकते हैं। बारामासी व षट्ऋतुओं के लोक गीतों की धुन पर थिरकते जन समूह बुन्देलखण्ड की आन-बान और शान हैं। चैत्र मास में सम्वत्सर के शुभारम्भ की झलक नवदुर्गा पूजन, जवारे, गणगौर पूजन के समय आस्था और विश्वास के साथ सांस्कृतिक, आध्यात्मिक भक्ति भाव इन लोक प्रचलित गीतों में देखते हैं।

'कैसे के दर्शन पाऊँरी, माई तेरी सँकरी दुअरिआ।
माई के द्वारे एक भूखा पुकारे, देओ भोजन घर जाऊँगी।
माई तेरी सँकरी दुअरिआ -
उड़ चल रे पर्वत वारे सुवना, घर अँगना न सुहाए मोरी माय।
कै उड़ चल भैया बाग बगीचा, कै बिंध्याचल की डाँग हो माय।।'

बुन्देलखण्ड में नवरात्रि पर जवारों के रखने, उत्सव मनाने की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। नौ दिनों तक नव दुर्गा पूजन के पश्चात् सिर पर जवारे रखकर, ताल-तलैयों, नदियों के घाटों पर जवारे सिराने की प्रक्रिया, आदिशक्ति भगवती की साधना अनेक मान्यताओं के साथ सम्पन्न होती है। बसंत ऋतु की छटा बुन्देलखण्ड के वनप्रांगण, वृक्षों, लताओं में नवपल्लवों के अँकुराने पर लोक धुनें गूँजने लगती हैं। ईसुरी बसन्त ऋतु के आगमन की सूचना देते हुए कहते हैं कि

'अब ऋतु आई बसन्त बहारन, पान फूल फल डारन।
बागन-वनन बंगलन बेलिन, बीथी नगर बंजारन।

हारनहद्द पहारन-पारन, धवल धाम जल धारन।
तपसी कुटी कंदरन माही, गयी बैराग बिगारन।
ईसुर अन्त कन्त हैं जिनके, तिनें देत दुख दारुन।'

बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थलों, तीर्थ क्षेत्रों में मेले लगते हैं। माघ से फागुन तक बसंत तत्पश्चात् होली उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। खेतों-खलिहानों में सब जगह बसन्त की बहार नवयुवक युवतियों को आकर्षित कर गीतों के उल्लास में सराबोर करने में तत्पर है। 'सखि आई बसन्त बहार, कोयलिया कूक उठी' इसी के साथ 'फागें सुन सुख होय, देई देवता मोय।' आदि अनेक लोकगीत हैं जो मन को आकर्षित करते हैं। बसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु की प्रचंडता का वर्णन गीतों में दृष्टव्य है। सखी लू की लपटों से व्यथित नायिका की वस्तुस्थिति को बता रही है विवेचन देखिए -

'ढावन सूखे चुनरिया, उर वन सूखे कचनार।
गौरी धन सूखै मायकैं, काऊ हीन पुरुष की नार।
लूह लपट सौं सूखतयी ज्यों, नदियन की धार।
ताकौ लख दुख तलैयन, छाती होत दरार।'

गर्मी में नदिया सूख जाती हैं। छोटे-छोटे तालाबों के हृदयों में दरार पड़ जाती है। अर्थात् ये बादल भूमि पर गिर कर उसी प्रकार झुकते हैं जैसे कोई विद्वान विद्या प्राप्ति पर विनम्र हो जाता है। पानी की बूँदों का आघात ये पर्वत उसी तरह सहते हैं जैसे-

दुष्टों के दुर्वचन संत लोग सहन करते हैं।
किरपा खेतन पै हो गई भगवान की।
खबर नैंयां जियऊ जान की।
जबसैं लगौ असाढ़ कौ मईना, ठाड़े रोज उखारें घसिया।
हाथी कैसे सूँढ़ बदरिया, दगा दै गई बदिया किसान की।
खबर नैंयां जियऊ जान की।

वर्षा ऋतु जहाँ प्रेम और सौंदर्य कोमल भावनाओं के लिए प्रसिद्ध है, वहीं गोस्वामी तुलसीदास जी ने सटीक नीतिपरक बात कही है। वहीं आधुनिक काल के कवि श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल जी की रचना वर्षा गीत देखिए, जिसमें वर्षा सुन्दरी का सुहागन रूप प्रस्तुत किया है -

'हरी चूनर पहनकर आ गई वर्षा सुहागन फिर।
कहीं वन बीच फूलों में पड़ी थी स्वप्न में सोई।
उलझते बादलों की लट पिया छलका गया कोई।
तिमिर ने राह कर दी सुखद कच्ची धूप सी धोई।
पवन की रागिनी मोती भरे आकाश में खोई।
पहन धानी लहरिया आ रही वर्षा सुहागन फिर।'

बुन्देलखण्ड के किसान भाई कहने को तो पढ़े-लिखे नहीं होते लेकिन वे अपने अनुभवों की थाती से बारामासी ज्ञान को समय-समय पर अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वह कहते हैं- **'उल्टौ गिरगिट, ऊपर चढ़ै, वर्षा सों थल बूढ़ो परै।'**

जानकारों का कहना है कि हवा और बादलों के रुख के साथ कीट पतंगे, पशु-पक्षी, चींटी, गिरगिट अपने कार्य व्यवहार से वर्षा होने की जानकारी दे देते हैं। ये सभी किसान विज्ञान के साथी हैं, इनके हाव-भाव से किसान अपना आगम जान लेते हैं। सेंडर नाम का मच्छर/पतिंगा जो बहुत छोटा होता है जब आँखों में लगने लगे तो समझना चाहिए कि पानी बरसने वाला है। चिड़ियों का पंख फैलाकर धूल में लोटना, मोरों का नाचना बगुलों का पंक्तिबद्ध उड़ना, जरियों-बेरियों में नये अंकुर निकलना वर्षा के सूचक हैं। टिटहरी जब अपने अण्डे नदी, तालाब, पुखरियों के किनारे ऊँचाई पर रखती है तब किसान कहने लगता है-**'समय कौ आगम जानत टीटरी, अण्डा धरत जतन सों जोर।'** हमारे किसान ज्योतिषशास्त्र के महापंडित अपने व्यावहारिक अनुभवों से मानसून वैज्ञानिकों की भूमिका निभाते हैं। मौसम विज्ञान उनके अनुभव से छलकता है, वे कहते हैं-**'जो पाण्डे के पत्रा में, सो-बो हमाए मों में।'** वर्षा का योग बताते हुए वह कह उठते हैं-**'छिन पुरवैया, छिन पछवा, छिन-छिन बहै बमूरा बाव, भग रे पाण्डे, पानी आव।'** अर्थात् जब कभी पुरवाई, कभी पछवा, कभी बमूरा हवा चलती है (पुरवैया-पुरवाई, पूर्व की हवा, पछवा-पश्चिम की हवा, बमूरा-दक्षिण की हवा) तो वर्षा का योग बताने के लिए ये किसान भाई मीन-मेख का गणित लगाने लगते हैं। अक्षय तृतीया कृषकों का मुख्य त्यौहार है। इस दिन ये चार घैलों (मिट्टी के कलशों)की पूजा करते हैं। चतुर्मास के प्रतीक ये घड़े-अषाढ़, सावन, भादों, क्वाँर चार घैला रखकर इनमें कच्चे चने डालते हैं। दूसरे दिन इन घेलों को देखते हैं कि किस घैले के किस तरह से चने फूले हैं। जिस महीने के चना के दाने जैसे फूलेंगे उसी माह में वैसी ही वर्षा होने का अनुमान लगाया जाता है। प्रकृति भी किसान का साथ देती है, कहा गया है-

'अक्का कोदो नीम वन, अम्मा मौरी धान।
जो पलाश फूले नहीं, बरसा नहीं निदान।।'

वन श्री फूलने से भी धन-धान्य का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् अकौआ के अच्छे फूलने पर कोदे, नीम के फूलने पर वन (कपास) और आम के अच्छे मौर आने पर धान की फसल अच्छी होगी पर यदि पलाश छेवला नहीं फूलता है तो

वर्षा कम ही होती है। उमड़ते-घुमड़ते बादलों की रंगत देख कर हमारे किसान वर्षा का अनुमान लगाते हैं-

'लाल बरसें ताल भर, कारे बरसें पारे भर।
श्वेत बरसे खेत भर, जब आवै धुआंधारे, एक होवें नदी नारे।
लाल पीले होय आकाश, तब छोड़ो बरसा की आस।'

यदि सूर्यास्त के समय आकाश में इंद्रधनुष दिखाई पड़ता है तब जानकार लोग कहते हैं-'उए मदान (इन्द्रधनुष)अथउती बेरा, जे देखो पानी घनघोरा।'

भारतीय किसान वास्तव में सफल वैज्ञानिक हैं जो सूर्य और चंद्रमा के रंग को देखकर मौसम का अनुमान लगा लेते हैं- **चंदा बैठो मातनों, सूरज बैठो मच्छ। ऐसो बोलै जोतसी, बांगर लोटे मच्छ।** अर्थात् रात में चंद्रमा के आसपास रंगीन घेरे (मातवान) हों और दिन में सूर्य के आसपास रंगीन घेरे हों तो समझो कि इतने जोर की वर्षा होगी कि बंजर जमीन में भी मगरमच्छ लोटने लगेंगे।

'दूर मातनों लिंगा पानी, लिंगा मातनों दूर पानी।'

जब दिन में बादल घिरकर, रात में आकाश में तारे छिटकते हैं तो लोककवि कह उठते हैं कि -

'दिन में बदरत, रात तरैयां। जानें ईसुर कौन करैयां।'

पुरवैया के बादलों को देख ग्रामबधू अपने पति से ठिठोली करती कहती है -

'गाड़ी वारे मसक दै बैल, अबै पुरवैया के बादल ऊनाए।
घालो घालो धर्म के दो-दो हाथ, पुरवैया के बादल ऊनाए।
कौना बदरिया ऊनई रसिया, कौना बरस रये मेह।
अग्गिम बदरिया ऊनी मोरे रसिया, पच्छिम बरसैं मेह।
गाड़ी वारे मसक दै बैल, अबै पुरवैया के बादल ऊनाए।'

रिमझिम फुहारों के बीच घिरे बादलों को देखकर कामनियों के गीत मन को मोहते हैं, उनका उल्लास देखते ही बनता है। कैसी भी उदासी हो, वर्षा के ये गीत मन को तरोताजा कर देते हैं। ये लोकगीत युगपरंपरा से सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग रहे हैं। इनमें नई स्फूर्ति, नए भाव, सत्य को अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता असीम तन्मयता, मिठास के साथ सरसता, सरलता का आभास मिलता है।

बरसात में जगह-जगह बजीर की गारियाँ गाते जनीं-मानष देखे जाते हैं। वैसे तो बजीर की गारिया बहुतायत में बारामासी पर केन्द्रित होती हैं। यहाँ वर्षा ऋतु पर केन्द्रित गारी देखिए -

'कैसी बज्जुर सी छाती किसान की,
खबर नैंयां जियऊ जान की।
बरसौ खूब मघन में पानी, निकर गयो खेतन में पानी,
हो रई खुशी सबै मनमानी।'

वर्षा ऋतु में शहरी व्यक्ति जहाँ ऊबता, ग्रीष्म की उष्णता से अकुलाता है। वहाँ गाँव के लोग मौज मस्ती में जीवन जीते हैं। गाँवों में नीम, आम, महुआ और वट के वृक्षों पर झूला डालकर नर नारी, बाल वृद्ध झूम झूमकर राछरे, सैरे, मंगादा गा-गाकर वातावरण आनन्ददायक बनाते हैं। सावन के महिने में बहिनें ससुराल से मायके आती हैं। कहीं-कहीं भाई बहिन को लिवाने जाता है। भाई कहता है-**'साउन कजरियाँ जबई बैहें, अपनी बहिनियां खों ल्याऊं लिवाय।'** जब भाई उसकी ससुराल पहुँच जाता है तब बहिन अपनी सास से पूछती हैं रसोई क्या बनायें। लोकगीत में कल्पना की उड़ान देखिए-

'सुनो सासो मोरे वीरन आये, उनें का रचौं जेउनार।
कुदयी पसा लेव कोदन की, और बटरा की दार।
रहन दो सासो, कुदयी कोदन खों, रहन दो बटरा की दार।
चांउर पसा लैहों मैं लांची के और रजमूंगा की दार।'

जब बरसात की झिरी लगती है तब लोकमन की हुलस लोकगीतों द्वारा बगरने लगती है। चौमासे में घर बखरी की तैयारियाँ देखिए-

'रित आयी मोरे बालम, लीला रंगाव।
चार जे मइना लगे बसकारे, टूटी उसरिया खों जल्दी छबाव।'

वर्षा ऋतु में उमंग और उल्लास सब जगह दिखाई देने लगता है। महिलाएँ, लड़कियाँ, छोटे लड़के, बच्चे सब खूब मस्ती करते हैं। चकरी भौंरा, चपेटा, बाँसुरी, झूला से मनोरंजन करते हुए हाथ में मेंहदी लगाकर अपने आपको सौभाग्यशाली बनाते हैं। वृक्षारोपण के लिए इस समय असाढ़-सावन मास में मुहूर्त नहीं देखना पड़ता। पेड़-पौधे लगाने की प्रेरणा देने वाले लोकगीत के स्वर देखिए-

'बखरी लगा लेउ बेला अनार,
कौना लगा लये, बेला चमेली, कौना लगा लये अनार।
कछिया लगा दये, बेला चमेली, मलिया लाल अनार।
खुरपी सें गोड़ो, बेला चमेली, कुदरन लाल अनार।'

बहिन भाई के त्यौहार का महीना सावन अपनी अलग रंगत बिखेरता है। **'झुलुआ डरा दे मैया मोरी, बाग में'**-बाग में झूला डालने की जिद करते बच्चों को देख माताएँ मन ही मन खुश

होती हैं। स्त्रियों के समूह झूला झूलते, कृष्ण–राधा के प्रेम गीतों को गाते हुए श्रृद्धा भक्ति का परिचय देते झूमते–गाते खुशी का इजहार करते हैं, देखिए एक लोकगीत –

'साउन महिना नीको लागे, गेंउड़े भई हरयाल।
साउन में भुजरियां बौ दिओ, भादों में दे दिओ सिराय।
ऐसो है कोऊ भैया धरमी, बहिनन खों लयो बुलाय।
आसों के साउना घर के करो, आगे के देहैं खिलाय।
सोने की नाँदें दूद भरी, सो भुजरियाँ लेऊ सिराय।'

बुन्देलखण्ड में वैसे तो हर पर्व उत्सव उत्साह से मनाया जाता है परन्तु सावन का महीना इनके लिए स्पेशल हो जाता है जब ये पृथ्वीराज की पराजय और बुन्देलखंडवासियों की विजय को याद करते हैं। बहिनें भुजरियाँ गीत गाती हैं। खेतों में कटाई के समय बिलवारी और दिनरी गीत गाते हुए किसान अपनी थकान भूल जाते हैं। सैरे गीतों के साथ राछरे और पँवारे भी गाये जाते हैं जिनका मुख्य स्वर वीरता और शौर्य है। इन गीतों से चंद्रावली के जौहर की साहसिक घटना का कारुणिक दृश्य हृदय को हिला देता है। अमान जू कौ राछरौ, प्रान धँधेरे कौ राछरौ, चंद्रावली कौ राछरौ, भुजाओं को फड़का देता है। इन्हें वीर काव्य कहते हैं जो कथात्मक होते हैं। घर–घर, चौपालों पर लोग एकत्र होते हैं और आल्हा गाते हैं। नाच गाना, पावस ऋतु के आनन्द में चार चाँद लगा देते हैं। ढीमर, काछी, गड़रिए, रावला गीत गाते हुए आसपास के वातावरण को मनोरम बना देते हैं –

'ढीमर कक्का ने फेंक दओ जाल, बीद गई जल मछली।
मोंड़ी मोंड़न कौ खुल गओ भाग, बीद गई जल मछली।
तनक डारें तेल और प्याज, छौंक दे जल मछली।
ल्याओ–ल्याओ फुलका चार, सूंत लेऊ जल मछली।'

ये लोकगीत हमें हमारी जड़ों एवं परम्परा से जोड़ने का कार्य करते हैं। लोक–लय से जीवन में रस आनन्द की वृद्धि होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने वर्षा द्वारा बादलों के उपकार को विशद ढंग से व्याख्यायित किया है–

'बरसहिं जलद भूमि नियराये, यथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बूँद आघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे।'

अर्थात् ये बादल भूमि पर गिर कर उसी प्रकार झुकते हैं जैसे कोई विद्वान विद्या प्राप्ति पर विनम्र हो जाता है। पानी की बूँदों का आघात ये पर्वत उसी तरह सहते हैं जैसे दुष्टों के दुर्वचन संत लोग सहन करते हैं। वर्षा ऋतु जहाँ प्रेम और सौंदर्य कोमल भावनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं वहीं गोस्वामी तुलसीदास जी ने सटीक नीतिपरक बात कही है। वहीं आधुनिक काल के कवि श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल जी की रचना वर्षा गीत देखिए, जिसमें वर्षा सुन्दरी का सुहागन रूप प्रस्तुत किया है –

'हरी चूनर पहनकर आ गई वर्षा सुहागन फिर।
कहीं वन बीच फूलों में पड़ी थी स्वप्न में सोई।
उलझते बादलों की लट पिया छलका गया कोई।
तिमिर ने राह कर दी सुखद कच्ची धूप सी धोई।
पवन की रागिनी मोती भरे आकाश में खोई।
पहन धानी लहरिया आ रही वर्षा सुहागन फिर।'

समग्र बुन्देलखण्ड में वर्ष भर लोक गीतों की रागिनी सुनकर बाल युवा वृद्ध सभी अपने समय का सदुपयोग करते हैं। कार्तिक माह में कतकारियों की भीड़ आस्था और विश्वास के साथ कृष्ण भक्ति के गीतों को सुनकर आह्लादित हो सकते हैं। एक महिने व्रत, उपवास, पूजा, अर्चना करते हुए कृष्ण भक्ति में लीन गोपियों के कृष्ण से सम्वाद करते गीतों का माधुर्य देखते ही बनता है। गीत के बोल देखिए –

'आ जाऊँगी बड़े भोर, दहीरा लेके, आ जाऊँगी बड़े भोर।
न मानो मटकी धर राखो, सबरे बिरज को मोल।
न मानो कुड़री धर राखो, मोती जड़े हैं करोर।
दहीरा लेके, आ जाऊँगी बड़े भोर।'

कृष्ण को मोर बहुत प्रिय हैं। गोपिया कृष्ण का सान्निध्य चाहती हैं और गाती हैं–

भई न बिरज की मोर, सखी री मैं तो भई न बिरज की मोर।

इसप्रकार बुन्देलखण्ड जनपद के लोकजीवन में भारत की आत्मा देखी जा सकती है। इन गीतों के अथाह भण्डार में हमें पूर्वजों के ज्ञान का प्रवाह, रीति–नीति, नियमों व सिद्धान्तों की परम्परा का परिचय मिलता है। गाँवों के लोगों का जीवन, सुख–दुख, कष्ट, सहिष्णुता, नेकी, स्वाभिमान, वीरता आदि के भाव वैश्विक जगत को प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर देते हैं। बुन्देलखण्ड के लोकगीत हमारी संस्कृति की रक्षा के सर्वोत्तम कवच हैं। इस धरोहर को सँजोने की आज महती आवश्यकता है।

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
पं. दीनदयाल उपाध्याय शासकीय
कला एवं वाणिज्य (अग्रणी)
महाविद्यालय
सागर- 470001 (म. प्र.)
मो. -9425693570

सामाजिक व राजनीतिक सिनेमा का व्यावहारिक अध्ययन

– रवि रंजन कुमार, प्रकाश पाल, मोनिका शर्मा

जन्म – 25 दिसंबर 1987।
जन्मस्थान – वेस्ट चंपारण (बिहार)।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

भारतीय सिनेमा की यात्रा देश के औपनिवेशिक काल से शुरू होती है। राजनीतिक दृष्टि से यह समय साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक शासनकाल का था। भारत अंग्रेजों का परतंत्र था लेकिन इसके साथ ही एक दूसरा सामाजिक व राजनीतिक यथार्थ भी था जिसे मैं ध्यान में रखना जरूरी समझता हूँ। जहाँ एक तरफ विदेशी शासन-व्यवस्था थी वहीं दूसरी तरफ भारत में सामंतवादी व्यवस्था भी थी। ये दोनों समानांतर व्यवस्थाएँ भारतीय जनमानस को गहरे तक जकड़े हुए थी। सामंती व्यवस्था राज्यसत्ता या शासन-व्यवस्था के रूप में ही जीवित नहीं थी बल्कि सामंतवादी मूल्यों के रूप में भी इसकी एक सांस्कृतिक सत्ता भारतीय समाज में गतिशील थी। इन त्रिकोणीय व्यवस्थाओं से भारतीय समाज की मानस निर्मिति हुई थी। अक्सर हम संचार माध्यमों को निरपेक्ष परिघटना के रूप में देखते हैं। यह मानकर चलते हैं कि लोकमाध्यमों से लेकर इलेक्ट्रॉनिक माध्यम तक के संचार माध्यम कालनिरपेक्ष, समाजनिरपेक्ष होते हैं। वह अपने समय की सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक-टेक्नोलॉजी प्रक्रियाओं के प्रभावों से अछूते रहते हैं। इन बहुआयामी प्रक्रियाओं के प्रभाव जगत से संचार माध्यमों का कोई सरोकार नहीं होता है। सिनेमा को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है।

सिनेमा भी अन्य कलाओं की भाँति सामाजिक संरचना और व्यक्तियों की समस्याओं से सीधा जुड़ा है। कला के इस रूप में कहानी, गीत, भाव, सुन्दरता, मनमोहक दृश्य, संगीत तथा नृत्य आदि का मिला-जुला संगम होता है, जिसे चलचित्र की सहायता से समाज को सुलभ तरीके से दिखाया जा सकता है।' भूमण्डलीकरण की स्थिति में भी सिनेमा किसी भी देश-समाज की सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है।' इसका अर्थ यह हुआ कि संचार माध्यम और भौतिक संरचनात्मक परिवर्तन दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। पर ऐसा नहीं है। इतिहास के अनुभव इस बात की तस्दीक करेंगे कि सिनेमा समेत संचार के शेष सभी माध्यम स्थिति सापेक्ष होते हैं, तत्कालीन और समकालीन घटनाओं का उन पर कम अधिक प्रभाव पड़ता है बल्कि समकालीन सापेक्षता ही संचार माध्यमों का चरित्र, प्रभावशीलता और प्रासंगिकता निर्धारित करती आई है। इस दृष्टि से भारतीय सिनेमा भी इस सच का अपवाद नहीं है। साफ शब्दों में समझें तो सिनेमा तथा अन्य सभी माध्यमों का स्वतंत्र कार्य-अस्तित्व रहने के बावजूद ये सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के 'बाई प्रोडक्ट' ही कहे जाएँगे। किसी भी राष्ट्र-राज्य की 'राजनीतिक-आर्थिक, व्यवस्था' (पॉलीटिकल इकोनॉमी) का प्रत्यक्ष व परोक्ष तथा सघन व गहन प्रभाव इन माध्यमों पर पड़ता आया है और ये प्रभाव माध्यमों द्वारा संप्रेषित अंतर्वस्तुओं के माध्यम से प्रतिबिंबित या अभिव्यक्त होता है। हमें यहाँ यह भी समझ लेना होगा कि भारत एक तरफ गहरे तक कृषियुगीन समाज था, कृषियुगीन समाज मूलत: भावनात्मक होता है और मिथकीय आख्यानों में समाया हुआ होता है। विदेशी शासन-व्यवस्था ने तत्कालीन भारत को केवल सतह तक प्रभावित किया था लेकिन भारतीय समाज का अंतर्जगत कमोबेस भावनाप्रधान व मिथकीय ही रहा। यह अकारण नहीं है कि बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक होता है। हिंदी में ही नहीं, बल्कि दक्षिण की भाषाओं और बाँग्ला में भी धार्मिक फिल्में अधिक बनी। यहाँ तक कि सवाक फिल्मों में भी धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक हुआ था।

देश की पहली बोलती फिल्म या सवाक फिल्म 'आलम आरा' का निर्माण 1931 में हुआ था। यह भी अकारण नहीं है कि कृषिप्रधान और औपनिवेशिक समाज मूलत: पौराणिकता और रूमानियत में जीते हैं। जब पौराणिकता और रूमानियत का प्रभाव अधिक होता है तब समाज ऐसे आख्यानों में रमना पसंद करता है जो कि उसे आलोचनात्मक चेतना से दूर रखकर एक ऐसी मायानगरी में ले जाए जहाँ वह अपने जीवन की समकालीन पीड़ाओं, दु:खों, त्रासदियों आदि से मुक्ति (पलभर के लिए ही सही) पा सके और एक छद्म आध्यात्मिकता का आनंद लूट सके। इस मजे के लिए वह समकालीन कटु यथार्थों से वह पलायन करता है और धार्मिक, पौराणिक, चमत्कारिक, इश्क मिजाजी जैसी फिल्मों में शरण लेता है। आजादी

प्राप्ति के काल तक हरिश्चंद्र के अलावा भगवान राम, भक्त प्रह्लाद, भक्त हनुमान, भरत मिलाप, दशहरा, रावण वध, बालि वध, लव-कुश, कृष्ण-सुदामा, राधा-कृष्ण, कंस वध, द्रौपदी चीरहरण, कृष्ण लीलाएँ, सती सावित्री, सती अनुसूइया जैसे विषयों को लेकर दर्जनों धार्मिक फिल्मों का निर्माण हुआ। इसी के साथ-साथ रूमानियत के सिनेमा का बाजार भी चमका। इस कड़ी में 'आलम आरा, अलिफ लैला, अरब का सौदागर, लैला मजनूँ, अली बाबा चालीस चोर, बगदाद का चोर, बगदाद की राजकुमारी, सोहनी माहीवाल, हीर राँझा, भोला-मारू' जैसी प्रेम कथाओं को लेकर सैकड़ों फिल्में बनाई गईं और इनमें कई हिट भी हुईं। जब कोई व्यक्ति या समाज या कौम या देश दासत्व का शिकार होता है या पराधीन होता है तब उसका आंतरिक प्रतिरोध नकारात्मक ढंग से भी अभिव्यक्त होता है। यह नकारात्मक अभिव्यक्ति पौराणिक नायक-नायिकाओं, प्रेमी-प्रेमिकाओं, पौराणिक युद्धों के माध्यम से व्यक्त होती है। गुलाम प्रजा इन पौराणिक तथा रोमानी पात्रों के माध्यम से अपने आक्रोश और शौर्य को वाणी देने की कोशिश करती है। इस धारा के सिनेमा निर्माताओं, निर्देशकों, पटकथा लेखकों और संगीतकारों ने सामंती व औपनिवेशिक भारत की इस मनोसंरचना का जमकर फायदा उठाया लेकिन इसके साथ ही परोक्ष रूप से भारतीयों को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोने का प्रयास भी किया।

यह वह काल था जब महात्मा गाँधी राष्ट्रीय मंच पर स्थापित हो चुके थे। स्वतंत्रता आंदोलन तेज होने लगा था। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस राष्ट्र की आवाज बनने जा रही थी। इसी काल में जालियाँवाला बाग कांड हुआ, सिविल नाफरमानी आंदोलन चला, चौरा-चौरी हिंसा हुई, भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू की शहादत हुई, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, मोहम्मद अली जिन्ना, मौलाना आजाद जैसे नेता समाज के विभिन्न वर्गों के नायक के रूप में उभरे। इसी दौर में 'प्रगतिशील लेखक संघ', 'इप्टा' जैसे सांस्कृतिक प्रगतिशील आंदोलन अस्तित्व में आए। यहाँ यह भी समझ लेना प्रासंगिक रहेगा कि 1917 में रूस की क्रांति ने भी जहाँ भारतीय राजनीतिज्ञों को प्रभावित किया वहीं संस्कृतिकर्मी और बौद्धिकों की जमात भी अक्टूबर क्रांति से अछूती नहीं रह सकी। कला, संस्कृति, साहित्यिक, नाटक, सिनेमा जैसे माध्यमों पर इस ऐतिहासिक क्रांति की छाप साफ तौर पर देखी जा सकती है। सवाक भारतीय सिनेमा में नए सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक मुद्दे उठने लगे। इन मुद्दों को आधार बनाकर अनेक गैर-पौराणिक व रोमानी फिल्मों का निर्माण किया गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि समाज बदलने लगता है तो संचार माध्यम भी उससे अछूते नहीं रहते हैं। देश में आंदोलन संस्कृति फूटने लगी भारतीयों में स्व-अस्मिता का भाव जाग्रत होने लगा और राष्ट्र राज्य के निर्माण की चेतना अंकुरित होने लगी। सिनेमा कर्मियों ने अपने-अपने ढंग से उभरती हुई प्रवृतियों और विमर्शों को पकड़ने की कोशिश की। यह अकारण नहीं था कि महबूब खाँ ने 'औरत' बाद में 'मदर इंडिया' के नाम से बनी फिल्मों में कृषि समाज की महाजनी अर्थव्यवस्था और तदजनित अंतर्विरोधों को प्रस्तुत किया। इसके साथ ही भारतीय कृषि समाज में औरत की क्या हैसियत है, इसे भी सामने रखा। यह कहना होगा कि जहाँ पौराणिक भारतीय नारियों ('सीता', 'सावित्री', 'तारावती', 'दुर्गा' आदि) की फिल्मों में भरमार थी वहीं महबूब खाँ ने भारतीय स्त्री की यथार्थवादी स्थिति को चित्रित किया। किसान समस्या से संबंधित कई और भी फिल्में बनीं। उदाहरण के लिए उत्तर औपनिवेशिक भारत में बिमल रॉय ने बहुत ही सशक्त फिल्म 'दो बीघा जमीन' का निर्माण कर देश के संक्रमणकालीन द्वंद्वों को उजागर किया। 1953 में बनी ये फिल्म देश के बदलते राजनीतिक-आर्थिक दौर को सामने रखती है और बतलाती है कि औद्योगिकीकरण कृषियुगीन भारत से किस प्रकार की कीमत वसूल करेगा; भूमि का विलगन; सीमांत किसानों का खेतों से बेदखल होना, गाँवों से पलायन; विस्थापन व भूमिहीनता तथा शहरी सर्वहारा में किसान का तब्दील होना; पारंपरिक भू स्वामी या जमींदार और शहरी पूँजीपति का जन्म लेता गठबंधन जैसी प्रवृत्तियाँ नेहरूयुगीन समाजवाद की विसंगतियों को उघाड़ती हैं। यहाँ यह याद दिलाना मौजूँ रहेगा कि पाँचवें दशक में ही आदिवासी अंचलों में (बस्तर, भिलाई, दुर्ग, छोटा नागपुर, राँची आदि) औद्योगिक सभ्यता ने अपनी घुसपैठ की लंबी यात्रा की शुरुआत की थी। यह वह दौर भी जब मानव और मशीन के बीच प्रतिस्पर्धा तेज होने लगी थी, मशीन मानव को प्रतिस्थापित करने पर तुली हुई थी। इसका खूबसूरत फिल्मांकन बी.आर.चोपड़ा की फिल्म, 'नया दौर' में देखा जा सकता है। इसी प्रकार राजकपूर द्वारा अभिनीत 'जागते रहो' में भी गाँवों से गमन और शहर में ग्रामीण हिंदुस्तानी का हाशियाकरण व हताशाकरण सामने आता है।

इसी संक्रमणकालीन भारत के अंतर्विरोधों को ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपने फिल्म 'शहर और सपना' में भी प्रभावशाली ढंग से सामने रखा है। वामपंथी अब्बास बतलाते हैं कि एक महानगर का निर्माण किस प्रकार मानवीय मूल्यों के दम पर किया जाता है। महानगर की संस्कृति किस तरह से संवेदनाशून्य होती है और किस प्रकार के नारकीय जीवन को जन्म देती है। स्वाधीन भारत के तेजी से होते शहरीकरण और महानगरीकरण की विद्रूपताएँ 'श्री 420, बूट पॉलिश, जागते रहो, फिर सुबह होगी' जैसी फिल्मों में देखने को मिलती है। इन्हीं विद्रूपताओं का मेगा संस्करण बीस पच्चीस साल

बाद बनी फिल्मों ('सत्या', 'कंपनी, सरकार, हथियार, त्रिशूल, अग्निपथ' आदि) में देखने को मिलता है। अब यदि भारतीय राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्य की फिल्म बनाई जाए तो वह इससे भिन्न नहीं होगी। उदाहरण के लिए विगत दो दशकों में सबसे अधिक महाघोटालों ने इस राष्ट्र-राज्य को पूरी तरह से हिलाकर रख दिया है। इसी दौर में अपराध पृष्ठभूमि के निर्वाचित प्रतिनिधि विधायिका में पहुँचे, इनका प्रतिशत 30 तक हुआ। इतना ही नहीं, 'आया राम गया राम' के नवीनतम संस्करण सामने आए। करोड़पतियों की तादाद संसद और विधानसभा में कई गुणा बढ़ी।

इस कुरूप यथार्थ का चित्रण 'राजनीति, सरकार, गंगाजल, अपहरण, सत्याग्रह, नायक' जैसी फिल्मों में शिद्धत के साथ दिखाई देता है। गौरतलब यह भी है कि भारतीय सिनेमा समाज के परिवर्तनशील यथार्थ के साथ कदमताल मिलाकर चलता रहा है। पाँचवें दशक तक जहाँ भारतीय स्त्री को निरीह, अबला, पतिता, कुलटा, डायन, छिनाल जैसे अपमानजनक संबोधनों से जड़ा जाता था, वहीं कालांतर में स्त्री के अस्तित्व, और अस्मिता को भी पुरजोर तरीके से स्थापित किया गया। याद कीजिए स्वाधीनता के आरंभिक वर्षों में बनी 'पतिता, धूल का फूल, साधना, एक ही रास्ता, धर्मपुत्र' जैसी फिल्मों को जिसमें अर्द्धसामंती व अर्द्ध औपनिवेशिक भारत की स्त्री की कशमकश, शुचिता, पुरुष प्रधान समाज की वर्चस्ववादी व्यवस्था जैसे पहलुओं का चित्रांकन किया गया था लेकिन बाद के दशकों में बनी फिल्मों में भारतीय स्त्री का नया रूप सामने आता है। इस दृष्टि से 'अर्थ, अस्तित्व, क्या कहना, मातृभूमि, बैडिंट क्वीन, मंडी, दामिनी, पिंजर, चक्र , मम्मो, जुबैदा, चाँदनी बार, गॉड मदर, गजगामिनी, भूमिका, लज्जा' जैसी फिल्में उल्लेखनीय हैं। इन फिल्मों में उत्तर नेहरूकालीन तथा इंदिरा-राजीवकालीन भारत की स्त्री का एक नया रूप उभरता हुआ मिलता है जो कि अस्तित्व व अस्मिता बोध, प्रतिरोध और विद्रोह से रूपायित हुआ है।

21वीं सदी की भारतीय स्त्री सामंती संस्कारों, सोच और पुरुष की वर्चस्व सत्ता को सीधे ललकारती है। वह एक नए विमर्श को जन्म देती है जिसमें स्त्री-पुरुष की समानता व स्वतंत्रता की उत्कंठा छितराई हुई है। किसी को भी अपना शुरुआती इतिहास मालूम नहीं रहता है। यहाँ यह भी देखा जाता है कि स्त्री-पुरुष की समानता का नहीं है बल्कि मुद्दा यह है कि सिनेमा बदलते भारत के द्वंद्वों और प्रवृत्तियों को किस प्रकार अपनी भाषा के माध्यम से अभिव्यिक्ति देता है क्योंकि एक नया सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ भारतीय फलक पर उभर रहा था। एक तरफ गाँधीवाद और समाजवाद की विचारधाराएँ अपनी जौहर दिखा रही थी तो दूसरी ओर हिंदू-मुस्लिम संबंध नई करवटें ले रहे थे; जहाँ भारत को दो सौ वर्ष की पराधीनता से आजादी दिलाने का आंदोलन जारी था वहीं इस विभाजन की भी तैयारियाँ चल रही थीं; भारतीय समाज के आंतरिक उपनिवेश (दलित व आदिवासी) के सुप्त अंतर्विरोध धीरे-धीरे चमकने लगे थे; स्वदेशी और पश्चिमी जीवन दृष्टियों के बीच टकराहटें उभरती जा रही थीं इन तमाम प्रकार के अंतर्विरोधों को सैलूलाइड पर उतारना भारतीय सिनेकर्मियों के लिए एक बड़ी चुनौती थी; लेकिन इससे भारतीय सिनेमा ने पलायन नहीं किया बल्कि अपनी तत्कालीन प्रतिभा और सिनेमा तकनीकी क्षमता के साथ इसका सामना किया।

जैसे-जैसे आंदोलन तेज होता गया वैसे-वैसे विभिन्न राष्ट्रीय धाराओं को लेकर फिल्में बनती गईं। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर 'शहीद' जैसी फिल्म बनी। इसी प्रकार अस्पृश्यता की समस्या को लेकर 'अछूत कन्या', 'सुजाता', 'नीचा नगर' जैसी फिल्में भी बनती हैं। इसके साथ ही संस्था के रूप में पतनशील सामंतवाद को लेकर भी कई फिल्में बनी जिनमें प्रमुख थी गुरुदत्त की 'साहब, बीबी और गुलाम'। श्रमिक वर्ग की समस्याओं को लेकर भी फिल्में बनाई गईं। श्रमिक वर्ग के संघर्ष को 'समाज को बदल डालो', 'नया जमाना', 'पैगाम', 'सत्यकाम', 'नमक हराम', 'काला सोना' जैसी फिल्मों में देखा जा सकता है। श्रमिक आंदोलन से संबंधित फिल्मों में गाँधीवादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। आगे चलकर भी स्वातंत्र्योत्तर भारत में इसी प्रकार की कई फिल्में बनीं जो कि किसी न किसी रूप में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धताओं को दर्शाती हैं। इन फिल्मों में 'दो आँखें बारह हाथ, सत्यकाम, जागृति, अंकुर, निशांत, आक्रोश, मृगया, दामुल, अल्बर्ट पिंटों को गुस्सा क्यों आता है, मोहन जोशी हाजिर हो, द्रोहकाल' जैसी सैलूलाइड कृतियों को शामिल किया जा सकता है।

भारत महाविभाजन की त्रासदी से गुजरा। अथाह कोशिशों के बावजूद स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व हिंदू-मुस्लिम संबंधों को एक समान कौम की शक्ल देने में ऐतिहासिक रूप से नाकाम रहा है। हिंदी सिनेमा ने इस त्रासदी को भी समझने की कोशिश की, कुछ गंभीर फिल्में बनीं जिनमें 'गरम हवा, तमस, ट्रेन टू लाहौर, धर्म पुत्र, पिंजर' आदि फिल्मों को याद किया जा सकता है। हालाँकि आजाद भारत में हिंदू-मुस्लिम संबंधों के अलावा विभाजन से उत्पन्न दक्षिण एशिया के महास्थापन पर भी दर्जनों बॉलीवुड फिल्में बन चुकी हैं। इन फिल्मों में विभाजन का सतही ट्रीटमेंट है फिर भी बॉक्स ऑफिस पर हिट फिल्मों में 'वक्त', 'छलिया' जैसी

फिल्मों को याद किया जा सकता है। हिंदू–मुस्लिम संबंधों पर दर्जनों फिल्में बन चुकी हैं जिनमें मुगलकालीन पृष्ठभूमि पर बनी ऐतिहासिक फिल्में भी शामिल हैं। इन फिल्मों में जहाँ सिनेमाई ऐतिहासिकता दिखाई देती है वहीं सतही स्तर पर या रोमांटिक तर्ज में हिंदू–मुस्लिम संबंधों को भी परोसा गया है। इस तरह की फिल्में हैं– 'तानसेन, मुगले आजम, शाहजहाँ, हुमायूँ, जोधा अकबर, गोलकुंडा का कैदी, लालकिला, उमरावजान, शतरंज के खिलाड़ी, मेरे महबूब, चौदहवीं का चाँद, बाजार, बरसात की एक रात, धर्मपुत्र, आसमान महल, दस्तक, नसीम, बहू बेगम, अमर अकबर एंथोनी, सरफरोश, फिजा, पाकीजा, वीरजारा' आदि। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वाधीन भारत में उस मुस्लिम वर्ग का फिल्मांकन किया गया जो कि सामंती पृष्ठभूमि से था, अल्पसंख्यक वर्ग के निचले तबकों की उपस्थिति बहुत कम दिखाई गई। वैसे पिछले कुछ वर्षों से बंबईया फिल्मों में विभिन्न प्रकार के अपराधों में संलिप्त निम्न मुस्लिम वर्ग को जरूर चित्रित किया जा रहा है जो कि गैर नवाबी मुस्लिम समाज की आधी–अधूरी या विकृत तस्वीर पेश करता है। अधिसंख्य मुस्लिम समाज तेजी से बदल रहा है। मुस्लिम समाज का नवउदित मध्य वर्ग व निम्न मध्य वर्ग भी भारतीय राष्ट्र राज्य में अपना गरिमापूर्ण स्थान पाने और राष्ट्र निर्माण में अपना सक्रिय योगदान देने की दृष्टि से वैसी ही भूमिका निभा रहे हैं जिस प्रकार बहुसंख्यक समाज के वर्ग निभाते हैं। हिंदी सिनेमा को अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति नई दृष्टि और संवेदनशीलता से काम लेने की जरूरत है। 'बच्चे सिनेमा तो देखें, लेकिन उसका अंधानुकरण न करें।'

विगत ढाई–तीन दशकों में नए विमर्श सामने आए हैं। सिनेमा ने इनकी अनदेखी नहीं की है, यह सच है। उदाहरण के लिए 'मुन्ना भाई एमबीबीएस, लगे रहो मुन्ना भाई, हे राम, थ्री ईडियट, तारे जमीं पर, पा, खामोशी, ब्लैक, माचिस, स्वदेश आ अब लौट चलें, रांझणा, मद्रास कैफे, पीपली लाइव, ट्रेफिक सिग्नल, रंग दे बसंती, वेडनसडे, पान सिंह तोमर, हजारों ख्वाहिशें ऐसी, गैंग ऑफ वासेपुर' जैसी फिल्मों में हिंदी सिनेकर्मियों ने 21वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में गतिशील भारत की अधुनातन प्रवृत्तियों का फिल्मांकन किया– 'आजादी के बाद एक–दूसरे के बीच वैमनस्य की नींव पड़ गयी जो देश कि राष्ट्रीयता एवं संस्कृति के लिए बड़ा खतरा था।'

आज भारत भूमंडलीकरण के तीसरे चरण की दहलीज पर खड़ा हुआ है। एक प्रकार का अदृश्य साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद दक्षिण एशिया को घेरे हुए है। विश्व में एकल ध्रुवीय शक्ति तंत्र की सत्ता फैली हुई है। सभ्यताओं के टकराव और संघर्ष के नए क्षेत्र निर्मित होते जा रहे हैं। सुदूर संचालित साम्राज्यवादी शक्तियाँ नए मानव संबंधों को जन्म दे रही हैं जो कि पूरी तौर पर अनुकूलित और एकरूपी बनने के संकटों के साये में पल रहे हैं। राष्ट्रों की संप्रभुता विखंडित हो चुकी है और कारपोरेट राज्यी परंपरागत राज्य को प्रतिस्थापित करने पर कटिबद्ध है। जाहिर है कि इस तरह की स्थितियाँ समाज में कल्पनातीत परिस्थितियों को जन्मा देगी। एक नया राजनीतिक–आर्थिक विमर्श मानव सभ्यता को ललकारने के लिए तैयार खड़ा है। जब आज भारतीय सिनेमा की एक सदी मनाई जा रही है तब सिनेकर्मियों और चिंतकों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे हाइटेक सिनेमा के माध्यम से भविष्य के मानव का संत्रास किस प्रकार पढ़ते हैं।

आज यह भी देखा जाता है कि स्त्री–पुरुष की समानता का नहीं है बल्कि मुद्दा यह है कि सिनेमा बदलते भारत के द्वंद्वों और प्रवृत्तियों को किस प्रकार अपनी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है क्योंकि एक नया सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ भारतीय फलक पर उभर रहा था। आज के समय में लोगों की नैतिकता का पतन होता जा रहा है। एक व्यकि दूसरे व्यक्ति न तो परवाह करता है और न ही उसकी चिंता ऐसी स्थिति में हिंसा, दुष्कर्म का बढ़ावा स्वाभाविक है। हिन्दी सिनेमा स्वयं इसी तरह के भाव को बढ़ावा देने वाली फिल्में बना रहे हैं। आज के अध्ययन के अनुसार पता चलता है कि कुछ में यह विषय के साथ सीधे–सीधे जुड़े होते हैं। इसी कारण से सिनेमा को एक चमत्कार की तरह माना गया है। सिनेमा जो व्यक्ति देखता है उसके मस्तिष्क की सोचने की क्षमता को बहुत को बहुत गहरे तक प्रभावित करती है। इस लिए सिनेमा जगत में जिम्मेदारी बनती है कि मनोरंजन को ध्यान में रखते हुये मनोरंजन का नजरिया निर्माण पर भी ध्यान दें। किसी भी विषय को मनोरंजन कहकर दर्शकों को न परोसे क्योंकि जो आज मजाक लग रहा है, कल वही वास्तविकता का रूप ले सकता है।

अस्वीकरण
जैसा कि इस रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है, अध्ययन के विषयों और/या अध्ययन के विषय से जुड़े किसी अन्य पहलू के संबंध में अनुसंधान दल के किसी भी सदस्य के हितों का कोई टकराव नहीं हुआ है। यह संपूर्ण अनुसंधान टीम के सर्वोत्तम ज्ञान और विश्वास के अनुसार सत्य है।

सहायक आचार्य एवं
अध्यक्ष (प्रभारी) समाज कार्य विभाग
राजीव गांधी विश्वविद्यालय,
रोनो हिल्स, दोईमुख–791112 (अरुणाचल प्रदेश)
मो.–91–8210929285

पालि भाषा एवं साहित्य की विकास यात्रा

– विवेक वर्धन

जन्म – 20 नवंबर 1994।
जन्मस्थान – पटना (बिहार)।
शिक्षा – परास्नातक, बी.एड.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से संसार ने सबसे पहले मनुष्यता सीखी, जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्वप्रथम आलोक पड़ा, उसी से पालि साहित्य का भी उदय हुआ। तथागत की सम्यक सम्बोधि ही पालि साहित्य का आधार है। जिस दिन भगवान ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसके बीच उन्होंने जो कुछ, जहाँ कहीं, जिस किसी से कहा, उसी के संग्रह का पर्यंत पालि त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटक या तीन पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में बुद्धवचन संग्रहीत किए गए हैं, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त हैं। उपर्युक्त तीन पिटकों या पिटारियों के नाम हैं, सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक।

ईसा पूर्व छठी शती में भगवान बुद्ध के उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है, जिसे त्रिपिटक कहते हैं। तीनों पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी आ गया है, जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, दीर्घनिकाय के सामंञफलसुत्त, ब्रह्मजालसुत्त एवं महापरिनिब्बानसुत्त **(उपाध्याय, भरत-सिंह, पालि-साहित्य का इतिहास, पृ. 12)** में बुद्ध के समसामयिक धर्मप्रवर्तकों जैसे मंखलिगोसाल, पकुधकच्चायन, अजितकेसकंबलि, संजयबेलट्ठिपुत्त निगंठनातपुत्त, आदि के आचार-विचारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म संप्रदायों की बौद्ध दृष्टि से आलोचना पायी जाती है और साथ ही उन-उन विषयों पर बौद्ध मान्यता का प्रतिपादन भी पाया जाता है। सामाजिक चित्रण सुत्तपिटक में बिखरा पड़ा है, तथापि खुद्दकनिकाय के अंतर्गत जातकों में इसकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। सुत्तों में स्थान-स्थान पर बुद्धकालीन मगध, विदेह, कौशल, काशी आदि 16 महाजनपदों के राजाओं उनके परस्पर संबंधों एवं लड़ाई-झगड़ों और दाँव-पेंचों के उल्लेख भरे पड़े हैं। सुत्तों के उपदेशों में जिस बौद्ध आचार के संकेत पाए जाते हैं, उन्हीं के भिक्षुओं के योग्य सदाचार के नियमों के रूप में विधि-निषेध-प्रणाली से व्यवस्था विनय पिटक में भी की गई है। इसी प्रकार सुत्तों में जिस तत्त्वचिंतन के बीज सन्निहित हैं, उनका दार्शनिक शब्दावली में सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादन और विवेचन अभिधम्मपिटक में किया गया है। इस परस्पर आनुशंगिकता के कारण बौद्धधर्म का पूरा सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित परिज्ञान बिना त्रिपिटक के अवलोकन के नहीं हो सकता। यह पालि त्रिपिटक विषय की दृष्टि से स्वयं बुद्ध भगवान के उपदेशों पर आधारित है। उपलब्ध ग्रंथ रचना की दृष्टि से ई. पूर्व तृतीय शताब्दी से पश्चात् का सिद्ध नहीं होता। बौद्ध परम्परानुसार अशोक सम्राट के काल में ही उनके पुत्र महेंद्र स्वयं बौद्ध भिक्षु बनकर इस साहित्य को लंका ले गए और वहाँ प्रथम शती ई. में राजा बट्टगामणी के राज्यकाल में उसे वह लिखित रूप प्राप्त हुआ जिसमें वह आज हमें मिलता है। तथापि उसमें ऐसी कोई बात हमें नहीं मिलती जो बीच की दो-तीन शताब्दियों के काल में लंका की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उसमें आई कही जा सके। **(शास्त्री, इन्द्रचन्द्र, पालि भाषा और साहित्य, पृ. 28)**

विनयपिटक :- विनयपिटक का विषय भिक्षुओं के पालन योग्य सदाचार के नियम उपस्थित करना है। इसके तीन अवांतर

विभाग हैं–सुत्तविभंग, खंधक और परिवार। खंधक के पुन: दो उपविभाग हैं–महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार अपने इन उपविभागों की अपेक्षा विनयपिटक पाँच भागों में विभक्त है। **(खुद्दकपाठ (सम्पादक) अजय कुमार मौर्य एवं भिक्षु धर्मप्रिय थेरो धर्म चक्र विहार अर्न्तराष्ट्रीय मूल बौद्ध शिक्षा शोध संस्थान, पृ. 2)**

सुत्तपिटक :- सुत्तपिटक अपने विषय, विस्तार तथा रचना की दृष्टि से त्रिपिटक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें ऐसे सुत्तों का संग्रह किया गया है जो परंपरानुसार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के कहे हुए हैं या उनके साक्षात् शिष्य द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनका अनुमोदन स्वयं भगवान बुद्ध ने किया है। सुत्त का संस्कृत रूपांतर सूत्र किया जाता है। किंतु प्रस्तुत सुत्तों में सूत्र के वे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जो संस्कृत की प्राचीन सूत्ररचनाओं, जैसे वैदिक साहित्य के श्रौत सूत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्र आदि में पाए जाते हैं। सूत्र का विशेष लक्षण है अति संक्षेप में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना। उसमें पुनरुक्ति का सर्वथा अभाव अविद्यमान है। किन्तु यहाँ संक्षिप्त शैली के विपरीत सुविस्तृत व्याख्यान तथा मुख्य बातों की बार-बार पुनरावृत्ति की शैली अपनाई गई है। इस कारण सुत्त का सूत्र रूपांतर उचित प्रतीत नहीं होता। विचार करने से अनुमान होता है कि सुत्त का अभिप्राय मूलत: सूक्त से रहा है। वेदों के एक-एक प्रकरण को भी सूक्त ही कहा गया है। **(दीर्घनिकाय (अनुवादक) भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, लखनऊ: पृ. 48)** किसी एक बात के प्रतिपादन को सूक्त कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। सुत्तपिटक के पाँच भाग हैं, जो इस प्रकार हैं-दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय।

दीर्घनिकाय तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम सीलक्खंधवग्ग में 13 सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में 10 तथा तीसरे पाथिकवग्ग में 11। इस प्रकार दीर्घनिकाय में 34 सुत्त हैं। ये सुत्त अन्य निकायों में संगृहीत सुत्तों की अपेक्षा विस्तार में अधिक लंबे हैं और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है। **(धम्मपदं सम्पादक राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन व जगदीश काश्यप, पृ. 8)**

मज्झिमनिकाय में मध्यमविस्तार के 152 सुत्त हैं जो 15 वर्गों में विभक्त हैं-(1) मूलपरियाय (2) सीहनाद (3) ओपम्म (4) महायमक (5) चूलयमक (6) गहपति (7) भिक्खू (8) परिव्वाजक (9) राज (10) ब्राह्मण (11) देवदह (12) अनुपद (13) सुंञता (14) विभंग और (15) षडायतन। इनमें से 14वें वर्ग विभंग में 12 सुत्त हैं और शेष सब में दस-दस। **(मज्झिमनिकाय अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, पृ. 36)**

संयुक्तनिकाय में छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है। इसमें कुल 56 सुत्त या संयुक्त हैं जो इन पाँच वर्गों में विभाजित हैं-(1) सगाथ (2) निदान (3) खंध (4) षडायतन और (5) महावग्ग। **(मिलिन्द-प्रश्न; अनुवादक, भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ. 22)**

अंगुत्तरनिकाय की अपनी एक विशेषता है। इसमें सुत्तों का संग्रह एक व्यवस्था के अनुसार किया गया है। आदि में ऐसे सुत्त हैं जिनमें बुद्ध भगवान के संख्यात्मक पदार्थों विषयक उपदेशों का संग्रह है, तत्पश्चात् दो पदार्थों विषयक सुत्तों का और फिर तीन, चार आदि। इसी क्रम से इस निकाय के भीतर एककनिपात, दुकनिपात एवं तिक, चतुवक, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक और एकादसक इन नामों के ग्यारह निपातों का संकलन है। ये निपात पुन: वर्गों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या निपात क्रम से 21, 16, 16, 26, 12, 9, 9, 9, 22 और 3 है। इस प्रकार 11 निपातों में कुल वर्गों की संख्या 169 है। प्रत्येक वर्ग के भीतर अनेक सुत्त हैं जिनकी संख्या एक वर्ग में कम से कम 7 और अधिक से अधिक 262 है। इस प्रकार अंगुत्तर निकाय से सुत्तों की संख्या 2308 है। **(विनयपिटक, अनुवादक, राहुल सांकृत्यायन, पृ. 16)**

खुद्दकनिकाय में विषय तथा रचना की दृष्टि से प्राय: सर्वथा स्वतंत्र 15 रचनाओं का समावेश है, जिनके नाम हैं - (1) खुद्दकपाठ (2) धम्मपद (3) उदान (4) इतिवुत्तक (5) सुत्तनिपात (6) विमानवत्थु (7) पेतवत्थु (8) थेरगाथा (9) थेरीगाथा (10) जातक (11) निद्देस (12) पटिसंभिदामग्ग (13) अपादान (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक। **(विभंगपालि, सम्पादक भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ. 12)**

अभिधम्मपिटक :- पालि त्रिपिटक के तीसरे भाग अभिधम्मपिटक में भगवान बुद्ध के दर्शनात्मक विचारों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है तथा तात्विक दृष्टि से उनकी सूचियाँ और परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। इस पिटक में निम्न सात ग्रंथों का समावेश है- (1) धम्मसंगणि (2) विभंग (3) कथावत्थु (4) पुग्गलपंञत्ति (5) धातुकथा (6) यमक और (7) पठ्ठान। (**सुत्तनिपात, सम्पादक तथा अनुवादक, डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, पृ. 9**)

धम्मसंगणि उसकी मातिका (विषयसूची) के अनुसार दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 22 तिक हैं जिनमें से प्रत्येक में तीन-तीन विषयों का विवेचन किया गया है। दूसरे विभाग में 100 दुक हैं और प्रत्येक दुक में विधान और निषेध रूप से दो -दो विषयों का प्रारूपण किया गया है। ये दुक 12 वर्गों में विभाजित हैं जिनके नाम हैं- (1) हेतु (2) प्रत्ययादि (3) आश्रव (4) संयोजन (5) ग्रंथ (6) ओध (7) योग (8) नीवरण (9) परामर्श (10) विस्तृत मध्यम दुक (11) उपादान और (12) क्लेश। **(उपाध्याय, भरत-सिंह, पालि-साहित्य का इतिहास, पृ. 19)** इस प्रकार धम्मसंगणि के तिकों और दुकों की संख्या 122 है। इनमें से प्रथम तिक कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मविषयक है, जो सबसे महत्त्वपूर्ण है और उसके विषय का प्रारूपण (1) चित्तुपपाद (2) रूप (3) निक्क्षेप और (4) अत्थुद्धार इन चार कांडों में किया गया है।

विभंग की विषयवस्तु 18 विभागों में विभाजित है। (**वही, पृ. 28**)

कथावत्थु में 23 अध्यायों के भीतर 216 प्रश्नोत्तर हैं जिनमें विरोधी संप्रदायों के सिद्धांतों का खंडन किया गया है। **(दीर्घनिकाय, अनुवादक, भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, लखनऊः भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, 1979, पृ. 61)**

पुग्गलपण्णत्ति में 10 अध्याय हैं जिनमें क्रमशः एक एक प्रकार के, दो-दो प्रकार के आदि बढ़ते क्रम में दसवें अध्याय में 10, 10 प्रकार के पुद्गलों अर्थात् व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। व्यक्तियों का विभाजन पृथक्जन, सम्यक संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य आदि रूप से किया गया है। **(वही, पृ. 72)**

धातुकथा की रचना का मूलाधार विभंग है, क्योंकि उसी के प्रथम तीन अर्थात् स्कंध, आयतन और धातु विभंगों का ही यहाँ अधिक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी कारण इस ग्रंथ का दूसरा नाम खंब-आयतन-धातुकथा भी पाया जाता है। ग्रंथ में इन्हीं तीन का संबंध धर्मों के साथ बैठाकर बताया गया है। मातिकानुसार इन धर्मों की संख्या 125 है जो इस प्रकार हैं-5 स्कंध, 12 आयतन, 18 धातुएँ, 4 सत्य, 22 इंद्रियाँ, 12 प्रतीत्यसमुत्पाद, 4 स्मृतिप्रस्थान, 4 सम्यक प्रधान, 4 ऋद्धिपाद, 4 ध्यान, 4 अपरिमाण, 5 इंद्रियाँ, 5 बल, 7 बोध्यंग, 8 आर्यमार्ग के अंग तथा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त और अधिमोक्ष। इनका परस्पर संबध प्रश्नोत्तर की शैली से 14 अध्यायों में किया गया है। **(उपाध्याय, भरत-सिंह, पालि-साहित्य का इतिहास, पृ. 79)**

यमक में धर्मों का संबंध विशेष विषयों के साथ परस्पर विपरीत रूप में प्रश्नोत्तर शैली से समझाया गया है और इसी युगल प्रश्नात्मक रीति के कारण इस रचना का यमक नाम सार्थक है। जैसे (1) क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं? क्या सभी कुशलमूल कुशलधर्म हैं? इत्यादि। इसी पद्धति से यमक में अभिधम्मपिटक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सुनिश्चित व्याख्या देने का प्रयत्न किया गया है। यह रचना इन 10 यमकों में विभक्त है- (1) मूल (2) खंध (3) आयतन (4) धातु, (5) सच्च (6) संसार (7) अनुसय (8) चित्त (9) धम्म और (10) इंद्रिय। **(वही, पृ. 81)**

पट्ठाण में बौद्ध तत्वचिंतन के आधारभूत प्रतीत्य-समुत्पाद-सिद्धांत का एक विशेष शैली में बड़े विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ग्रंथ के मुख्य चार भाग हैं- (1) अनुलोम पट्ठाण (प्रत्यय स्थान), (2) पच्चनिय पट्ठाण (3) अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठाण और (4) पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठाण। इन चारों भागों में धम्मसंगणि में निर्दिष्ट 22 तिकों और 100 दुकों का 24 प्रत्ययों से संबंध निम्न छः पट्ठाणों द्वारा समझाया गया है-(1) तिक पं. (2) दुक पं. (3) दुक-तिक पं. (4) तिक-दुक पं. (5) तिक-दिक पं. और (6) दुक-दुक प.। इन छः पट्ठाणों का पूर्ववत चार विभागों में प्रारूपण होने से संपूर्ण ग्रंथ 24 पट्ठाणों में विभक्त हो जाता है। **(वही, पृ. 92)**

अनुपिटक साहित्य :- उपर्युक्त त्रिपिटक साहित्य का संकलन प्रायः ई. पू. तीसरी शती में पूर्ण हो गया था, किंतु पालि साहित्य का सृजन इसके पश्चात् भी चलता रहा। यद्यपि यह अनुपालि साहित्य विषय की दृष्टि से प्रायः पूर्णतः त्रिपिटक के अंतर्गत ज्ञान का ही अनुकरण करता है, तथापि अपन स्वरूप एवं शैली में समय की गति के अनुसार उसमें विकास दिखाई देता है। ई. पू. प्रथम शती के लगभग नेत्तिप्रकरण **(वही, पृ. 121)** नामक ग्रंथ लिखा गया, जिसमें अभिधम्मपिटक के विषय का ही कुछ अधिक सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इसमें 16 हार, 5 नय और 18 मूल पदों के द्वारा बौद्ध दर्शन की परिभाषाओं को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके कर्ता का नाम कच्चान है। इसी प्रकार की एक दूसरी रचना इसी काल के लगभग की पेटकोपदेश **(वही, पृ. 125)** है जिसमें नेत्तिप्रकरण की ही

विषयवस्तु को कुछ दूसरी रीति से उपस्थित किया गया है, जिसमें प्रधानता उन चार आर्य सत्यों की है जो बुद्ध के उपदेशों का मूलाधार है। प्राय: इसी काल की तीसरी रचना है–मिलिंदपंहो **(शास्त्री, इन्द्रचन्द्र, पृ. 38)** जो पालि साहित्य में अपनी विशेषता रखती है व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें साकल (सियालकोट, पंजाब) के नरेश मिलिंद और भिक्षु नागसेन से बीच हुआ वार्तालाप वर्णित है। मिलिंद उस यवन नरेश मिनांडर के नाम का ही रूपांतर माना गया है, जिसने ई. पू. द्वितीय शती के मध्य में भारत पर आक्रमण किया तथा पंजाब प्रदेश में अपना राज्य जमाया था। प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार यह राजा बड़ा विद्वान् और दार्शनिक विषयों में रुचि रखनेवाला था। उसने भिक्षु नागसेन से बड़े पैने दार्शनिक प्रश्न किए, जिसके उत्तर भी नागसेन ने बड़ी चतुराई से सुंदर दृष्टांतों द्वारा उनकी पुष्टि करते हुए दिए हैं। ग्रंथ में सात अध्याय हैं–(1) बाहिरकथा (2) लक्खणपंहो (3) विमतिछेदनपंहो (3) मेंडकपंहो (5) अनुमानपंहो (6) द्युतंग कथा और (7) ओपम्मकथापंहो। इनमें से प्रथम तीन अध्याय ही ग्रंथ का मूल भाग माना जाता है। शेष चार अध्याय पीछे जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इसके अनेक कारण हैं–एक तो तीसरे अध्याय में ग्रंथ के पुन: प्रारंभ की सूचना है, दूसरे, बुद्धघोष के अवतरण प्राय: तीन ही अध्यायों से लिए गए हैं और तीसरे इस ग्रंथ का जो चीनी अनुवाद 400 ई. के लगभग किया गया था, उसमें केवल ये तीन ही अध्याय पाए जाते हैं। यह रचना शैली में बड़ी रोचक तथा बौद्ध सिद्धांत के ज्ञान के लिए अपने ढंग की अद्वितीय है। **(उपाध्याय, भरत-सिंह, पृ. 156)**

पालि भाषा एवं साहित्य के विकासक्रम की चार अवस्थायें उपलक्षित होती हैं, जो इस प्रकार से हैं–1. त्रिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है, इसमें वैदिक भाषा की ही अनेकरूपता मिलती है। 2. त्रिपिटक के गद्य भाग की भाषा। इसमें गाथाओं की भाषा की अपेक्षा एकरूपता अधिक है। 3. उत्तरकालीन पालि गद्य साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमें मिलिन्दप्रश्न और अट्ठकथा साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार त्रिपिटक की गद्य भाषा ही है। 4. उत्तरकालीन पालि काव्य की भाषा। यह भाषा बिल्कुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। इस भाषा के ऊपर संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी है।

द्वारा दशरथ प्रसाद,
यदुवंशी कॉलोनी, राज नगर,
प्रेसीडेंसी ग्लोबल स्कूल के पास,
दानापुर-सह-खगौल,
पटना-801105 (बिहार)
मो.- 8864077575

दीपावली मिलन समारोह

पावस व्याख्यान माला में

- अखिलेश सिंह श्रीवास्तव 'दादूभाई'

जन्म - 4 अगस्त 1972।

शिक्षा - एल. एल. बी।

रचनाएँ - एक साझा संग्रह प्रकाशित।

सम्मान - क्षेत्रीय सम्मान।

पावस! अर्थात् फुहारों की ऋतु, भीगे-भीगे दिन, भीगी-भीगी रातें, भीगे-भीगे घर-आँगन, सड़कें, उपवन-वन, पर्वत-मैदान, हम-तुम, ये-वो और सभी! इस सौंधी सुगंध वाली पावस ऋतु में राष्ट्र प्रसिद्ध 'पावस व्याख्यान माला' की अट्ठाईसवीं शृंखला झीलों की नगरी भोपाल में आयोजित है।

मैं बहुत उत्साहित हूँ वहाँ जाने और रिपोर्ताज लिखने के लिए। देखिए, हृदय से चाहा तो मेघ स्वयं दूत बन पंत दादा का संदेशा ले आए और मैं चल पड़ा अपना झोला उठाकर उसी दिशा में जहाँ देश भर से अतिथि चले आ रहे हैं, रिमझिम बौछारों में भीगते, मुस्कुराते, झीलों के संसार में।

कैलेण्डर में जुलाई 2023 का पन्ना खुला है। इसी माह की 29 एवं 30 तारीख निर्धारित हैं। दो दिवसीय लक्षित वैचारिक मंथन के लिए। रानी कमलापति रेल्वे स्टेशन में ओवरनाइट ट्रेन दो घंटे के विलंब के बाद भी ऐसी शान से धड़धड़ाती प्लेटफॉर्म में आई जैसे किसी रसूखदार का लड़का दो बार फेल होने के बाद बिन शर्म कक्षा में आए।

मैं उतरा और देख रहा था साधन हिंदी भवन जाने का जहाँ आवास-भोजन की व्यवस्था है। सहसा बाल साहित्य शोध संस्थान के निदेशक, श्री महेश सक्सेना जी मिल गए। उन्हीं के वाहन को माध्यम बना मैंने गंतव्य संधान किया।

भोपाल में हिंदी भवन का साहित्यकार निवास साहित्यकारों के ठहरने का वह स्थान है जिसके प्रत्येक कक्ष का नामकरण हिंदी के महान साहित्यकारों के नाम पर किया गया है। मेरा सौभाग्य, इनमें एक कमरा मेरे स्वर्गीय फूफा जी, डॉ. चंद्रप्रकाश वर्मा जी का स्मृति-प्रतीक है। यहाँ का दायित्व भाई दिलीप तिवारी पर है।

लीजिए, टिक-टिक रानी ने कार्यक्रम आरंभ का संकेत कर दिया। यह 'म. प्र. राष्ट्र भाषा प्रचार समिति एवं हिंदी भवन न्यास के तत्वावधान में एल. एन. सी.टी. विश्वविद्यालय के सहयोग से 'भारतीय ज्ञान परंपरा' पर सत्संग का अवसर है।

हिंदी भवन के सामने बड़े चौराहे पर विश्वविजेता संन्यासी स्वामी विवेकानंद की प्रतिमा इस आयोजन की वास्तविक प्रतिनिधी है। क्योंकि भारतीय ज्ञान परंपरा के ध्वज को इस परंपरा की वाहक भूमि पर गर्वोन्नत मस्तक के साथ लहराने वाले योद्धा संन्यासी यही तो थे। कितना सुसंगत होता यदि कार्यक्रम का शुभारंभ इनके समक्ष दीप प्रज्वलन से किया जाता। क्या आश्चर्य कि मुख्यमंत्री के आने-जाने वाले मार्ग में लगी चौराहा घड़ी भी यही सोच रही हो। अरे नहीं-नहीं! वह तो बेचारी खुद बंद पड़ी है।

हिंदी भवन में प्रवेश के साथ पं. मोतीलाल नेहरू पुस्तकालय और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का कार्यालय देख, मन सागर में आनंद-तरंगें आकार लेने लगीं। कुछ सीढ़ियाँ चढ़ते ही उस साहित्य सदन में प्रवेश किया जहाँ कुछ ही देर में ज्ञान गंगा बहेगी, परंतु प्रथम सभी आगंतुकों ने प्रातः के स्वल्पाहार का आनंद उठाया।

गोष्ठी सदन! श्वेत चमचमाते सिल्की विशाल परदों से सज्जित है बीच-बीच में नीले क्रॉस बेल्ट परदे लगे हैं। सामने बहुत बड़ा मंच है जिसकी सजावट सफेद, नीले परदों के साथ पुष्प मालाओं एवं लाल-नीले कालीन से की गई है। कुर्सियाँ भी ऐसे ही सफेद-नीले कवर से सजीं हैं।

फर्श पर हरा कारपेट बिछा है जिस पर अतिथियों के आने के लिए सुर्ख लाल वैलकम कारपेट बिछा है। प्रवेश पर अरेका पाम के बड़े-बड़े पौधे रखे हैं। ये ऑक्सीजन प्यूरीफायर हैं। सच! पर्यावरण संबंधी प्रशंसनीय सोच है। पूरा सदन वातानुकूलित है।

सदन प्रवेश के दाहिने हाथ को पुस्तकों से भरी एक टेबिल है जिसका प्रबंधन श्री वैभवकांत खरे कर रहे हैं। उसी के समकक्ष

अक्षरा पत्रिका का वितरण एवं ब्रिकी संबंधी स्टॉल लगा था, जिसकी बागडोर सुश्री सुधा बाथम के हाथ में थी। इसके ठीक पीछे मूर्धन्य साहित्यकारों की फोटो प्रदर्शनी है। प्रवेश के बाईं ओर महान सनातनी ऋषि पत्नियों एवं मंत्र द्रष्टा विदुषियों के चित्र लगे हैं और समीप माँ वीणापाणी की कांस्य प्रतिमा सुशोभित है। वाह! ज्ञान सदन का अनुपम सौंदर्य। मेरे लिए यह प्रथम अवसर है जब किसी साहित्यिक आयोजन में स्वास्थ्य शिविर लगा हो। साहित्य हृदय डॉ. संजय सक्सेना ने इतिहास रचा है।

लीजिए, डॉ. राजकुमारी की सवाद्य सरस्वती वंदना और दीप प्रज्ज्वलन के साथ कार्यक्रम का विधिवत आरंभ हुआ। दो दिवसीय आयोजन एक उद्घाटन सत्र एवं चार चर्चा सत्रों में विभक्त है। मंच, ज्ञान स्मृद्ध सज्जनों से सुशोभित है। संचालन रथ की वल्गा थामे हिंदी के ओजस्वी सेवक डॉ.जवाहर कर्नावट कभी संबोध्य सदन को तो कभी मंच को निहार रहे हैं।

वहाँ देखिए! श्वेत वस्त्रों में, छड़ी के सहारे मुद्रित भावों के साथ, धीरे-धीरे चलकर मंचासीन होने वाले वृद्ध जो थोड़ी देर पहले प्रवेश द्वार पर सबका स्वागत कर रहे थे। अब पूरा मंच उनके समक्ष नतमस्तक है। कौन हैं ये ? जी हाँ, ये ही हैं राष्ट्र भाषा प्रचार समिति मध्यप्रदेश को विराट रूप देने वाले कृष्ण, 'श्री कैलाशचंद्र पंत' जिन्हें सभी प्रेम से 'दादा' कहते हैं।

सभा मौन। सहस्त्रों आँखें ऊपर देख रहीं हैं एवं वरिष्ठ लोचन नीचे। ऊँचे मंच से पंत वाणी गूँजी। अपने अल्प अक्षरा स्वागत भाषण में भारतीय ज्ञान परंपरा के संवर्धन, संरक्षण, प्रणयन एवं सीमाओं पर चिंतन करते हुए पंत जी ने उन सभी महान आत्माओं को प्रणाम किया जिन्होनें इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

उद्घाटन भाषण के लिए उत्तरप्रदेश विधानसभा के पूर्व अध्यक्ष श्री हृदयनारायण दीक्षित ऑनलाइन जुड़े, परंतु इंटरनेट बाधा, उद्बोधन में बाधा बन, कार्यक्रम बाधा बन गई। परिणामत: उद्बोधन न हो सका।

अब माइक पर हैं भाषाविज्ञान और साहित्य के द्रोण, मुख्य वक्ता श्री कपिल कपूर। भारतीय ज्ञान को अंग्रेजी में एम. ए. का विषय बनाकर उन्हेंने अद्भुत कार्य किया। हठयोग से मन को गति कैसे मिले, नाट्यशास्त्र का केंद्रीय भाव, दर्शन शास्त्र का महत्व, भारतीय ज्ञान परंपरा का मौखिक रूप इत्यादि विषयों पर बोलते हुए उन्होंने तथाकथित आधुनिकता को कटोरा कल्चर कहते हुए व्यंग्य शर संधान किया।

श्री कपिल ने कहा, 'उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा को रिक्शेवाले से, चाय वाले से भी सीखा है।' वक्तव्य काल में अचानक उनका सेलफोन बज उठा; जिस विनम्रता से उन्होंने क्षमा याचना की वह उनके ज्ञान गांभीर्य का साक्ष्य है।

इसी क्रम में पधारे आलोचक, समीक्षक श्री शंकर शरण ने कहा कि हम बातें तो करते हैं, पर बढ़ नहीं पाते न ही यह विषय किसी नीति में है। भरतीय ज्ञान परंपरा स्कूली शिक्षा में समाहित होना चाहिए। आयोग तो बनते हैं, परंतु लागू नहीं होते।

उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष, सेवानिवृत्त कलेक्टर, मुख्यमंत्री के विशेष सचिव, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष, श्री सुखदेव प्रसाद दुबे के वक्तव्य में एक ओर जहाँ सभी उपस्थित लोगों के प्रति साधुवाद था, वहीं भारतीय ज्ञान परंपरा को लेकर एक यौद्धिक दृष्टि दिखी। उन्होंने क्या हुआ, क्यों हुआ पर चर्चा से आगे बढ़ते हुए अब क्या करना है, कैसे और कौन करेगा जैसे व्यवहारिक दृष्टिकोण को लक्ष्य किया। दुबे जी ने भारतीय ज्ञान परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए पुस्तक निर्माण पर बल देते हुए अंत की नहीं अनंत की बात करने को कहा।

अब प्रथम चर्चा सत्र! मंच पर उतरने-चढ़ने की पदचाप सुनाई पढ़ीं फिर धीरे-धीरे शांत हो गईं और मंच सुशोभित हो गया सत्र के महानुभावों से। अबकी संचालन दायित्व वहन कर रहीं हैं प्रसिद्ध बाल साहित्यकार डॉ. प्रीति प्रवीण खरे।

श्री अंबिकादत्त शर्मा, एक दर्शनशास्त्री, बौद्ध दर्शनाचार्य, भाषा एवं साभ्यतिक अध्ययन के विद्वान वक्ता हैं। 'भारतीय ज्ञान परंपरा : विश्वदृष्टि और भविष्य बोध' पर चिंतन करते हुए आपने गूढ़ बातें कहीं। सभ्यता और संस्कृति की गति, ज्ञान परंपरा के भौगोलिक मानचित्र, अवधारणाएँ, संसार की वास्तविकता, जीवन का विनियोग, बहुलता वादी चरित्र एवं वैदिक वाङ्मय इत्यादि पर सार्थक चिंतन करते हुए प्रतीक प्रस्तुत किए कि गंगा में मिलकर हर नदी गंगा ही बन जाती है। यह ज्ञान भोग भूमि में नहीं योग भूमि में विकसित हुआ है।

भारतीय ज्ञान परंपरा के अधीत विद्वान, चिंतक प्रोफेसर डॉ. सुधीर कुमार ने वक्तव्य विषय 'भारतीय ज्ञान परंपरा में नाट्यशास्त्र (विशेष संदर्भ, तोल्काप्पियम्) पर अर्थपूर्ण वक्तव्य रखा। स्वयं के वक्तव्य को डॉक्टर साहब ने खाने के बाद के लौंग-इलायची से तुलना की। शिक्षा में ज्ञान परंपरा समायोजन का पक्ष रखते हुए श्री सुधीर ने सनातन परंपरा के विरोधियों पर आघात किया। एक भारत श्रेष्ठ भारत सिद्धांत में कैसे भारत की परिकल्पना है यह तय होना चाहिए तथा देश में समरसता के लिए उत्तर के राज्यों में दक्षिण भाषाओं के अध्ययन का भी समर्थन किया।

तोल्काप्पियम् जैसी श्रेष्ठ व्याकरण कृति और ऋषि अगस्त्य की चर्चा की।

अक्षरा के प्रधान संपादक, साहित्यकार, विचारक, सत्र अध्यक्ष श्री मनोज कुमार श्रीवास्तव ने अपना उद्बोधन मुक्तिबोध को स्मरण करते हुए आरंभ किया। उन्होंने कहा, 'लँगड़ा ज्ञान कर्म हीन है। भारतीय ज्ञान परंपरा हमारी संस्कृति में समाहित है इसे शिक्षा से दूर किया गया है। यह आधुनिक ज्ञान से अलग है। यह दान की परंपरा है, जितना करोगे उतना बढ़ेगा; गाड़ोगे तो समाप्त हो जाएगा। भारतीय ज्ञान परंपरा का स्वागत मुख्य द्वार से होना चाहिए न कि खिड़की से।' मंत्रमुग्ध सदन करतल ध्वनि से गूँज गया।

भोजन अवकाश! बहुप्रतीक्षित काल का शुभारंभ। स्वादिष्ट भोजन से सबको स्फूर्ति मिली। इस काल में लोग भी एक-दूसरे से परिचित हुए।

यह लीजिए चिंतन-मनन का द्वितीय सत्र आरंभ हो गया जिसे गति देने आईं हैं कहानीकार जया केतकी जी, पर यह क्या! सदन में श्रोतागण आधे से भी कम क्यों? जिज्ञासा मुझे बाहर खींचकर ले गई। देखा मैंने, सदन की भीड़ धीरे-धीरे बाहर निकल रही है। एक सिद्धांत स्मरण हो आया-'रेस इप्सा लोकेटुर' अर्थात् घटना स्वयं बोलती है। राष्ट्रीय चिंतन शिविर में भी बुभुक्षा की विजय!

दु:खद! हमारी इसी सोच का लाभ सदा घुसपैठियों ने उठाया, जिसकी मार आज भी हमारी ज्ञान परंपरा झेल रही है। भोजन अभिलाषी भारतीय परंपरा के चिंतक लौट गए। शायद भरपेट भोजन के बाद आराम जरूरी है, ज्ञान नहीं।

चलिए सदन में चलें जहाँ उद्बोधन दे रहे हैं श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' जो संस्कृत, ज्योतिष, व्याकरण और धर्मशास्त्र के प्रकांड विद्वान हैं। 'ज्ञान परंपरा में राज्य' की अवधारणा पर केंद्रित आपका मत है कि उस कृति की आवश्यकता है जो ज्ञान परंपरा अनुरूप हो। ज्ञान के अनुसार यदि कर्म होता तो माना जाता यह वास्तव में जीवित है। पंकज जी ने परंपराओं को कर्म के माध्यम से पूर्ण करने पर बल देते हुए भारतीय ज्ञान परंपरा संरक्षण, संवर्धन की राज्याश्रित बात की।

वह देखिए मित्रो! 'पत्रकारिता की भूमिका' के गवाक्ष से भारतीय ज्ञान परंपरा पर विचार व्यक्त करने मंचासीन हैं साहित्यकार, पत्रकार, माधवराव सप्रे स्मृति समाचार पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान के संस्थापक, पद्मश्री आदरणीय विजयदत्त श्रीधर। श्रीधर जी ने सीधे शब्द संधान किया कि किसी भी साहित्यिक कार्यक्रम में नेताओं का क्या काम? आपने पत्रकारिता में अशुद्ध हिंदी उपयोग पर उदाहरणों के माध्यम से गंभीर चिंता व्यक्त की।

न्यायालयीन समाचारों में भी शुद्ध भाषा के अभाव से अवगत कराया। हिंदी संवर्धन के लिए लगातार आयोजनों की आवश्यकता को स्वीकारते हुए श्रीधर जी मानते हैं हिंदी का अन्य भारतीय भाषाओं के साथ आदान-प्रदान बढ़ना चाहिए। साथ ही पंचतंत्र को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की बात भी कही।

कुयोजनाबद्ध होकर बाबा कबीर की तुलना शैक्सपीयर से या समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से करना राजनैतिक धूर्तता है। अंत में निदा फाज़ली का एक शेर पढ़ा-

'घर से मस्ज़िद है बहुत दूर चलो यूँ कर लें
किसी रोते हुए बच्चे को हँसाया जाए।'

गूँजती, लहराती तालियों के साथ श्रीधर जी वापस अपने स्थान पर बैठ गए।

द्वितीय सत्र का अध्यक्षीय उद्बोधन गांधी वादी विचारक, पत्रकार श्री बनवारी जी ने दिया। अध्यक्षीय उद्बोधन के लिए आपने बड़ी अच्छी बात कही कि पूर्व वक्ताओं के वक्तव्यों को एवं यदि कुछ छूट गया हो तो उसे सरलता से पुन: कहने का दायित्व अध्यक्ष का होता है।

1900 के बाद की वैश्विक स्थिति पर प्रकाश डालने के साथ आपने कहा स्वराज्य से समाज बनता है। भारत का सौंदर्य इसका बहुवर्णीय समाज है इसके सभी नियम यमानुकूल हैं। समाज का नियमन स्वयं समाज को करना है। आपने ज्ञान को आपने जीवन में उतारने पर बल दिया।

विचार मंथन से उठती लहरें श्रोता मन को हिल्लोलित करती लक्ष्य तक पहुँच रही हैं। इसी क्रम में वरिष्ठ साहित्यकार एवं लेखिका संघ की अध्यक्ष, अनीता सक्सेना जी ने तृतीय सत्र का ध्वज थामते हुए वक्तव्य वर्षा के लिए निमाड़ी लोक संस्कृति और भित्तिचित्रों की विशेषज्ञ श्रीमती अनुजा जोशी उपाध्याय को आमंत्रित किया।

अनुजा जी ने सरल, सुबोध और घरेलू शैली में 'निमाणी बोली में ज्ञान परंपरा' पर विचार रखे। उन्होनें कृषि, वन एवं पशुओं के दिवता सिंघजी महाराज के गुरु रूप का सजीव वर्णन किया। फिरोती, नागपंचमी, लोकनृत्य, गायन के माध्यम से परिवार कल्याण कामना को सिद्ध किया। एक विशेष बात आपने बताई

कि स्त्रियाँ कुल कल्याण की सभी प्रार्थना चित्र बनाके करतीं हैं जिनमें कपास के फूलों का बड़ा महत्व है। हरि की खेती और निमाड़ थोड़ा-सा तीखा है, पर समझने में मीठा है; इस बात से सदन में निमाड़ के प्रति अपनेपन की बयार बह गई।

श्री गजेंद्र आर्य! एक युवा वक्ता, भिलाली एवं अन्य लोक साहित्य के विद्वान जो 'जनजाति की बोलियों में ज्ञान परंपरा' पर आज अपने उदगार व्यक्त कर रहे हैं। श्री आर्य ने बताया जनजाति समाज पूरीतरह राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत है जो भारतीय ज्ञान परंपरा से भरी है। इनके विरुद्ध अलगाव का षड्यंत्र किया जा रहा है। जनजाति गीत वेदों की ऋचाओं से संबंधित हैं, पंच महायज्ञ महत्व के अनुरूप हैं। इनके गायना भी लोकगायनों पर आधारित हैं। कालगणना पूर्णत: सनातनी मानते हैं। जनजाति सोच सनातनी है, बस शब्दों में थोड़ा अंतर है, जबकि अर्थ समान है; जैसे-इस्तरकार (गुरुवार), आदित्यकार (रविवार), डोकरा खाट (सप्तऋषि), उत्तरांग (मकर संक्रांति) इत्यादि। गजेंद्र जी ने लोकगीत सुनते हुए एवं जनजातियों पर लेखन की बात कहते हुए अपना वक्तव्य समाप्त किया।

तृतीय सत्र के अंतिम वक्ता के रूप में कवि, कथाकार, उपन्यासकार श्री संतोष चौबे 'भारतीय ज्ञान परंपरा में विज्ञान' विषय पर वक्तव्य दे रहे हैं। उन्होंने कहा, 'आमतौर पर विज्ञान का अर्थ विदेशी विचारधारा से लिया जाता है। पश्चिम का विज्ञान लगभग 6सौ वर्ष पुराना है जबकि मनुष्य को समग्रता से देखने वाली भारतीय ज्ञान परंपरा 5 हजार वर्ष पुरानी है। प्राचीन भारत विश्वस्तर पर 30 प्रतिशत जी डी पी प्रोड्यूज करता था। हमारे समृद्ध विज्ञान और तकनीक को नष्ट किया गया है।'

उन्होंने बताया, भारतीय ज्ञान बाहर गया जिसका श्रेय पश्चिम के विद्वानों ने ले लिया। न्यूटन से पहले भारत को पृथ्वी की शक्ति का ज्ञान था। हवाई जहाज को तलपड़े जी ने सर्वप्रथम बनाया। गायत्री मंत्र विज्ञान का सजीव उदाहरण है। महिलाओं के बिछिया पहनने से लेकर नदी में सिक्के डालने का भी अपना विज्ञान है। भारतीय ज्ञान में विज्ञान के समावेश को श्री चौबे ने कई सटीक उदाहरणों से समझाया।

मध्यप्रदेश विधानसभा एवं राज्यसभा के पूर्व सदस्य, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के उपाध्यक्ष एवं तुलसी मानस प्रतिष्ठान के कार्याध्यक्ष श्री रघुनंदन शर्मा ने सत्रावसान पूर्व अध्यक्षीय उद्बोधन में गंभीर बातें कहीं। हम शब्द पचाते रहे। सर्वाधिक अवैज्ञानिक भाषा अंग्रेजी को बताते हुए हिंदी अपनाने एवं तिलक लगाने पर बल दिया। भारतीय ज्ञान की ऊँचाई को उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास द्वारा सूर्य की दूरी की गणना से सिद्ध किया।

भोजन से लेकर चिकित्सा तक आपने भारतीय परंपरा को सउदाहरण श्रेष्ठ सिद्ध किया। सात्विकता पहचान का बड़ा सुंदर उदाहरण श्री शर्मा ने प्रस्तुत किया कि-'मांसाहारी प्राणी पानी जीभ से पीता है और शाकाहारी होंठों से खींचकर।' वाणी विराम पूर्व आपने कहा, 'भारत में इतना ज्ञान है कि यदि इसकी गंगा बहाएँ तो पूरा योरोप इसमें समाहित हो जाए।'

पावस व्याख्यान माला का यह अंतिम सत्र है। इस चतुर्थ सत्र को उद्बोधनात्मक रूप से संचालित करते हुए मानस मर्मज्ञ, डॉ. सुरेंद्र बिहारी गोस्वामी ने निष्ठा के महत्व, परंपरा, सुआचरण, सर्वकल्याण इत्यदि पर अपने मन की बात रखते हुए सत्रोत्घाटन वक्तव्य के लिए प्रसिद्ध समीक्षक, विचारक डॉ. रंजना अरगड़े जी को 'भारतीय ज्ञान परंपरा में गुजराती साहित्य की भूमिका' पर वक्तव्य के लिए सादर आमंत्रित किया। गुजराती साहित्य में ज्ञान परंपरा को बहुविध रूप से स्पष्ट करते हुए रंजना जी ने प्रेम और भक्ति को विशेष महत्व दिया जो अंतत: ब्रह्म में लीन होती है। नरसिंह मेहता इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। परंपराओं में सत्यता और पवित्रता की पक्षधर आपने स्वयं निष्पक्ष भाव से उस कृति को धन्यवाद दिया जिसकी सहायता आपने इस उद्बोधन के लिए ली है। मुझे लगा, मूलत: यह भी भारतीय परंपरा है। सत्य स्वीकार करना।

'भारतीय ज्ञान परंपरा में मराठी साहित्य की भूमिका' विषय को लेकर वरिष्ठ साहित्यकार, अनुवादक एवं महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी के कार्याध्यक्ष श्री दामोदर खडसे माइक पर हैं। सभा को जोड़ने के लिए आपने वार्ता शैली में पूर्व वक्तव्यों को स्मरण करते हुए वक्तव्यारंभ किया। मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वर, तुकाराम, महात्मा फुले, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा शिवजी सावंत का विशेष योगदान को स्मरण किया।

भारतीय ज्ञान के प्रति फादर कामिल बुल्के का उदाहरण देते हुए आपने विदेशियों का भारत के प्रति लगाव स्पष्ट किया साथ ही महाराष्ट्र के एक ऐसे गाँव की चर्चा की जिसे पुस्तकों का गाँव कहा जाता है।

व्याख्यान माला के अंतिम वक्ता के रूप में प्रसिद्ध अनुवादक, स्तंभकार डॉ. उषारानी राव श्रोता सम्मुख हुईं। व्यक्तिगत अनुभवों को ज्ञान परंपरा के विराट रूप में समायोजित कर आज इसकी अनिवार्यता को अपने भाव-शब्द दिए। वर्तमान में निर्मित भरतीय भाषाओं के तनाव और अंग्रेजी के प्रति मानसिकता के कटु सत्य को सदन सम्मुख रखा।

दो दिवसीय व्याख्यान माला का अंतिम अध्यक्षीय उद्बोधन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के अध्यक्ष, हिंदी के विद्वान डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित आरंभ करते इससे पूर्व विचारों की इस शृंखला में दो सुंदर पल और जुड़े। प्रथम, साहित्यिक पत्रिका अक्षरा के 221 वें अंक का लोकार्पण हुआ। दूसरा, अक्षरा की संपादक सहयोगी जया केतकी जी की कृति, 'बात उस रात की' (कहानी संग्रह) का विमोचन।

गंभीर चिंतन के मध्य साहित्य की बौछार कुछ ऐसी हुई जैसे इंद्रदेव रुक-रुक कर कुछ जल फुहारें धरती पर डाल रहे हों जिससे वातावरण में शीतलता बनी रहे।

यह लीजिए उद्बोधन भी शुरू हो गया। यह क्या डॉ. सूर्यप्रकाश जी ने तो कहन स्रोत में ही एक प्रश्न दागकर सदन को सोचने पर विवश कर दिया। 'आज की शिक्षा पश्चिम की झूठन है या हमने भी कुछ दिया है?' अहा! कैसा चुभता हुआ सत्यमुखी भाला फेंका। सही तो है हम इतना बँटे हैं कि इसका प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ रहा है। विदेशी तर्ज पर यह कल्पनाश्रित हो रहा है जबकि इतिसाह में कल्पना को कोई स्थान नहीं है।

भारतीय साहित्य मङ्गल को पृथ्वी-पुत्र मानता है ओर आधुनिक विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है। आपने रामराज्य अवधारणा, कामायनी आदि के उदाहरणों से साहित्य का विज्ञान से, चिकित्सा से, भूगोल से, पर्यावरण से, स्थापत्य से तथा भारतीय ज्ञान परंपरा से सीधा संबंध स्पष्ट किया। सभी अपनी-अपनी मेज संभालें इस विचार के साथ दो दिवसीय भारतीय ज्ञान परंपरा पर चर्चा सत्रों की समाप्ति हुई।

यह मात्र कार्यक्रम की समाप्ति है। असल में भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रति अब क्या करना है, यह काल आरंभ हो रहा है। मैं लेखक हूँ तो अभिज्ञ को भिज्ञ बनाने के लिए अवश्य लिखूँगा। दोस्तों! आराम को विश्राम दो और सारे भेद-भाव भूलकर राष्ट्रीय भावना के साथ भारतीय ज्ञान परंपरा के संवर्धन में जुट जाओ। यह राष्ट्र आराधना है।

अहा! समाप्ति उपरांत सभी कितने अपने पन से मिल रहे हैं। छोटे-बड़ों के चरणों पर झुक रहे हैं तो बड़े उन्हें गले लगा रहे हैं मानो शीर्ष झुक कर तल स्पर्श कर रहा हो। हिमालय सागर से मिल रहा हो। सभी अलग-अलग स्थानों से आए हैं, पर इन्हें जोड़ने वाली कड़ी है 'राष्ट्रभाषा हिंदी।' इसीलिए डॉ. सुरेंद्र बिहारी गोस्वामी कहते हैं, 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वह उपवन है जिसके माली हैं कैलाश चंद पंत। उनकी हर आज्ञा हम सभी के लिए ऋषि आज्ञा है।'

स्वल्पाहार के साथ धीरे-धीरे लोग विदा लेने लगे। रात्री के लिए सभी को रात्रि भोजन के पैकेट भी मिले। दो दिन पूर्व जिस गति से हिंदी भवन में लोगों की हल-चल बढ़ी थी, अब छँट गई। मेरी ट्रेन भी रात साढ़े ग्यारह बजे है। अत: सभी से मिलकर, ज्ञान की कितनी बातें साथ लिए, शुभ की इच्छा के साथ मैं भी चला वापस आपने घर. . .।

गृह-साहित्यम् एन-21,
शिव मंदिर, कचनार क्लब के समीप,
विजय नगर, कचनार सिटी,
जबलपुर-482002 (म.प्र.)
मो. 7049595861

प्रेम का अद्भुत संसार

– अश्विनी कुमार दुबे

जन्म – 24 जुलाई 1956।
जन्मस्थान – पन्ना (म.प्र.)।
शिक्षा – इंजीनियरिंग, स्नातकोत्तर।
रचनाएँ – बाइस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी का श्री वृंदावनलाल पुरस्कार सहित अनेक सम्मान।

मेघदूत का नायक यक्ष अपनी प्रिया को रामगिरि से जो संदेश भेजता है, भारतीय परंपरा में प्रेम की वह पहली गीतात्मक अभिव्यक्ति है। वेदों में, उपनिषदों में प्रकृति के सौंदर्य का विस्तृत फैलाव है, उसके साथ मानवीय रागात्मकता और रसात्मकता का संबंध भी दिखाई देता है परंतु प्रकृति के साथ मानवीय रसानुभूति का ऐहिक स्पर्श, जैसा कालिदास के यहाँ है, वैसा पूर्व में कहीं दिखाई नहीं देता। इस प्रकार आदिकाल से विद्यमान मानव मन के स्पंदन को, जो गीतात्मक अभिव्यक्ति कालिदास ने प्रदान की वह विश्व साहित्य के इतिहास में मील का पत्थर है। जयदेव अपने 'गीत गोविंद' में राधा और कृष्ण के प्रेमाख्यानों में विविध रंग भरते हैं। राधा और कृष्ण उनके आराध्य हैं परंतु वे उनके प्रेमानुराग को ऐहिक तल पर लाकर गरिमापूर्ण ढंग से गाते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण द्वारा राधा का शृंगार करना और प्रेमाशक्ति में उनके चरण पलोटने तक की बात कहने में उन्हें संकोच नहीं होता। 'गीत गोविंद' में उदात्त प्रेम का व्यापक मानवीकरण है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भक्त कवियों ने प्रेम को ईश्वरीय उपादान मानकर उसे उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया। अरबी–उर्दू काव्य परंपरा में सूफियों ने इसे इसी प्रकार आत्मसात कर लिया।

कालांतर में रीतिकालीन कवियों ने प्रेम को पूरी तरह मानवीय धरातल पर लाकर विस्तृत रूप से व्याख्यायित किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य में निराला, पंत, प्रसाद सहित लगभग सभी छायावादी कवियों ने प्रेम गीत लिखे, परंतु उसी समय डॉ. हरिवंशराय बच्चन प्रेम गीतों के उन्मुक्त गायक बनकर पूरे परिदृश्य पर छाये रहे–'न कट सकी, न घट सकी/विरह घिरी विभावरी/कहाँ मनुष्य है जिसे/कमी खली न प्यार की/इसीलिए खड़ा रहा/कि तुम मुझे दुलार लो।' बच्चन यहाँ दृढ़तापूर्वक पूछते हैं–कहाँ है वह मनुष्य, जो प्यार के बिना जी सके? हिन्दी में प्रगतिवाद दस्तक देने लगा था। प्रयोगवाद और नई कविता में नये प्रतिमान स्थापित हो रहे थे, तब प्रेम की बातें करना समसामयिक नहीं रह गया था। लोग इसे बीते युग की बातें कहकर लगभग हिकारत से देखने लगे थे। आधुनिकता का दबाव इतना बढ़ रहा था कि कवि–लेखक प्रेम के विस्तार में जाना ही नहीं चाहते थे। तब बच्चन ने जो प्रेम गीतों की धारा बहाई उसमें दूर तक कई कवि गोते लगाते हुए दिखते हैं।

रामेश्वर शुक्ल अंचल, धर्मवीर भारती, रामावतार त्यागी, रमानाथ अवस्थी, वीरेंद्र मिश्र, उमाकांत मालवीय, गोपाल दास नीरज से लेकर न जाने कितने कवियों से गुजरते हुए यह धारा शैलेंद्र को स्पर्शित कर निरंतर प्रवाहमान है। डॉ. नामवर सिंह ने एक जगह कहा है–'हम लोग इतने नितांत समसामयिक हो गए हैं कि यह भूल ही गए कि साहित्य की हमारी पूरी विरासत समकालीन है।' शैलेंद्र के यहाँ प्रेम का विविध और व्यापक संसार है। इसमें शृंगार, सौंदर्य वर्णन, मिलन और वियोग के सैकड़ों चित्र हैं। हाँ, शैलेंद्र के प्रेम व्यवहार में अभिजात्य समाज से हटकर मध्यमवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय समाज के लोग ज्यादा पाए जाते हैं। गरीब हों या अमीर प्रेम की किसे जरूरत नहीं है। परंतु गरीब आदमी का प्रेम शैलेंद्र की नजर में ज्यादा शक्तिशाली है क्योंकि वह अभावों, मुश्किलों और ज़िंदगी की दीगर जरूरतों के मोर्चों पर लड़ता हुआ अपनी प्रेमानुभूति को सुरक्षित बनाए रखता है। धनिक समाज में बहुधा प्रेम, प्रेम न रहकर खिलवाड़ हो जाता है। शैलेंद्र के काव्य जगत में शारीरिक जरूरतों से ज्यादा जीवन की जरूरतों के रूप में प्रेम प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार जीवन विस्तृत और व्यापक है, उसी प्रकार प्रेम भी, क्योंकि वह जीवन के साथ–साथ है अपने विविध रूपों में।

शैलेंद्र का सौंदर्य बोध गजब का है। उन्हें सादगी में, संघर्ष में अपने नैसर्गिक रूप के साथ सौंदर्य भाता है, वे उसी के पुजारी हैं। 'जिस देश में गंगा बहती है' का एक दृश्य है, जिसमें नव विवाहिता दुल्हन के लूटकर लाए गहने पहनकर नायिका नायक के सामने आती है और पूछती है–'कैसी लग रही हूँ?' नायक तुरंत कहता है–'विधवा की तरह।' यहाँ वे गहने जो लूटकर लाए गए हैं किसी का सौंदर्य

नहीं बढ़ाते बल्कि उसे कलंकित करते हैं। इसके तुरंत बाद नायक चला जाता है और नायिका वे गहने उतारकर फेंकती हुई नायक के पीछे रोती, चिल्लाती भागती है यह कहते हुए-'ओ बसंती पवन पागल, ना जा रे ना जा, रोको कोई। बन के पत्थर हम पड़े थे, सूनी-सूनी राह में जी उठे हम जब से तेरी, बाँह आई बाँह में। बह उठे नैनों के काजल याद कर तूने कहा था, प्यार से संसार है हम जो हारे दिल की बाजी, ये तेरी ही हार है सुन ये क्या कहती है पायल। शैलेंद्र की दृष्टि में प्यार से सौंदर्य है। सौंदर्य से प्यार नहीं। नायिका आगे की पंक्तियों में यही कह रही है-हम तो सूनी राह के पत्थर समान थे। तुमने अपने प्यार से हमें जीवन दिया और सिद्ध कर दिया कि प्यार से संसार है। गरीबी में, अभावों में पलता हुआ प्यार, शैलेंद्र के गीतों में बार-बार उभरकर आता है।

धन, दौलत और संपन्नता से अक्सर आदमी का मन बदल जाता। उसे फिर याद दिलाना पड़ता है अभावों में फूलते-फलते प्यार का, जो जीवंत है सदा। शैलेंद्र इसी भाव को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं-'उस देश में तेरे परदेश में सोने चाँदी के बदले में बिकते हैं दिल। इस गाँव में दर्द की छाँव में प्यार के नाम पर ही तड़पते हैं दिल' प्रकृति और प्रेम का गहरा संबंध है। प्रेम बीज है सृष्टि के निर्माण में। बीज में अंकुरण हुआ तो प्रकृति अस्तित्व में आई। धरती, पानी, गगन, चाँद, तारे, नदी, पहाड़, बादल, वर्षा, बिजुरी, वनस्पति, पेड़, जंगल, फूल, परिंदे, भौंरे, तितलियाँ, जानवर तब कहीं जाकर मनुष्य, यह सब प्रेम का ही विस्तार है। वहीं प्रेम तरंग बीज से लेकर पूरे वृक्ष में फैली हुई है। इसलिए वृक्ष की किसी टहनी में, पत्ते में, फूल और फल में जरा-सी भी कहीं कोई हलचल होती है तो पूरे वृक्ष में स्पंदन होने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य भी प्रकृति रूपी विशाल वृक्ष का एक हिस्सा है। प्रकृति में कहीं कोई हलचल होती है तो उसकी खबर मनुष्य तक जरूर पहुँचती है। प्रेम शुरू से प्रकृति में अंतर्निहित है। नदियाँ, सागर से मिलने जा रही हैं। पर्वत, आसमान को छू लेना चाहते हैं। बादल, धरती की प्यास बुझा रहे हैं। हवा, पेड़-पौधों के साथ अठखेलियाँ कर रही हैं। कलियों के इर्द-गिर्द भौंरे मँडरा रहे हैं। तितली चिपकी हुई है किसी गुल से। बसंत में कोयल मीठे गीत गाने लगती हैं। फूल अपना सौरभ लुटा रहे हैं। बादल घिरते ही मोर पंख फैलाकर नाच उठता है। यह सब प्रेम का ही विस्तार है, जिससे मनुष्य अछूता कैसे रह सकता है? प्रकृति में ये परिवर्तन देखकर मुनष्य का हृदय भी प्रेम हिलौरें लेने लगता है। प्रकृति के उपादानों से मानव प्रेम का संबंध सनातन है। इस संबंध के विविध चित्र शैलेंद्र के गीतों में बिखरे पड़े हैं। उन्हें महसूस करके देखिए, कितने हृदयस्पर्शी हैं वे-ये रात भीगी-भीगी ये मस्त फ़िज़ाएँ उठा धीरे-धीरे 'वो चाँद प्यारा-प्यारा, क्यों आग सी लगा के गुमसुम है चाँदनी सोने भी नहीं देता मौसम का ये इशारा। इठलाती हवा नीलम सा गगन कलियों पे ये बेहोशी की नमी यथा- 'बरसात में हमसे मिले तुम' और प्यार हुआ इकरार हुआ, तुमसे नया संसार लूँ/तुमको नया संसार दूँ/ ...चाँद और सूरज दीप गगन के/इस धरती पर उतार दूँ/ ... रातें दसों दिशाओं से कहेंगी अपनी कहानियाँ। 'रातें दसों दिशाओं से कहेंगी अपनी कहानियाँ' यह पंक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् हमारे प्रेम में पूरी कायनात शामिल है। सब तरफ से उसकी कहानियाँ निखर रही हैं।

प्रकृति से मानव मन की रागात्मकता उकेरने में शैलेंद्र माहिर हैं। वे मनुष्य की सूक्ष्म अनुभूतियों को शब्द प्रदान करके, अपने गीतों में महीन बुनावट करते हैं। हरियाली के बिना जीवन कहाँ? इसलिए इन हरे-भरे रास्तों में ही हमें पूरा जीवन गुजारना है। शैलेंद्र के शब्दों में देखिए-'ये हरियाली और ये रास्ता इन राहों पर तेरा-मेरा जीवन भर का वास्ता। तुम रहते हो मेरे मन में ऐसे जैसे उजाला चाँद, के तन में, जैसे ख़ुश्बू फूल चमन में, जैसे ठंडक मस्त पवन में। इस गीत में उपमाओं का चयन इसे विशिष्ट बनाता है। प्रकृति से जीवन का संबंध और उसमें प्रेमानुभूति का मर्मस्पर्शी चित्रण इस गीत में हुआ है। जीवन परिवर्तनशील है। जो आज है, वो कल नहीं रहेगा। लेकिन आज के उत्सव में चाँद-तारे भी शामिल हैं। ये चाँद-तारे कुछ देर रुक जाएँ तो उत्सव के क्षण और बढ़ जाएँगे। प्रेमी मन तो आज के मिलन क्षणों को जीवन सीमा के आगे ले जाना चाहता है, गर चाँद-तारे भी उसका साथ दें-'रुक जा रात ठहर जा रे चंदा, बीते न मिलन की बेला आज चाँदनी की नगरी में अरमानों का मेला। पहले मिलन की यादें लेकर आई है ये रात सुहानी, दोहराते हैं चाँद- सितारे मेरी तुम्हारी प्रेम कहानी। कल का डरना काल की चिंता दो तन है मन एक हमारे। जीवन सीमा के आगे भी आऊँगी मैं संग तुम्हारे।' चाँद शुरू से सौंदर्य का प्रतिमान। वह रहती दुनिया तक रहेगा। वह सबके प्रेम का साक्षी है। उसके सामने किया हुआ वादा स्थायी रहेगा इसलिए प्रेमी कहता है-'ये वादा करो चाँद के सामने। भुला तो न दोगे मेरे प्यार को मेरे हाथ में हाथ दे दो ज़रा सहारा मिलेगा मेरे प्यार को बहारों के साये में आ झूम लें। भुला दें ज़माने के ग़म।' आज तो चाँद का जिक्र किए बगैर प्रेम गीत अधूरे लगते हैं। चाँद और चकोर की प्रेम कथा, प्रेमियों को सदा प्रेरणा देती आई है। शैलेंद्र के गीतों में भी चाँद, चकोर, चाँदनी, तारे, चाँदनी रातों के प्रतीक बार-बार उभर कर आते हैं। नायिका को भी अपनी बात कहनी है तो इन्हीं उपादानों द्वारा वह अपने हृदय की बात कहती है-'पिया तोसे नैना लागे रे, नैना लागे रे जाने क्या हो अब आगे रे, नैना लागे रे जग ने उतारे हो, धरती पे तारे, भोर की बेला सुहानी, नदिया के तीरे रात को जब चाँद चमके जल उठे तन मेरा, मैं कहूँ मत कर ओ चंदा इस गली का फेरा।' दुख और सुख जीवन में धूप-छाँव की तरह है परंतु प्रेम इनसे बहुत ऊपर है। दुख

और सुख प्रेम की सत्ता को विचलित नहीं करते। प्रेम, दुख में संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करता है तथा सुखों में उनको और प्रभावशाली बना देता है।

जीवन की राहें अज्ञात और मंजिलें अनिश्चित हैं। प्रेम सबसे बड़ा संबल है, साथ-साथ चलने के लिए। अब आगे के रास्ते कितने भी कठिन हों, प्रेम में सहजता से कट जाते हैं। इस अटूट विश्वास को शैलेंद्र के शब्दों में देखिए-'तेरे मेरे सपने अब एक रंग हैं, हो जहाँ भी ले जाएँ राहें, हम संग हैं। तेरे दुख अब मेरे, मेरे सुख अब तेरे, तेरे ये दो नैना, चाँद और सूरज मेरे। लाख मना ले दुनिया, साथ न ये छूटेगा आ के मेरे हाथों में, हाथ न ये छूटेगा।' विश्वास के साथ मिलन है, जो प्रेम का अभीष्ट है तब हृदय की उमंगों से जो गीत फूटते हैं वे इस तरह हैं-'आहा रिमझिम के ये प्यारे-प्यारे गीत लिए, आई रात सुहानी देखो प्रीत लिए, मीत मेरे सुनो ज़रा हवा कहे क्या, आ सुनो तो ज़रा, झींगुर बोले चीकीमीकी-चीकीमीकी।' और 'घड़ी-घड़ी मेरा दिल धड़के, आज मिलन की बेला में, सर से चुनरिया क्यों सरके? आज पपीहे तू चुप रहना मैं भी हूँ चुपचाप रे। मन की बात समझ लेंगे साँवरिया अपने आप रे। देख ज़रा धीरज धर के।' तथा 'तुम ही तुम हो मेरे जीवन में फूल ही फूल हैं। जैसे चमन में एक हो मेरे तुम इस जहाँ में, एक है चंदा जैसे गगन में, तुम मिले मुझे नया जहान मिल गया झूमती ज़मीन को आसमान मिल गया।' एवं 'जिसके लिए तड़पे हम सारा जीवन भर यही है वो साँझ और सवेरा, मेरी पलक तुम्हारी पलक का साया है तुमने रंग प्यार का भरा गहरा निखर गया आसमाँ का चेहरा।' प्रेम में अभिसार की आकांक्षा है। परस्पर विश्वास है। तत्पश्चात् शृंगार है। रूप-सौंदर्य है। शैलेंद्र के यहाँ भी प्रेम और विश्वास के पश्चात् शृंगार है। रूप-सौंदर्य से शुरू हुआ प्यार स्थायी नहीं हो पाता क्योंकि रूप-सौंदर्य तो परिवर्तनशील है। कल को वह नहीं रहेगा, तब प्यार का आधार कहाँ रह जाएगा? रूप-सौंदर्य और शृंगार प्रेम बढ़ाते हैं, उसे ऊँचाई प्रदान कर सकते हैं परंतु उसकी आंतरिक शक्ति तो परस्पर विश्वास ही होता है। शैलेंद्र के पास बहुत शृंगारिक गीत हैं और बड़े अद्भुत गीत हैं वे। आँखों की तारीफ किस सौंदर्य उपासक ने नहीं की। शैलेंद्र ने भी की है।

यह गीत देखिए-'ये चंचल कजरारी आँखें/ ये चितचोर शिकारी आँखें/ गई दिल चीर कटारी आँखें/ ' आँखों का वर्णन करते मन:स्थिति का परिचय देने वाला एक बहुत सुंदर गीत शैलेंद्र ने फिल्म 'अनुराधा' के लिए लिखा है। पूरे गीत में सिर्फ आँखों की बात है, परंतु उस बात में से और कितनी बातें निकल रही हैं, यह शैलेंद्र की बानगी है। मन की पूरी अंतरव्यथा आँखों का वर्णन करते हुए इस गीत में कही गई है। भावों की कोमलता ऐसी, जैसे ताजे फूल। शब्दों का चयन, उनका माधुर्य देखते ही बनता है।

आँखों के माध्यम से शैलेंद्र बात शुरू करते हैं और हृदय की गहराइयों में उतरते चले जाते हैं। 'जाने कैसे सपनों में खो गयीं अँखियाँ, मैं तो हूँ जागी मोरी सो गयीं अँखियाँ, अजब दीवानी भई, मोसे अन्जानी भई पल में पराई देखो हो गयीं अँखियाँ। बरसी ये कैसी धारा, काँपे तनमन सारा रंग से अंग भिगो गयीं अँखियाँ मन उजियारा छाया, जग उजियारा छाया जगमग दीप सँजो गयीं अँखियाँ जाने कैसे सपनों में खो गयीं अँखियाँ।' नैनों को लेकर उनके कुछ प्रसिद्ध गीत और हैं। जैसे; दो नैनों ने जाल बिछाये/और दो दैना उलझ गये (फिल्म-संसार), मतवाली आँखों वाले/ओ अलबेले दिलवाले (छोटे नवाब), घर आया मेरा परदेसी/प्यास बुझी इन अँखियन की (आवारा), नैन से नैन हुए चार/आज मेरा दिल आ गया (औरत), नैन मिले चैन कहाँ (बसंत बहार)।

बार-बार कवियों ने सुंदर चेहरे की चाँद से तुलना की है। कभी किसी ने तो अपनी प्रेयसी के मुख मंडल को चाँद से भी ज्यादा खूबसूरत कहा। परंतु चाँद और चेहरा यह प्रतीक पुराना होकर भी बहुत व्यवहृत है। शैलेंद्र तो चाँद, सितारे और चाँदनी की बातें खूब करते हैं उनका मन इनसे भरता नहीं और जब भी इनकी बातें करते हैं, नई नई-सी लगती हैं। वे कहते हैं-'चाँद सा मुखड़ा क्यों शर्माया/ आँख मिली और दिल घबराया' (इंसान जाग उठा)। इस गीत की पहली पंक्ति में ठहराव है, इसी से इसका सौंदर्य बोध उभरकर आता है। चाँद सा मुखड़ा क्यों शर्माया? शर्माना अप्रत्याशित है, इसीलिए सौंदर्य कई गुना बढ़ गया। आँखों ने अतिरिक्त सौंदर्य को देखा इसलिए दिल घबराया कि पहले ऐसा तो नहीं था। यह और कहाँ से आया? छोटी-सी पंक्ति में इतनी गहराई से बात कहने का कौशल शैलेंद्र को खूब आता है। गीत शैली में शैलेंद्र के शृंगार गीत बहुत लोकप्रिय और चर्चित हुए। हुस्न की तारीफ में उर्दू का लहजा भी उन्होंने अपनाया और ग़ज़ल की शैली में लोगों को इस गीत से खूब लुभाया। 'हाय जिसने मुझे बनाया है, वो भी मुझको समझ न पाया है मुझको सजदे किये हैं इन्साँ ने इन फ़रिश्तों ने, सर झुकाया है।' प्रेम का एक पक्ष वियोग भी है। प्रकृति के वही उपकरण जो प्रेम में उद्दीपन के लिए जाने जाते थे वियोग के समय उनकी प्रतीति कष्टदायक है। वही चाँद, तारे, वर्षा, हरियाली सब दुख प्रदान करने लगते हैं, जो कभी अत्यंत भले लगते थे। सूरदास ने गोपियों के विरह वर्णन में बहुत मार्मिक पद लिखे हैं। उनके इस प्रकार के पदों का 'संकलन' भ्रमर गीत काव्य कहलाता है। वियोग में प्रकृति की अनुभूति कितनी वेदनामय है, इसको सूरदास के शब्दों में देखिए-'बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै, तब ये लता लगति अति शीतल/अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।'

वियोग को शैलेंद्र ने भी खूब गाया है। वे तुलसी, सूर और मीरा की परंपरा से है। वही प्रकृति जो संयोग में अपने उदात्त स्वरूप में उपस्थित थी। वियोग के क्षणों में उसका रूप कष्टदायक है। न चाँद अच्छा लगता है। न चाँदनी सुहाती है। वर्षा वेदना को बढ़ा रही है और कोयलिया तो जैसे अपने बोल के बाण चलाकर हृदय को बींधे जा रही है। पेड़, पौधे, लताएँ और फूल, हृदय की पीड़ा और बढ़ा रहे हैं। ऐसी भाव दशा के अनेकानेक गीत शैलेंद्र की कलम से निकलकर आए हैं। शाम कभी खुशनुमा हुआ करती थी, अब तनहाइयों से भरपूर है और कभी चाँद-तारे हमारे संग गुनगुनाते थे, अब जार-जार आँसू बहाते हैं-'ये शाम की तन्हाइयाँ ऐसे में तेरा ग़म। पत्ते कहीं खड़के, हवा आई तो चौंके हम।' कुछ इसी तरह-'रुला कर चल दिये इक दिन हँसी बन कर जो आए थे चमन रो-रो के कहता है, कभी गुल मुस्कुराये थे।' वियोग के क्षणों में ऐसा लगता है जैसे कुछ मिट गया। संसार जैसे निस्सार हो गया। वही चंदा जो कभी मन में मिश्री घोल जाता था। अब रुला रहा है सारी रात-'तेरा जाना दिल के अरमानों का लुट जाना, जब-जब चन्दा आयेगा, तेरी याद दिलायेगा, सारी रात जगायेगा। मैं रो कर रह जाऊँगी, दिल जब ज़िद पर आयेगा, दिल को कौन मनायेगा।'

वियोग में मिलन के क्षणों की स्मृतियाँ शूल-सी लगती हैं। बार-बार मन उन्हें स्मरण कर दुख पाता है। दिन जो बीत गए, बस चलता तो उन्हें रोक लेते। पर कैसे? यह प्रश्न अनुत्तरित है। मन भटक रहा है, ऐसे प्रश्नों को लेकर। तरह-तरह की कल्पनाएँ करता है वह-'याद न जाए, बीते दिनों की/ जाके न आये जो दिन, दिल क्यूँ बुलाए, उन्हें/ दिन जो पखेरू होते, पिंजरे में मैं रख देता/ पालता उनको जतन से, मोती के दाने देता/ सीने से रहता लगाए' (दिल एक मंदिर)। प्रीतम के बिना सब ओर अंधकार है। इसका कोई विकल्प नहीं। बिना प्रीतम के मिले, जीवन में अँधियारा ही रहेगा। वो मिले तो जीवन में उजियारा हो-'रात और दिन दिया जले/मेरे मन में फिर भी अँधियारा है/जाने कहाँ है वो साथी/तू जो मिले जीवन उजियारा है।' (रात और दिन)।

वियोग गीतों में तो जैसे शैलेंद्र ने दिल उड़ेल दिया है। कोमल शब्दों में गहरी संवेदना को व्यक्त करना शैलेंद्र की विशेषता है। यह गीत देखिए-'सजनवा बैरी हो गये हमार, चिठिया हो तो हर कोई बाँचे, भाग ना बाँचे कोय, करमवा बैरी हो गये हमार। जाए बसे परदेस सजनवा सौतन के भरमाए, ना सन्देस ना कोई खबरिया, रुत आए रुत जाए। ना कोई इस पार हमारा ना कोई उस पार। सूनी सेज गोद मोरी सूनी मर्म ना जाने कोय। छटपट तड़पे प्रीत बिचारी ममता आँसू रोए, डूब गए हम बीच भँवर में कर के सोलह पार।' तीसरी कसम के इस गीत की कुछ पंक्तियाँ तो अत्यंत मार्मिक हैं-'चिठिया हो तो हर कोई बाँचे, भाग न बाँचे कोय' इस पंक्ति को पढ़ना, सुनना ही पर्याप्त है। इस पर कुछ कहने की जरूरत नहीं। अंतिम पंक्तियों की गहरी वेदना देखिए-'डूब गये हम बीच भँवर में, करके सोलह पार।' वियोगी मन की गहराइयों में जो घट रहा है, जो हलचल है वहाँ, उस शब्दातीत अनुभूति को शब्दों में पकड़ने की कोशिश में शैलेंद्र के ये गीत निकलकर आ रहे हैं। ये पंक्तियाँ गहरे स्पंदन से उपजी हैं। संयोग से गीतों में चाँद की खूबसूरती और शीतलता कहने में नहीं आती। बेशुमार है। वियोग के क्षणों में वही चाँद जलने लगता है। तारे अंगारों के समान हो जाते हैं-तारे नहीं, अंगारे हैं वो, अब चाँद भी जैसे जलता है नींद कहाँ सीने पे कोई भारी कदमों से चलता है। ऐ प्यासे दिल बेजुबाँ दर्द है तेरी दास्ताँ आग को आग में ढाल के कब तक जी बहलायेगा। ऐ प्यासे दिल बेजुबाँ वर्षा का मौसम वियोगी मन के लिए सबसे ज्यादा कष्ट कारक है। आसमान में उमड़ते-घुमड़ते बादल। वर्षा की नन्हीं बूँदें। ठंडी हवाएँ। चारों ओर हरियाली का आलम और अँधेरी रातों में बिजली का चमकना, ऐसे में तन्हाई। प्रिय मिलन की प्रतीक्षा। कैसी टीस है मन में, इसे शब्दों में व्यक्त करना, किसी सिद्धस्थ कवि के लिए भी बहुत कठिन है।

शैलेंद्र की कोशिश देखिए-'अजहुँ ना आए बालमा, सावन बीता जाए, नींद भी अँखियन द्वार न आए, तोसे मिलन की आस भी जाए, आई बहार खिले फुलवा, मोरे सपने कौन सजाए। चाँद को बदरा गरवा लगाए और भी मोरा मन ललचाए, यार हसीन गले लग जा मोरी उम्र गुज़रती जाए, वेदन की गहरी तड़प का यह दृश्य देखिए-'घर आजा घिर आये बदरा साँवरिया/मोरा जिया धक-धक रे चमके बिजुरिया' (छोटे नवाब)। कुछ इसी तरह-'झिर-झिर झिर-झिर बदरवा बरसे/ओ कारे-कारे/सोये अरमान जागे कई तूफान जागे' (परिवार)। वर्षा, मन भावन है यदि प्रेमी साथ है। साथ नहीं है किसी कारण से दूर है। अलग है, तब वर्षा की फुहारें उन्हें बीते पलों की याद दिलाती है। हृदय की इस पुकार को गहरी संवेदना के साथ शैलेंद्र ने अभिव्यक्ति दी-'ओ सजना, बरखा बहार आई रस की फुहार लाई, अँखियों में प्यार लाई तुमको पुकारे मेरे मन का पपिहरा मीठी-मीठी अगनी में, जले मोरा जियरा ऐसी रिमझिम में ओ साजन, प्यासे-प्यासे मेरे नयन तेरे ही, ख़्वाब में खो गए साँवली सलोनी घटा, जब जब छाई अँखियों में रैना गई, निन्दिया न आई।' इस प्रकार प्रकृति के अनेक रूप प्रेमी हृदयों की पीड़ा तरह-तरह से बढ़ाते हैं।

ऋतुएँ, चाँद, चाँदनी, वन-उपवन, नदियाँ, सागर आदि के माध्यम से शैलेंद्र विप्रलंभ शृंगार का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। पूर्ववर्ती काव्य में नारी विरह वेदना को ज्यादा प्रधानता दी गई है। श्रीमद्

भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी नारी विरह को प्रधानता दी गई है। हाँ, कालिदास अपने मेघदूत में पहले यक्ष की विरहावस्था का वर्णन करते हैं। बाद के उत्तर पक्ष में यक्षणीं की वेदना का चित्रण करते हैं। शैलेंद्र ने अपने विप्रलंभ गीतों में दोनों पक्षों की पीड़ा का समान रूप से वर्णन किया है। कहीं-कहीं तो एक ही गीत में दोनों ओर की पीड़ा कुछ इस तरह व्यक्त की गई है-'खोया-खोया चाँद, खुला आसमाँ/आँखों में सारी रात जाएगी/ तुमको भी कैसे नींद आएगी' (काला बाजार)। संयुक्त विरह की पीड़ा के कई गीत शैलेंद्र ने लिखे हैं। जुदाई का गम दोनों ओर पराकाष्ठा पर है-'ओ शमा मुझे फूँक दे/मैं न मैं रहूँ तू न तू रहे/यही इश्क का है दस्तूर/यहाँ जीते जी अपना मिलन/किस्मत को नहीं मंजूर' (आशिक)। वियोग के क्षणों में मनुष्य विवश है। उसे तन्हाई चाहिए। वह अकेलेपन में ही डूब जाना चाहता है। चारों ओर से निराशा ने घेर लिया है। वह भीड़ से गुम हो जाना चाहता है। कोई उसे न बुलाए। सब भूल जाएँ उसे। उसे किसी से कोई सरोकार नहीं। इस मन:स्थिति पर शैलेंद्र का यह गीत देखिए-'मुझे तुम से कुछ भी न चाहिये मुझे मेरे हाल पे छोड़ दो जिन्हें इस जहाँ ने भुला दिया मेरा नाम उनमें ही जोड़ दो, मैं वो गुल हूँ जो न खिला कभी, मुझे क्यों न शाख से तोड़ दो। प्रेम की असफलता में अजीब मन:स्थिति होती है। किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है व्यक्ति। हँसना भी होता है वहाँ और रोना भी। समझ में नहीं आता यह सब! एक तरफ आग और एक ओर पानी। ऐसी विरोधाभासी स्थितियों में मन डूबता-उतराता रहता है। शैलेंद्र ने इस स्थिति को शब्द दिए-'हम तुझ से मुहब्बत कर के सनम/रोते भी रहे, हँसते भी रहे/ये दिल जो जला इक आग लगी/आँसू जो बहे बरसात हुई/बादल की तरह आवारा थे हम' (आवारा) और 'डूबते हुये दिल को तिनके का सहारा भी नहीं/किन इशारों पर जियूँ कोई इशारा भी नहीं' (कहीं और चल)।

वियोग के क्षणों में प्रिय का स्मरण। पुरानी स्मृतियाँ। साथ-साथ बिताए पल-छिन फिर वर्षा की रिमझिम। विरह वेदना को बढ़ाने के सारे उपकरण, तब मन क्या महसूस करता है? यहाँ शैलेंद्र का शब्द विन्यास देखिए-'दिन ढल जाये हाय, रात ना जाये तू तो न आए तेरी, याद सताये प्यार में जिनके, सब जग छोड़ा, और हुए बदनाम उनके ही हाथों, हाल हुआ ये, बैठे हैं दिल को थाम। ऐसी ही रिम-झिम, ऐसी फ़ुवारें, ऐसी ही थी बरसात खुद से जुदा और, जग से पराये, हम दोनों थे साथ ऐसे में किसको, कौन मनाये दिन ढल जाये हाये।' विप्रलंभ की दशा में, वेदना को बढ़ाने में स्मृतियों की प्रमुख भूमिका है। संयोग के क्षण सुबह थे लेकिन बीत गए। मन बार-बार उन्हें पाना चाहता है। वे दिन, वे एहसास भुलाए नहीं भूलते। प्रकृति के उपक्रम सहज हैं, पर वे मन को आंदोलित कर असहज लगने लगते हैं। वही हवा और वही चाँद, तारे आज कैसी अलग अनुभूति लेकर आए। यादों का रह-रह कर कौंध जाना ऐसा जैसे राख में से चिंगारियाँ छिटक जाती हों। शैलेंद्र इस भाव-बोध को शब्दों में बाँधते हैं-'झूमती चली हवा, याद आ गया कोई। बुझती-बुझती आग को, फिर जला गया कोई। खो गई हैं मंज़िलें, मिट गये हैं रास्ते, गर्दिशें ही गर्दिशें, अब हैं मेरे वास्ते। चुप हैं चाँद चाँदनी, चुप ये आसमान है। मीठी-मीठी नींद में, सो रहा जहान है। एक हूक सी उठी, मैं सिहर के रह गया। दिल को अपने थाम के आह भर के रह गया। चाँदनी की ओट से मुस्कुरा गया कोई।' प्रेम में एक स्थिति बेवफाई की भी है। कहीं दौलत की चाहत है। कहीं प्रेम का दिखावा। अन्य कई कारण हैं, जिनमें कोई रास्ता बदल कर चल देता है। तब मन यों पछताता है कि शुरुआत ही क्यों की। न करते तो ठीक होता। चलो यह भी एक अनुभव है, परंतु अत्यंत दुखदाई। कुछ इस तरह-'क्या से क्या हो गया बेवफ़ा ऽऽऽ तेरे प्यार में। चाहा क्या, क्या मिला चलो सुहाना भरम तो टूटा जाना के हुस्न क्या है। कहती है जिसको प्यार दुनिया क्या चीज़ क्या बला है। तेरे-मेरे दिल के बीच अब तो सदियों के फ़ासले हैं।'

विरह की, वेदना की अंतिम परिणति मौत है। प्रेम में दुख मिला। निराशा हाथ लगी। अब जीने की इच्छा न रही। जैसे सब कुछ समाप्त हो गया, अवसाद की इस सीमा तक वियोग के एहसास को शैलेंद्र ले जाते हैं। उनके कई गीतों में यह भाव दशा उभर कर आई है-'ऐ मेरे दिल कहीं और चल, गम की दुनिया से दिल भर गया। चल जहाँ गम के मारे न हों झूठी आशा के तारे न हों।' तथा 'लाखों तारे आसमान में, एक मगर ढूँढ़े ना मिला। देखके दुनिया की दिवाली, दिल मेरा चुपचाप जला। जी करता है खुद ही घोंट दें, अपने अरमानों का गला। मौत है बेहतर इस हालत से, नाम है जिसका मजबूरी। कौन मुसाफ़िर तय कर पाया, दिल से दिल की ये दूरी।' संयोग और वियोग के उद्दीपन में प्रकृति की भूमिका को शैलेंद्र भलीभाँति जानते हैं इसलिए उन्होंने अपने गीतों में प्राकृतिक हलचल के साथ संयोग और वियोग के चित्र गढ़े हैं।

प्रेम में वियोग वेदना दोनों पक्षों में समान है। इसके बावजूद क्योंकि स्त्री कोमल है। उसमें समर्पण की भावना है। उसे पुरुष का आलंबन चाहिए। सुकुमार है वह। भावना प्रधान है। इसलिए वियोग-वेदना उसे ज्यादा सालती है, ऐसा मानकर पूर्ववर्ती कवियों ने उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कालिदास जैसे कवियों ने पुरुष पीड़ा को वरीयता दी, उसे पहचाना और उसकी संवेदना को नए आयाम दिए। पश्चिम की रोमांटिक कविताओं में प्रेमियों का विरह वर्णन विस्तार से मिलता है। इटली में पीट्रार्क की रूमानी कविता एक प्रेमी के हृदय का उद्गार है। शैलेंद्र अपने गीतों में दोनों पक्षों की विरह वेदना का खुलकर वर्णन करते हैं। हृदय जगत में उन्हें किसी

तरह का विभेद नहीं सुहाता। पहले प्रकृति की दोनों पक्षों के वियोग में भूमिका फिर पुरुष पीड़ा के दृश्य हम देख चुके हैं। अब स्त्री की विरह व्याकुलता का वर्णन हम शैलेंद्र के गीतों में देखने की कोशिश करेंगे। 'दोनों तरफ है आग बराबर लगी हुई'– वे इस उक्ति में विश्वास व्यक्त करते हैं। स्त्री हृदय की वेदना के चित्र भी उनके गीतों में अपार हैं।

कुछ उदाहरण देखिए–'सनन–सनन हाय पवन झकोरा बुझती आग जलाए। मन की बात नयन में आए मुझसे कही न जाए। माथे का सिन्दूर रुलावे लट नागिन बन जाए। लाख रचाऊँ उन बिन कजरा अँसुअन से धुल जाए। चौरस्ते पे जैसे मुसाफ़िर पथ पूछे घबराए। कौन देस किस ओर जाऊँ मैं मन मेरा समझ न पाए वियोग में विवशता का अत्यंत मार्मिक वर्णन करते हैं शैलेंद्र। अब क्या करे कोई? स्त्री हृदय की यह वेदना कितने प्रश्न लेकर आती है। वह पूछती है सारे जगत से, जगत नियंता से कि किसने ये रीत बनाई? जहाँ विरह को सिर्फ सहना है। अंतिम पंक्तियों में पूरी व्यथा उमड़ कर आती है कि हम अब किसे पुकारें? यहाँ तो हमारा साया ही हमसे जुदा हो गया है। शैलेंद्र के शब्दों में देखिए–'दिल अपना और प्रीत पराई किस ने है ये रीत बनाई। आँधी में एक दीप जलाया और पानी में आग लगाई है दर्द ऐसा कि सहना है मुश्किल, दुनिया वालों से कहना है मुश्किल। घिर के आया है तूफ़ान ऐसा, बच के साहिल से रहना है मुश्किल। दिल को सँभाला न दामन बचाया, फैली जब आग तब होश आया। ग़म के मारे पुकारें किसे हम हम से बिछड़ा हमारा भी साया।' विरह वेदना इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि विरहणी अपने मन से ही पूछती है कि क्या गाऊँ?

मन की अंतर व्यथा का वर्णन शैलेंद्र तरह–तरह से करते हैं। 'मन रे, तू ही बता क्या गाऊँ, कह दूँ अपने दिल के दुखड़े या आँसू पी जाऊँ। नींद में जब ये जग सोता है, मैं रोती हूँ, दिल रोता है मुख पे झूठी मुस्कानों के कब तक रंग चढ़ाऊँ।' विरह की अभिव्यक्ति सबसे पहले आँसुओं से होती है। आँसू नि:शब्द झरते हैं और पीड़ा का पता चलता है। नयनों से नींद का विदा हो जाना, दूसरा लक्षण है दुख का। नींद सहज है, पर मन असहज हो तो नींद दूभर है। वियोग वेदना में अब साँसें, जो जीवन का प्रतीक हैं। जीवन है जिनसे, वे ऊब पैदा कर रही हैं। अर्थात् मारे गम के जीवन व्यर्थ लगने लगा है। जीवन से यह पराजय तेरे वियोग के कारण है। माना कि तू लुटेरा है परंतु तेरी प्रतीक्षा में हूँ। तेरा अब तक न आना ही, जीवन का सबसे बड़ा कष्ट है। 'रुला के गया सपना मेरा, बैठी हूँ कब हो सवेरा। वही है ग़म–ए–दिल, वही है चंदा, तारे हाय, वही हम बेसहारे आधी रात वही है, और हर बात वही है फिर भी न आया लुटेरा। कैसी ये ज़िंदगी, कि साँसों से हम, ऊबे हाय, कि दिल डूबा हम डूबे एक दुखिया बेचारी, इस जीवन से हारी उस पर ये ग़म का अँधेरा।' प्रतीक्षा में आर्त पुकार। हृदय की चीत्कार। अंतिम निवेदन कि अब आ ही जाओ। कुछ वैसी ही अकुलाहट भरी प्रतीक्षा, जैसी द्रौपदी को रही होगी कृष्ण के आ जाने की। ऐसे बेचैन क्षणों का यह गीत देखिए–'आ जा अब तो आ जा मेरी क़िस्मत के ख़रीदार नीलाम हो रही है मेरी चाहत सरे–बाज़ार।' और अंत में मौत का चुनाव अपनी मर्जी से। इस गीत में ऐसी ही व्यथा देखिए–'दुआ कर ग़म–ए–दिल, खुदा से दुआ कर वफ़ाओं का मजबूर दामन बिछा कर जो बिजली चमकती है, उनके महल पर वो कर ले तसल्ली, मेरा घर जला कर सलामत रहे तू, मेरी जान जाए मुझे इस बहाने से ही मौत आए। करूँगी मैं क्या चंद साँसें बचा कर।'

इस प्रकार शैलेंद्र अपने गीतों में प्रेम का एक अद्भुत संसार रचते हैं, जिसमें संयोग, वियोग और प्रकृति की दोनों पक्षों में भूमिका उभर कर सामने आती है। संयोग और वियोग की अंतर दशाएँ जितने विविध ढंग से व्यक्त की जा सकती है, शैलेंद्र ने उन्हें व्यक्त करने का प्रयास किया है। श्रृंगार में संयोग और विप्रलंभ दो अंग होने से उसकी व्यापकता अधिक है। इसी प्रकार नर व नारी को हमारी परंपरा में पुरुष और प्रकृति के रूप में निरूपित किया गया है, जिसका नैसर्गिक संबंध सनातन है। इसलिए श्रृंगार को हम सनातन राग मानते हैं। मानव मन के विस्तार में विविध भाव हैं, रस हैं, अनुभूतियाँ हैं, जिनका काव्य जगत में विस्तारपूर्वक वर्णन है परंतु आचार्यों ने एक मत से 'श्रृंगार रस' को 'रसराज' कहा है। सृष्टि के प्रारंभ से प्रलय तक प्रेम का विस्तार है इसलिए यह महासागर है, जिसमें कवि, कलाकार, संगीतज्ञ गोते लगाकर नित नूतन रत्न प्राप्त करते रहते हैं।

शैलेंद्र ने भी अपने गीतों के माध्यम से वही किया है। इन्होंने श्रृंगार के अनमोल रत्न हमें प्रदान किए हैं। रूप–सौंदर्य का गुणगान। संयोग का आनंद, उल्लास और विप्रलंभ की वेदना उनके गीतों में पर्याप्त उभरकर आई है। वे अपने गीतों में काव्य प्रेरणा कालिदास, जयदेव और विद्यापति से लेते हैं। कालिदास जिस प्रकार पहले यक्ष की वेदना समझते हैं, उसी प्रकार शैलेंद्र के विप्रलंभ वर्णन में पुरुष कहीं भी उपेक्षित नहीं है। नारी की वेदना जग जाहिर है। वह स्वभाव से संवेदनशील है। इसलिए उसकी पीड़ा को शैलेंद्र ने व्यापक फलक प्रदान किया है। शैलेंद्र, जीवन संदर्भ से श्रृंगार के विभिन्न रूपों, स्थितियों और दशाओं के वर्णन में सफल हैं। उनकी दृष्टि समाज और शास्त्र के बंधनों से मुक्त है। वे उन्मुक्त प्रेम के गायक हैं। हृदय जगत में वे नर और नारी के भेद से उठकर खालिस अनुभूतियों को वरीयता प्रदान करते हैं। वे अपने गीतों से जिस प्रकार रस का संचार करते हैं, वह कुशलता उन्हें यादगार कवि के रूप में निरूपित करती है।

376–बी, सेक्टर आर,
महालक्ष्मी नगर, इंदौर–452010 (म.प्र.)
मो. 9425167003

पद्मा सचदेव : संजीदगी में समाया साहित्य

– निर्मला डोसी

जन्म – 5 जनवरी 1953।
शिक्षा – स्नातक पत्रकारिता।
रचनाएँ – सात पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – फणीश्वरनाथ रेणु पुरस्कार हिंदी साहित्य अकादमी सहित अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत।

तपते जेठ में उतर आया था सावण कविता दत्तू और मलिका पुखराज की उर्वर जमीन जम्मू से आईं थीं वे। 2009 का मई महीना था। इन दिनों तो वे मुंबई में रहने लगी थीं, पर तब वे जम्मू से आईं थीं और महानगर की साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था 'चौपाल' ने उन्हें आमंत्रित किया था अपनी मासिक गोष्ठी में।

लगभग दुर्लभ दिखने जैसा उनका भव्य व्यक्तित्व, ललाट तक झुका माथे पर ओढ़ा साड़ी का आँचल, कान व नाक में पहने झलमल करते हीरे के लोंग-कांटे, हाथ भर चूड़ियाँ और खजाना भर आखर। जो ऐसे टूटकर बरसे की जेठ में ही सावन हो गया था। कविताएँ, गीत, संस्मरण सब कुछ सुनाएँ और सुधि श्रोताओं ने सिर्फ सुना ही नहीं बड़ी संजीदगी से गुना भी।

बहुमुखी प्रतिभा की धनी पद्मा सचदेव जी को 'मदर आफ डोगरी' कहा जाता है। सन 2003 में डोगरी को भारतीय भाषाओं में शामिल करवाने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

जम्मू के ही वरिष्ठ रचनाकार वेद राही जी ने पद्मा जी की लिखी पुस्तक 'चित्त चैते' पर अपनी लिखी समीक्षा का अंश सुनाते हुए बताया कि लगभग सात सौ पृष्ठों की यह पुस्तक ऐसी है जिसके वरक-वरक पर कविताओं के टुकड़े यूँ बिखरे पड़े हैं, जैसे पहाड़ों पर फूल और खूम्बियाँ बिखरी होती हैं। यह ऐसी महाकाव्यात्मक आत्मकथा है जिस पर कविता को भी रश्क होने लगे।

पद्मा सचदेव के पति सरदार सुरेंद्र सिंह नामी संगीतकार व गायक हैं। संगीत नृत्य एवं कला के क्षेत्रों के ख्यातनाम नाम लोगों से उनकी अंतरंग मुलाकातें होती रहती थीं। पद्मा जी की साक्षात्कारों की तीनों पुस्तकें अनूठी इसलिए हैं क्योंकि एक तो, वे सब अपने-अपने क्षेत्रों के दिग्गज कलाकार, उस पर उनका बात करने का आत्मीय ढंग, जिसे उन्होंने मोतियों की तरह शब्दों में पिरो कर बेशकीमती जेवर बना कर साहित्य की धरोहर बना दिया है। उसका प्रमाण है उस दिन पुष्पा भारती जी ने पद्मा जी का लिखा 'आशा भोंसले' का शब्द चित्र पढ़ा, तो सभी श्रोता विस्मय विमुग्ध हो कर रह गए थे।

उमा वासुदेव पद्मा जी की जम्मू की पुरानी दोस्त रही हैं, वे उनकी आत्मकथा का अंग्रेजी में अनुवाद कर रही हैं और उन पर एक वृत्तचित्र अभी बनाया है।

सीमा सहगल में पद्मा जी के दो डोगरी गीतों को अपनी सरस और सधी आवाज में गाया, साथ कोई साज नहीं था। भाषा से भी लगभग सभी श्रोता अंजान थे, फिर भी डोगरी भाषा के माधुर्य और गीतों के दर्द को अपने भीतर बजता महसूस किया था हमने।

पद्मा जी की कविताएँ, गीत, उपन्यास, कहानियाँ, संस्मरण और शब्द चित्रों का विपुल लेखन भंडार है। उनकी एक कविता तो बहुत प्रसिद्ध है 'यह राजे के महल क्या आपके हैं।' और उसे उनसे सुनने का आग्रह है बार-बार हर महफिल में किया जाता है।

जाहिर है, उस दिन भी यही हुआ, और पद्मा जी ने उस दिन कविता सुनाने से पहले उस कविता के बनने की कथा विस्तार से सुनाई तो वहाँ उपस्थित हर व्यक्ति के शरीर में सनसनी सी

दौड़ गई। 'सन सैंतालीस की कई कहानियाँ जोगनों की तरह मेरे शहर की गलियों में घूमा करती थीं। उनके इस कथन पर स्तब्ध रह जाना पड़ा। लंबी कविता डोगरी में सुनाई और बाद में उसे हिंदी में सुना कर श्रोताओं को अभिभूत कर छोड़ा। एकबारगी चारों तरफ सन्नाटा सा पसर गया, जो कविता के मर्म का तो था ही उसके रचने की प्रक्रिया में रचनाकार की संवेदनशीलता भी कमाल की थी। कविता के हर्फ बेहद ठंडे पर अर्थ बड़े मारक थे। उसके असर से अछूता रह पाना संभव नहीं था।

कविता पाठ के बाद पद्मा जी के साथ श्रोताओं का लंबा बातचीत का दौर चला। अपने संस्मरणों के भरे जखीरे में कुछ नगीने निकालतीं और बार-बार दूर निकल जातीं, श्रोताओं को साथ लेकर। फिर बड़ी मासूमियत से पूछती 'प्रश्न क्या था भाई! मैं कहाँ थी?

बहरहाल इसका होश सुनने वालों को भी कहाँ था। वे भी मंत्रबिद्ध से उनकी अँगुली थामे अलियों-गलियों में घूमने निकल पड़े थे।

सरस कंठ से लोकगीत गाते, उनका यह कहना सबको भा गया कि 'लोक गीत लिखे नहीं जाते, वे बन जाते हैं। उनका मुखड़ा किसी एक गाँव में बनता है तो अंतरा किसी दूसरे गाँव में। दूसरा अंतरा कुएँ की मुँडेर पर, तो तीसरा मेले में और चौथा बनता है पनघट पर। मैं खुशनसीब हूँ, कि न सिर्फ मैंने लोकगीत बनते देखे हैं, बल्कि उनका हिस्सा भी बनी। अपने गद्य लेखन का पूरा श्रेय उन्होंने स्वर्गीय धर्मवीर भारती जी को दिया। संस्कृत के स्कॉलर एवं डबल एम. ए. पिता की जहीन बेटी पद्मा जी से खत लिखवाने आती गाँव की औरतें, उनकी माँ से कहा करतीं 'शकुंतला तेरी बेटी आग की लपट है।'

जाति से बाहर प्रेम-विवाह करने वाली, अपनी माटी से बेइंतहा मोहब्बत करने वाली, राज पंडितों की बेटी को काफी कुछ सहना पड़ा और कहीं न कहीं उसका दर्द उनकी रचनाओं में प्रतिबिंबित हुआ स्पष्ट दिखता है।

किसी रचनाकार को उसकी रचनाओं के अलावा रूबरू मिलकर सुनकर ज्यादा जाना जा सकता है पद्मा जी को पढ़ा बहुत है लेकिन अपने कश्मीर यात्रा के दौरान मैंने उनकी दो पुस्तकें साथ रखी। 'नौशीन' और 'अब ना बनेगी देहरी।' कारण यही था मैं कश्मीर को और ज्यादा करीब से देखना-समझना चाहती थी और उन दो उपन्यासों ने मेरी नजर को साफ किया।

वे पंचतत्वों में विलीन हो चुकी हैं, तब जेठ की वो तपती शाम बड़ी शिद्दत से याद आ रही है जब आखर मोती का रूप धर कर खूब बरसे।

2201- ए.सी.एम.ई,
एवेन्यू, भावरकर नगर,
चारकोप कांदिवली पश्चिम,
मुंबई-400067 (महा.)
मो.-9322496620

प्रतिभा प्रोत्साहन प्रतियोगिता, बुरहानपुर

सर्व कल्याणकारी गीता प्रेस गोरखपुर को हमारा नमन

– ओम प्रकाश खुराना

जन्म – 1 जनवरी 1951

शिक्षा – इंटर मीडियड।

रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित।

चक्रवर्ती सम्राट दशरथ वृद्ध हो चले थे, राजमहल की ऊर्जा में सौम्यता भी घुली हुई थी। महाराज कुछ विचारमग्न थे। थोड़ी देर उपरांत वह सचिव को साथ लेकर राजगुरु वशिष्ठ जी के कक्ष की ओर चल दिए। गुरुदेव की चरणवंदना के पश्चात् उन्होंने प्रश्न रखा राजकुमार श्रीराम को अवधपति के रूप में राजतिलक किए जाने का शुभ महुर्त बताइए गुरुदेव। तदुपरांत गुरुदेव ने जो बताया वह स्मरण रखने योग्य है। गुरुदेव ने कहा यह शुभकार्य आप जिस दिन कर दें, वह दिन ही शुभ का प्रतीक हो जाएगा। इस चर्चा से हम सभी को सुंदर सीख मिलती है कि लोक कल्याणकारी कार्यों को यथासंभव शीघ्र कर देना चाहिए। हम यहाँ सनातन संस्कृति की रक्षा की चर्चा कर रहे हैं। ब्रिटिश सांसद और ईस्ट इन्डिया के हितैषी लार्ड मैकाले ने सन् 1835 से हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृति की जड़ें काटना आरंभ कर दिया था। हमारे गुरुकुलों व धर्मग्रंथों को हटाने व गलाने की योजनाएँ होने लगीं। भाड़े के लेखकों से अंग्रेजी सत्ता के समर्थन करने वाली इतिहास व शिक्षा की पुस्तकें लिखवाई जाने लगीं। उनकी पुस्तकों को पढ़ने वाले छात्र अंग्रेजों के नौकर अथवा उनके सहयोगी अधिकारी बनने में गौरान्वित होने लगे थे। ऐसे लोग स्वार्थवश अपनी परम्पराओं को अलाभकारी और रूढ़िवादी मानने लगे।

अंग्रेजी शासन में सनातन संस्कृति का क्षरण देखकर आदरणीय श्री जयदयाल गोयनका और भाई हनुमान प्रसाद पोद्दार जी ने राष्ट्रहित में ज्ञान यज्ञ का सद्संकल्प लिया और तुरंत ही मई 1923 में 'गीताप्रेस' की स्थापना कर दी। यहाँ से छोटी-छोटी पुस्तकें दैनिक संध्या, भजन आरतीयाँ, पर्व, तीज-त्यौहारों के महत्त्व, हनुमान चालीसा, गीता और रामचरित मानस आदि का प्रकाशन होने लगा। कुछ वर्षों पश्चात् सभी पुराण भी प्रकाशित होने लगे। इस प्रकाशन संस्था का एक मात्र लक्ष्य जनसेवा और धार्मिक उत्थान ही रहा है। इसे कुछ समाज सेवी विभूतियों ने सहयोग देने का वचन दिया तो गीता प्रेस की पुस्तकें लागत मूल्य से भी कम में वितरित की जाने लगीं। गीता, प्रेम ने जातिगत टुकड़ों में बँटे भारतीय समाज को जोड़ने का भी महान कार्य किया है। इसने सनातन संस्कृति के सभी अवतारों, देवी-देवताओं व ऋषियों के गुण कर्म को जन-जन तक पहुँचाते हुए मतमंतांतों को समावेशी धारा में लाने का उत्तम प्रयास किया है। सनातनी एकात्मकता को प्रोत्साहित करने के लिए सभी प्रदेशों की लोकभाषा में प्रचलित लोक कथाओं को 'कल्याण मासिक' में स्थान दिया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानस में शैव और वैष्णवों को एक ही पंक्ति में बिठाकर प्रेमपूर्वक सहभोज कराया है। गीता प्रेस ने तमिल, तेलुगु, बँगला, उड़िया, गुजराती आदि भाषाओं के साथ-साथ देवनागरी हिंदी भाषा को भी प्रतिष्ठित किया है। इन सौ वर्षों में रामचरित मानस की ग्यारह करोड़ उनचालीस लाख प्रतियाँ प्रकाशित कीं। यह पुस्तक मानव जाति में व्यक्ति को व्यवहार कुशल बनाने के साथ-साथ पुरुषोत्तम व्यक्ति बनने का मार्गदर्शक ग्रंथ है। इसी प्रकार श्रीमद् भगवद्गीता की पंद्रह करोड़ पचहत्तर लाख प्रतियाँ प्रकाशित कर विश्व कीर्तिमान स्थापित किया है। गीता प्रेस को

गिनीस बुक की प्रशंसा अथवा शासन से कभी सम्मान की अपेक्षा भी नहीं रही। यह तो सनातन धर्म यानी मानव सेवा में व्यस्त रहती है।

गीता प्रेस तो अपनी स्थापना से ही महामना मदनमोहन मालवीय और महात्मा गाँधी के बताए दो सूत्रों पर अटल विश्वास से कार्य कर रही है। प्रथम इनकी पत्रिका में कभी विज्ञापन नहीं छपेगा, दूसरा संस्थान द्वारा प्रकाशित सभी ग्रंथ लागत मूल्य पर ही वितरित किए जाएँगे। गीता प्रेस की ख्याति से अरबों रुपए के विज्ञापन के प्रस्ताव आते हैं। किंतु सत्यता पर अटल रहते हुए बड़े-बड़े विशेषांक भी पाठकों को सामान्य मूल्य पर भेंट करती है। 'कल्याण' का प्रत्येक पृष्ठ सुरुचिपूर्ण होता है, पत्रिका के कुछ स्थाई स्तम्भ भी हैं जो जिज्ञासुओं को बरबस आकृष्ट करते रहते हैं। जैसे पढ़ो-समझो और करो, याद रखो, माह के तीज त्यौहार और व्रत कथाएँ, जिज्ञासुओं के प्रश्नोत्तर, तीर्थ चर्चा, एक अरिहंत, अवतार-गुरु अथवा तीर्थंकर की जीवनचर्या, सामाजिक समस्या निवारत पथ, श्रीराम सहित मानस या श्रीमद् भगवद्गीता के गूढ़ार्थ जो अचेतन अंतस को स्पन्दित कर जाते हैं। इसमें विश्व के प्रकाण्ड विद्वानों के प्रेरक लेखों को भी सम्मान पूर्वक स्थान दिया जाता है।

सनातन संस्कृति को प्रकाशित करने वाली हरेक पुस्तक पर भाषा, आकार व शीर्षक के आधार पर कोड क्रमांक लिखा रहता है ताकि पाठकों को कृपादेश देने में लंबे ब्योरे, दीर्घ विवरण न लिखने पड़ें, बल्कि कोड क्रमांक ही पुस्तक की समग्र जानकारी है। विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के लगभग 1800 कोड हैं। देश की सभी सनातन संस्थाएँ गीता जयंती तो मनाती हैं और हृदय से गीता प्रेस गोरखपुर की भी आभारी हैं। मध्य प्रदेश के मानस भवन, तुलसी मानस प्रतिष्ठान ने आम गोष्ठियाँ आयोजित कर गीता प्रेस के अवदानों को प्रचारित किया तथा जनवरी 2024 को तुलसी मानस भारती का पूर्ण विशेषांक ही गीता प्रेस को समर्पित है। गीता प्रेस की प्रत्येक पुस्तक शिक्षा के ज्ञानघट की तरह होती है। वह पाठक में सेवा, सुमरन, सत्संग, दान, धर्म, करुणा, तप धैर्य आदि सद्गुणों को धीरे-धीरे प्रवेश कराती है। या अंतस में पड़े बीजों को अंकुरित करने लगती है। सनातन संस्कृति के विकास की विचारधारा में इनका अमूल्य योगदान है। कल्याण का नियमित पाठक हूँ और डमरू बजाकर कह सकता हूँ कुछ रिश्ते मुनाफा नहीं देते, पर जिंदगी को अमीर बना देते हैं।

हरियाणा हैण्डलूम भवन,
33/33, न्यू मार्केट, टी.टी. नगर,
भोपाल (म.प्र.)
मो.-8989717058

दीपावली मिलन समारोह

हिंदी गीत के सशक्त हस्ताक्षर : नरेन्द्र दीपक

– मधु शुक्ला

जन्मस्थान – लालगंज, रायबरेली (उ.प्र.)
शिक्षा – एम.ए., बीएड.।
रचनाएँ – एक पुस्तक प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित।

गीतकार एवं साहित्यक सम्पादक के रूप में प्रतिष्ठित 'श्री नरेंद्र दीपक' का नाम देश के उन शीर्षस्थ रचनाकारों में शुमार है, जिन्होंने गीत सृजन का लम्बा और उल्लेखनीय सफर तय किया है। सृजन के इस सफर में अनवरत साठ वर्षों से चलते हुए दीपक जी आज अपनी उम्र के पचासी वर्ष पूर्ण कर उस मुकाम पर आ पहुँचे हैं, जहाँ से उनके पास पीछे मुड़कर देखने के लिए बहुत कुछ है–जीवन की खट्टी–मीठी स्मृतियाँ हैं, संस्मरणों की निधियाँ हैं, अनुभवों की थाती है और अर्जित की हुई अनेक उपलब्धियाँ हैं, साथ ही उनका गढ़ा हुआ समृद्ध रचना संसार है, जिसका आज इस मोड़ पर समग्र रूप से आकलन और अनुशीलन किया जाना बहुत सार्थक और समीचीन जान पड़ता है।

दीपक जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा चलते ही मेरे स्मृति पटल पर सुविख्यात गीतकार कीर्ति शेष 'श्री शिव बहादुर सिंह भदौरिया' की ये पंक्तियाँ स्वत: ही कौंध उठती हैं–
जो उन पर अक्षरश: सटीक बैठती हैं–
'आघात आँधियों के हर पेड़ पर पड़े हैं।
जिनकी जड़ें हैं गहरी, वो आज तक खड़े हैं।'

दीपक जी, आज सफलता के जिस शिखर पर खड़े हैं उसकी बुनियाद में संघर्षों की बहुत गहरी जड़ें हैं, जिनकी तपन ने उन्हें तराश कर चमकदार बनाया है, क्योंकि बिना तपे सोना कुंदन नहीं बनता। संघर्षों की इसी कसौटी पर तपकर ही दीपक जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है।

छायावादोत्तर साठोत्तरी गीत काव्य परिदृश्य पर जिन प्रमुख गीतकारों ने अपनी उपस्थिति से साहित्य में नया स्वर फूँका था, उनमें एक स्वर 'नरेन्द्र दीपक' का भी था।

जिन्होंने गीत विधा के उस संक्रमण और संघर्ष के युग में गीत की लौ को बचाए रखने की जद्दोजहद के बीच 'नयी कविता' की चुनौती को स्वीकारते हुए 'तार सप्तक' के समानांतर 'गीत गंध' संकलन की परिकल्पना की। सहयोगी सम्पादकत्व में मध्य प्रदेश की माटी के सात कवियों को लेकर 'गीत गंध' संग्रह का संपादन एवं प्रकाशन किया जो 'नयी कविता' के लिए बहुत करारा और सार्थक जवाब था जिसकी मध्यप्रदेश सहित पूरे देश में चर्चा हुयी और खासी लोकप्रियता मिली।

ऐसी ऊर्जा और उत्साह के साथ अपनी गीत यात्रा प्रारम्भ करने वाले श्री नरेंद्र दीपक जी ने अपनी शुरुआती रचनाओं के साथ ही साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, भारती, (अब नवनीत), कादम्बिनी, आदर्श, ज्ञानोदय, माध्यम, लहर, साहित्य अमृत, वीणा जैसी देश भर की प्राय: सभी स्तरीय पत्र–पत्रिकाओं में अपनी लेखनी की पहचान दर्ज करा ली थी। इसी के साथ वे आकाशवाणी एवं मंचों द्वारा भी सुने और सराहे जाने लगे। उनकी काव्य यात्रा क्रमश: आगे बढ़ती गयी, वे देश भर के मंचों में प्रथम श्रेणी के कवियों के बीच काव्य पाठ करते रहे, जिनमें–बच्चन, नीरज, रामनाथ अवस्थी, गोपाल सिंह नेपाली, बलवीर सिंह रंग, शिव मंगल सुमन, रमावतार त्यागी, वीरेंद्र मिश्र, बाल स्वरूप राही जैसे शीर्षस्थ गीतकार थे। उन्हें न सिर्फ प्रशंसा और प्यार मिलता रहा, अपितु उनके सान्निध्य में गीत की बारीकियों को सीखने और समझने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ।

रेलवे अधिकारी के रूप में भी उन्होंने रेल्वे में अनेक कवि सम्मेलन करवाये जिसके द्वारा वे देश भर के गीतकारों के संपर्क में आये और एक सफल आयोजक एवं संचालक के रूप में भी उनकी प्रतिभा सामने आयी। यह साठ–सत्तर और अस्सी के दशक का वह दौर था जिसे हम हिन्दी गीत और कविता के मंचों का स्वर्ण युग कह सकते हैं। इस युग में अच्छे

गीत रचे गये छापे गए, पढ़े गए और मंचों से सुने और सराहे गए। आज यही गीत हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं जिसने गीत को लोक से जोड़ा और नए आलोक से भर दिया।

हिन्दी गीत की इसी मशाल के दो-चार दीप जो आज भी झिलमिला रहे हैं और अनुगामी गीतकारों को राह दिखा रहे हैं, जिनमें बालस्वरूप राही, रामदरश मिश्र, सोम ठाकुर, माहेश्वर तिवारी और बुद्धिनाथ मिश्र जैसे नाम हैं, दीपक जी इसी पंक्ति के दीप हैं, जिन्होंने गीत विरोधी आँधियों के बीच अपना दीया जलाये और बचाये रखा।

3 सितंबर 1938 को झाँसी (उत्तर प्रदेश) में जन्मे दीपक जी की उम्र जब महज 19 वर्ष की थी, तभी उनके सिर से पिता का साया उठ गया था और परिवार में सबसे बड़े होने के कारण पूरे घर का बोझ उनके नाजुक कंधों पर आ गिरा, इसे किस्मत कहें या सच्ची साधना का फल कि वे संघर्षों से कभी हारे या टूटे नहीं अपितु अपने साहस और परिश्रम से कठिन समय की सभी बाधाओं को पार करते चले गए, आर्थिक संकटों, अभावों और असुविधाओं के बावजूद उन्होंने हिंदी में एम. ए. एवं एलएल. बी. की उच्च शिक्षा पूर्ण की और रेलवे की सेवा में आ गये।

दीपक जी की काव्य प्रतिभा का परिचय तो विद्यार्थी जीवन से ही मिलने लगा था, सन 1958-59 में शासकीय महाविद्यालय गुना (म. प्र.) में उन्हें विद्यार्थी परिषद के पैनल से साहित्य मंत्री चुना गया। प्रारम्भ में वे मुक्तक और वीर रस की रचनाएँ ही लिखा और मंचों से पढ़ा करते थे। चूँकि वो भारत-चीन युद्ध का दौर था, इसलिए वीर रस की रचनाएँ बहुत सुनीं और सराही जाती थी।

दीपक जी का पहला गीत 1958 में वीणा मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। वीणा जो उस समय की लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिकाओं में शुमार थी, और अपनी इसी स्तरीयता को बरकरार रखते हुए आज शताब्दी की देहरी पर खड़ी है।

दीपक जी ने जीवन के तमाम पक्षों को एक साथ साधा है। चूँकि दूसरी पंक्ति में रहना उन्हें कभी स्वीकार नहीं था अत: जिस काम को लिया उसे पूरी शक्ति, लगन और समर्पण के साथ किया, इसी विशिष्टता के चलते उन्होंने भारतीय रेलवे में न केवल अपनी पहचान एक कर्मठ और अनुशासनप्रिय अधिकारी की बनाई, अपितु विभाग के अधिकारियों के बीच अपना प्रभाव व वर्चस्व कायम रखा। अत: आगे बढ़ने की इस दौड़ और होड़ में कविता का पीछे छूटना तो स्वाभाविक ही था, परन्तु ऐसे प्रतिकूल वातावरण में भी दीपक जी अपनी सृजन प्रतिभा के अंकुरों को यथासंभव सूखने और मुरझाने से बचाते रहे और इन्हीं की शीतल छाँव में शांति और सुकून के पल तलाशते रहे।

छ: दशकों चलती हुई उनकी काव्य यात्रा ने उपलब्धियों के अनेक शिखर छुए, आज वे हिंदी गीत विधा के सशक्त हस्ताक्षर हैं, उनके पास संग्रहों की लम्बी फेहरिश्त भले ही न हो, पर उन्होंने जो लिखा सार्थक लिखा, उल्लेखनीय लिखा। दीपक जी के तीन गीत संग्रह-'दर्द मुस्कुराता है' 'अंजुरी भर चाँदनी', 'और सोच में तुम', एक ग़ज़ल संग्रह-'देर रात तक' एवं संपादित संग्रह-'गीत गंध' प्रकाशित हैं।

इसके अतिरिक्त कल्पना प्रकाशन, दिल्ली से उनके चुनिंदा गीतों का संग्रह 'सदाबहार गीतकार-नरेन्द्र दीपक' प्रकाशित है। कल्पना प्रकाशन द्वारा देश के शीर्षस्थ गीतकारों को लेकर चलायी गयी श्रृंखला-'सदा बहार गीतकार' के वे प्रमुख कवि हैं। इस पुस्तक का विमोचन दिल्ली साहित्य सम्मेलन भवन में बहुत गरिमामय और भव्य समारोह में हुआ। दीपक जी की सभी कृतियाँ बहुत चर्चित और पुरस्कृत हुईं।

गीत संग्रह-'अंजुरी भर चाँदनी' पर उन्हें भारत सरकार द्वारा मैथिलीशरण गुप्त सम्मान प्राप्त हुआ एवं 'और सोच में तुम' को वर्ष 2016 में दिल्ली की चर्चित संस्था 'परम्परा' का ऋतुराज सम्मान और 'देर रात तक' ग़ज़ल संग्रह को मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा 'भवानी प्रसाद मिश्र' राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया गया।

दीपक जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के और भी कई आयाम हैं। वे रेलवे के प्रशासनिक पद से सेवानिवृत्त होकर लगभग सात वर्षों तक राजनीति से भी सक्रियता से जुड़े रहे, परंतु उनके बिंदास और सहृदय मन को राजनीति रास नहीं आई, और वे पुन: कविता की ओर उन्मुख हो गये। उन्होंने कई देशों की साहित्यिक यात्राएँ कीं। लंदन, अमेरिका, दुबई आदि देशों में काव्य पाठ किया। वे भारत भवन भोपाल में भी कुछ समय के लिए वागर्थ के निदेशक एवं मुख्य प्रशासनिक अधिकारी रहे। वर्तमान में वे ऊर्जा मंत्रालय (भारत सरकार) की हिन्दी सलाहकार समिति के सक्रिय सदस्य हैं। सम्प्रति वे स्वतंत्र लेखन के साथ-साथ 'पहला अंतरा' पत्रिका का कुशल संपादन कर रहे हैं और साहित्य

सेवा के साथ ही देश भर के साहित्यकारों से संपर्क बनाये हुए हैं।

दीपक जी बच्चन, नेपाली, नीरज, सुमन, रमानाथ अवस्थी और रमावतार त्यागी की परंपरा के कवि हैं या कहें कि इन कवियों का उन पर गहरा प्रभाव रहा है जिसे वे नि:संकोच स्वीकार करते हैं–'दीपक के गीतों से आती नीरज और सुमन की खुशबू' और इसी धारा को आगे बढ़ाया है। उनके गीतों में परम्परा और नवीनता का अद्भुत समन्वय है, वे परम्पराओं की अँगुली थामे हुये नवीनता की राह पकड़ते हैं–

नया गीत लिखने का मन, / अलग-थलग दिखने का मन
मन है कि धूप में जलूँ, / कई-रूप में जलूँ
ऐसा कुछ चलन ही मिले, / उम्र सारी जलन ही मिले
गहराई सहने का मन। / धार-धार बहने का मन।

नरेंद्र दीपक के गीतों का मुख्य स्वर प्रेम है। इसी भाव के इर्द-गिर्द उनकी अधिकांश रचनाओं का ताना-बाना है। प्रेम और श्रृंगार उनकी रचनाओं का मूल तत्व है। श्रृंगार में भी वियोग श्रृंगार में उनकी लेखनी कुछ ज्यादा रमी है। संयोग जहाँ प्रेम पथ की मंजिल है, विराम है, वहीं वियोग प्रेम की अनंत यात्रा है, जो मानव को सतत् गतिशील बनाए रखती है। तभी वे कहते हैं–

दर्द का अनुवाद भर मैंने किया है, / गीत जैसा कुछ नहीं है पास मेरे।

एवं

सदा भिन्न विषयों से मैंने / अपनी कलम बियाही लेकिन
कुछ ऐसा अनुभव करता हूँ / केवल तुझको ही गाया है।

यही भाव उनकी ग़ज़लों में भी परिलक्षित होता है–

आँखों में रहा इंतजार देर रात तक। / नींदे मेरी रहीं फ़रार, देर रात तक।

ऐसे अनेक गीत जो अपने छंदों, तर्ज, और भाषा के नवीन प्रयोग के कारण अपनी अलग छाप छोड़ते हैं और कवि की प्रयोगधर्मिता का परिचय देते हैं। प्रेम के प्रति कवि के समर्पण की अनुभूति इन गीतों में बिखरी पड़ी है। वह प्रेमी के सम्मुख नतमस्तक होने में भी संकोच नहीं करता–

जिस जगह परछाई भी पहुँची तुम्हारी
ठौर वह मुझको कि जैसे देवता का घर।

पीड़ा के इस गायक की सहज अभिव्यक्ति दृष्टव्य है–

एक दृष्टि भर समय और दो / आधी बात रही जाती है।
आँसू की चर्चा में अक्सर / मेरी कथा कही जाती है।

प्रेम और श्रृंगार की गहरी भावभूमि प्रभावी कथन, सहज-सरल भाषा, लयात्मक छन्द, चमत्कृत बिम्ब विधान से सधे-बँधे ये गीत पाठक के मन में स्थाई प्रभाव छोड़ते हैं। दीपक जी श्रृंगार, प्रेम और पीड़ा के कवि हैं, इस सत्य के बावजूद वे अपने समय, समाज और आज के वातावरण व विसंगतियों से विमुख नहीं हैं। उनका प्रेम संकुचित या एकांगी नहीं है अपितु वह अपने विस्तार में अपने समय की धड़कनें समेट लेता है।

इतना अँधियारा, इतनी तेज हवा / ऐसे मौसम की खोजो कहीं दवा

या फिर–

सिर्फ उन्हीं का साथी हूँ मैं, / जिनकी उम्र सिसकते गुजरी
इसीलिए बस अँधियारे से / मेरी बहुत दोस्ती गहरी।

सहजता इन गीतों का मुख्य आकर्षण है। कवि ने जीवन की विषमताओं और मन के अंतर्द्वंद को कितनी सादगी से बयान किया है–

बात ये किससे कहें हम, / किस जगह जाकर रहें हम
कूल पर तो मन नहीं लगता / धार में बहते नहीं बनता
दर्द ये कहते नहीं बनता।

विचारों की स्वतंत्रता ही दुनिया की सबसे बड़ी आशा है। यही कवि का काव्य साक्ष्य है। कवि किसी अन्याय या शोषण से समझौता नहीं करना चाहता, वह सत्य के साथ खड़ा होकर तमाम जोखिम उठाने को तैयार है–

फिर चढ़ेगी दोस्तों बदनामियाँ सिर
साफ कहने पर उतारू हो गया हूँ।

कवि की छटपटाहट सिर्फ उसकी स्वयं की पीड़ा को लेकर नहीं है, उसका दर्द पूरे जमाने का दर्द है, 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' के उदात्त भाव से पारितोषित है–

ऐसा तो कुछ करो कि फिर बासंती हवा चले

हर आँगन उजियारा हो हर देहरी दिया जले। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से ये गीत कसे हुए छन्द की मुद्रा में अपने पाठकों से रूबरू होते हैं, गीत समाप्त होकर भी अपनी अनुगूँज सी छोड़ जाते हैं। इन गीतों की गुनगुनाहट में ही कवि जीवन की अन्त र्ध्वनि छिपी हुई है। इन गीतों में समय के स्वर हैं, जिन्हें गुनगुनाने और उसमें डूबने के लिए कवि अकेलेपन की तलाश करता है, उसे मेले में सूनापन लगता है–

कितना सूनापन इस मेले में / चल मेरे मन कहीं अकेले में

क्योंकि इसी सूनेपन में वह स्वयं से साक्षात्कार करता है, और अपने स्व को विलीन कर भाव संसार में खो जाता है। वह 'शून्य' जो सृष्टि का मूल है, जहाँ कवि चिंतन का नया संसार रचता है। चिंतन की परिधियों में विस्तार पाता वही 'शून्य' अपने भीतर की अनुभूतियों, घनीभूत पीड़ाओं और सम्वेदनाओं को समाहित कर एक ऐसे भाव विचार को जन्म देता है, जिसे कवि अपनी प्रतिभा से शब्दों में पिरोकर रचना का अद्भुत संसार गढ़ता है–

सूरज डूब रहा उस पार पहाड़ी के
इस पार लॉन में मैं बैठा गुमसुम और सोच में तुम।
देख रहा हूँ थका-थका सूरज
देख रहा ढल रही शाम को मैं / जीवन को परिभाषित कर न सका
जीवित भर हूँ सिर्फ नाम को मैं / ऐसा कुछ खो गया स्वयं में ही
भरी भीड़ में हो जाये ज्यों कोई बच्चा गुम / और सोच में तुम।

जब मनुष्य अपने आपको कमजोर और असहाय महसूस करता है, तो प्रकृति के साथ संवाद उसे फिर नई ऊर्जा और उत्साह से भर देता है, मौसम की बाँह थामे स्मृतियाँ हृदय द्वार पर जब दस्तक देती हैं, तो कवि मन गीत का दामन थाम लेता है –

बांस वन में सीटियाँ बजने लगीं, / फिर घने बादल घिरे आकाश में

और ऐसे में मन का यादों में डूब जाना स्वाभाविक है–

मन डूब-डूब जाता है पिछली यादों में
अक्सर ऐसा होता है, सावन-भादों में
माटी की सोंधी गंध महकती है / जो सधी नहीं सौगंध महकती है
कितने खोये संदर्भ सिमट आते / पीड़ाएँ बनकर छंद महकती हैं
कुछ खास पुराने दर्द ताजगी देते हैं / कितना सुख मिलता आँसू के
अनुवादों में।

दीपक जी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं, यद्यपि उनकी प्रतिष्ठा गीतकार के रूप में है, पर उन्होंने मुक्त छंद, ग़ज़ल, आलेख, समीक्षा और बड़ी संख्या में मुक्तक भी लिखे हैं। उनकी ग़ज़लों में भी गीतों की लयात्मकता और हिंदी छंदों का प्रभाव दिखाई देता है, बावजूद इसके ये ग़ज़लें बहुत साफ़गोई से अपनी बात कहती हैं और पाठक के मन को छू लेती हैं। उनकी कई ग़ज़लें बहुत लोकप्रिय हुई हैं–

आँधियों की नज़र में रहे, / इस तरह हम सफ़र में रहे।

एवं–

वैसे तो भीड़ में ही जियादा रहे हैं हम।
ये और बात है कि तन्हा रहे हैं हम।

दीपक जी के अनेक गीत अपने शिल्प, कथ्य, भाषा और तेवर के कारण 'नवगीत' की श्रेणी में आते हैं–

लछुआ की देहरी में सटे खड़े ढोर / वर्षा की भोर।

अथवा–

मीनू री! तुझको सोचा भर मैंने / मन बसंत हो गया।

दीपक जी के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सहज-सरल भाषा और शिल्प की कसावट है, साथ ही भाषा में मुहावरों का सार्थक और सटीक प्रयोग उन्हें विशिष्ट पहचान देता है। प्राय: हर पंक्ति में मुहावरों का स्वत: प्रकट हो जाना उनके सौंदर्य अर्थवत्ता और लयता को द्विगुणित कर देता है।

नींद न आना, उठ-उठ जाना / आधी-आधी रात का
समझ अकेला गले पड़ गया / मौसम ये बरसात का।

सर-सर दौड़ रहे पुरवा के, घोड़े बिना लगाम।
याद मुझे हो आई फिर वो भूली बिसरी शाम।

भाषा के इसी सौंदर्य के कारण ये गीत पहाड़ी झरने की तरह स्वत: प्रसूत होकर बहते-गुनगुनाते चलते हैं। इन गीतों से गुजरना अपने मन की आवाज सुनने जैसा है। चिर-परिचित विषयों को बिलकुल नए अंदाज में अभिव्यक्त करने की कला उनके लेखन की विशेषता है, जो इन गीतों को नयी पहचान के साथ दीर्घजीवी बनाती है।

इन गीतों के संदर्भ में पद्म भूषण नीरज जी का 'और सोच में तुम' गीत पुस्तक के विमोचन पर दिया गया यह वक्तव्य कितना युक्तिसंगत है–'एक वक्त ऐसा आता है, जब गीत खुशबू देने लगते हैं और गीतकार उस गीत की विशेष खुशबू से पहचाना जाने लगता है। ऐसी स्थिति किसी गीतकार के लिये विशेष होती है। इस गीत संग्रह के माध्यम से गीतकार 'नरेन्द्र दीपक' ने वह खुशबू बिखेरी है।'

आज के आपाधापी से भरे नीरस और बदरंग समय में 'नरेन्द्र दीपक' जी के ये गीत पाठकों को उस सहज रागानुभूति से जोड़ते हैं, जो मनुष्य की मूल अस्मिता एक मात्र की पहचान है। श्री नरेन्द्र दीपक जी की लेखनी यूँ ही सक्रिय और गतिमान रहे, वे स्वस्थ, प्रसन्न एवं चिरायु हों, यही कामना है।

6-साई पैलेस, साई हिल्स
कोलार रोड, भोपाल- 462042 (म.प्र.)
मो.-9893104204

उद्भ्रांत : विलक्षण साधना पर एक विहंगम दृष्टि

– दिनेश कुमार माली

जन्म – 9 नवंबर 1968।
जन्मस्थान – सिरोही (राज.)।
शिक्षा – बी.ई., एम.बी.ए., एम.ए.।
रचनाएँ – तैंतीस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राजस्थान साहित्य अकादमी सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित।

(गतांक से आगे) वर्ग-संघर्ष पर आधारित उनकी कविताएँ युगों-युगों से दलित वर्ग के प्रति हो रहे अन्याय, शोषण व भेद भाव उजागर करने वाली अत्यंत ही मर्मांतक तथा हृदयस्पर्शी हैं। उनकी कविताओं में एक अंतर्दृष्टि है ईश्वर प्रदत्त सुनियोजित सुंदर प्राकृतिक व्यवस्थाओं को प्रदूषित करने वाले तत्वों को पहचानने की। उनकी कविताओं में मुझे भारतीय पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था के 'चौथे-वर्ण' पर अत्याचार व उपेक्षा से उत्पन्न टीस की अनुभूति का अहसास होता है। उनकी अधिकतर कविताएँ दलित जाति से संबंधित हैं कि किस तरह सवर्ण वर्ग के लोग उन पर सदियों से अत्याचार करते आए हैं और आरक्षण के आधार पर अगर वे बड़े अधिकारी भी बन जाते तो भी उनके सवर्ण वर्ग वाले अधीनस्थ अधिकारी किसी भी तरह उन्हें स्वीकार नहीं कर पाते हैं। 'चर्मकार' कविता में इस संदर्भ में उच्च जाति वालों के आत्म-ग्लानि के स्वर प्रस्फुटित हुए हैं –'साले चर्मकार'/ निकली आवाज कुछ ऐसी कि जैसे/सदियों से दबे-कुचले व्यक्ति के मुख से/अपने शोषक के प्रति निकली हो/ प्रतिहिंसा और नफरत भरी **(शेष समर, पृ.-264)**।

और इन सामाजिक विद्रूपताओं और विसंगतियों से अत्यंत दुखी होकर कवि ने अपनी कविता 'ईश्वर एक विचार है?' में ईश्वर के अस्तित्व और दुनिया में हो रहे अत्याचार, भेद-भाव, वर्ग-भेद तथा मुख्य-धारा से विमुखता पर अपने आक्रोश को प्रदर्शित किया है इन शब्दों में-'घड़ी-घड़ी/दिन प्रतिदिन/ जिस नामालूम ईश्वर का/ जाप करते रहते हम/ वह आखिर था कहाँ' **(शेष समर, पृ.-420)**।

'मैंने ईश्वर को देखा प्रत्यक्ष' कविता में मार्क्सवादी कवि उद्भ्रांत उद्भ्रांत धर्म को अफीम मानता है और अपने आपको नास्तिक। इस वजह से दुनिया को भी अपने रास्ते ले जाने के लिए उपदेश देने के दौरान हुए पथराव से घायल कवि को श्रोतागण शमशान में भूखा-प्यासा छोड़ देते हैं। वहाँ एक अबोध लड़का उन्हें पानी पिलाता है तो उस पानी की बूँदों में भगवान दिखने लगता है। कविता की पंक्तियाँ- **'क्योंकि ईश्वर को मैंने प्रत्यक्ष देखा/ एक बूँद जल में तिरते/और वहाँ से निकल/इस विराट सत्ता में समाते!' (शेष समर, पृ.-190)।** इस तरह कवि मार्क्सवाद और नास्तिकता से ऊपर उठकर समाज के बारे में चिंतन करता है। मगर यह भी यथार्थ है कि सरकार के अथक प्रयासों के बाद भी आज भी हमारे समाज में सामंतवादी-प्रथा देश के विभिन्न भागों में बीच-बीच में अपनी कुरूपता का प्रदर्शन करती रहती है। जातिवाद आज भी कल्पनातीत है। आज राजनेता जातिगत समीकरणों को आधार बनाकर वोट बटोरने में लगे रहते हैं। समाज-सेवा तो बहुत दूर की बात, समाज को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर अपना उल्लू सीधा करना उनका मुख्य लक्ष्य बन गया है।

उद्भ्रांत जी की कविताओं का अगर आप निष्पक्ष ढंग से मूल्यांकन करें तो हमारे देश की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में झाँके बिना नहीं रह सकते। कुछ अनुत्तरित सवाल आज भी अनुत्तरित ही रहेंगे। जैसे मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई? अंडा पहले या मुर्गी पहले? मनुष्य की उत्पत्ति के बाद समाज का निर्माण कैसे हुआ? समाज में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना किसने की? जातियों का निर्माण कैसे हुआ? इन जातियों के निर्माण का आधार क्या था? कर्म या गुण? उनकी कविताएँ आपको 'मनुकाल' में झाँकने को प्रेरित करती हैं। सतयुग से लगाकर एक-एक युग आपकी आँखों के सामने से गुजरने लगेगा। सतयुग, द्वापर, त्रेता और आज का कलियुग। महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण', तुलसीदास की 'रामचरित-मानस', वेद-व्यास की 'महाभारत', स्वामी दयानन्द सरस्वती की 'सत्यार्थ-प्रकाश', ज्योतिबा फुले की 'गुलामगिरी'-सारे बड़े-बड़े मनीषियों के शास्त्रों, संहिताओं व पुस्तकों के पन्ने मानस-पटल पर अभिकेंद्रित हो रहे तूफानी-चक्रवात से पलटते हुए नजर आएँगे। सदियों-सदियों से हमारे समाज में हो रहे 'जातिवाद' का प्रतिपादन तथा कुछ समाज सुधारकों द्वारा जातिवाद से

संबंधित पाखंडों का विखंडन करने वाले अनेकानेक तर्क-वितर्क देखने को मिलेंगे। अब जरा नजर डालें, गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लोक 13 में भगवान श्री कृष्ण के कथन पर- 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम गुणकर्म विभागश:' अर्थात् गुणों के आधार पर मैंने चार वर्णों की रचना की। क्या यह ईश्वरीय कथन संतोषजनक लगता है? शायद उहापोह वाली स्थिति। गीता में कहा गया है तो झूठ नहीं हो सकता। अगर झूठ है तो फिर सच क्या होगा? ईश्वर का काम सृष्टि-निर्माण, पालन और विनाश करना है। पेड़-पौधे, नदी-पर्वत, जीव-जन्तु, खगोल-पाताल, ग्रह-उपग्रह आदि को बनाना, सँभालना और बिगाड़ना है। 'सुप्रीम-पॉवर' क्या वर्ग-वर्ण निर्धारित करने लगेगी? एक बार यह मान भी लेते हैं, अगर भगवान ने वर्ण निर्धारित किए तो दुनिया की अन्य सभ्यताओं में यह संरचना नजर आनी चाहिए। क्या भगवान केवल भारत के लिए बने थे? समस्त ब्रह्मांड को सँभालने वाले ईश्वर के पास ऐसा रवैया क्यों होगा कि वह धरती के एक कोने भारत में आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की स्थापना करेगा? विश्व के विकसित देशों जैसे अमेरिका, इंग्लैंड, चीन, रूस, जापान आदि में यह वर्गीकरण क्यों नहीं नजर आता? मनुष्य-उत्पत्ति के बाद चतुर समाजों ने अपनी चतुराई से अपनी बात धर्मग्रंथों में 'भगवान-उवाच' के नाम से जुड़वाकर हर नीतिसम्मत कार्य खोजने का आधार ईश्वर के नाम कर दिया ताकि धर्मभीरु सामान्य जनता इसे ईश्वर प्रदत्त समझकर सामाजिक गुत्थियों में हमेशा उलझी रहे। एक चमार का बेटा सदियों से चमार रहता आया है, करोड़ों में एकाध रैदास पैदा हुआ होगा और उसे भी हजारों परीक्षाएँ देनी पड़ी होंगी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए। कबीर की बात कौन मानता है-

'जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान।'

मगर आज भी रैदास या कबीर के पंथ का अनुसरण करने वालों को उसी हीन दृष्टि से देखा जाता है, जिस दृष्टि से कबीर व रैदास को देखा गया होगा। आज भी रैदासपंथी या कबीरपंथी संप्रदाय निम्नकोटि या दलित वर्ग के लिए आरक्षित है। बचपन के दिनों में जब सिरोही के आर्य-समाज में हवन करने जाया करता था, तो वहाँ मुझे कई लोग ऐसे मिलते थे जिनके नाम के पीछे उपनाम 'आर्य' लिखा जाता था। ऐसे ही स्व. कन्हैया लाल आर्य मेरे पिता जी के परम मित्र हुआ करते थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा आप 'आर्य' टाइटल क्यों लगाते हैं?'

-'आर्यसमाज को मानने के कारण। हम आर्यवृत्त के हैं, इसलिए आर्य लगाते हैं। हमारी जाति 'मोची' है, जिसे समाज घृणा की दृष्टि से देखता है। मोची सम्बोधन खराब लगता है। और स्वामी दयानंद सरस्वती वर्ण-व्यवस्था के पूर्ण खिलाफ थे उन्होंने इस वर्ण-व्यवस्था को मिटाने के लिए आर्य समाज की स्थापना की।' बहुत ही सपाट शब्दों में उत्तर दिया था कन्हैयालाल जी ने। वह बहुत ही विद्वान व धार्मिक व्यक्ति थे। मुझे इस बात पर आश्चर्य होने लगा कि सिरोही के सवर्ण लोग धीरे-धीरे 'मोची' की जगह 'आर्य' शब्द को हीन भावना से देखने लगे और 'आर्य-समाज' को मोचियों का अड्डा।

समाज के इस दृष्टिकोण को कवि उद्भ्रांत जी ने अपने जीवन में अवश्य अनुभव किया होगा, तभी तो वह क्रोधित होकर कहते हैं कि अब समय आ गया नई मनुस्मृति लिखने का। उनकी कविता 'अथ सरोज स्मृति से'-'**क्योंकि, नई मनुस्मृति/ लिखी जा रही है अब/जिसके अनुसार/करेगी पुत्री ही निर्णय/फैसला भविष्य का अपने/ और जर्जर रूढ़ियों की नींव पर खड़े हुए/ आपके इस बालुका महल को/ अपनी योग्यता और क्षमता के बल पर/उड़ा देगी/ठोकर में एक ही!' (शेष समर, पृ.-410)**

इसी तरह, आज समाज में जातिवाद नासूर बनकर सड़ी वर्ण व्यवस्था से असहनीय पीड़ा देता हुआ लगातार रिस रहा है। 'हाशिए' कविता में भी कवि का आक्रोश झलकता है कि वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज ने हाशिए पर रहने वालों पर अनेकानेक जुल्म ढाए, लाशों पर रोटियाँ सेकीं, दाँत निपोरकर झूठी सहानुभूति दिखाई। मगर अब वे इस बहुरूपिएपन को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि उनके ऐतिहासिक महत्व को समझना ज्यादा जरूरी है। उनके शब्दों में-'**अपनी नोटबुक के केंद्र में बैठे/देते हुए मेरे जैसे/केंद्र के अदना अधिकारी को-/हाशिए के ऐतिहासिक महत्व को/ समझने का निर्देश भी' (शेष समर, पृ.-423)**

लगभग 5200 साल पहले से हिन्दू धर्म का पतन होने लगा था। हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों से निजात पाने के लिए लोग जैन और बौद्ध धर्म अपनाने लगे थे। ज्ञान-संकलिनी तंत्र के अनुसार वेदों को वैश्या के तुल्य गिना जाने लगा-'**वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव, एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता वधुरिव।'**

यही कारण है कि विश्व के कई हिस्सों में जापान, थाईलैंड, चीन, श्रीलंका, जावा, बोर्नियो, सुमात्रा के अधिकांश हिस्सों में बौद्ध धर्म फैलने लगा, जिसमें जातिवाद को बिलकुल भी महत्व नहीं दिया गया। मनुष्य मात्र ईश्वर की एक प्रजाति है। 'जियो और जीने दो' जैसे सिद्धान्त जन्म लेने लगे। चार्वाक का भौतिकवादी सिद्धान्त 'यावत जीवेत सुखम जीवेत, ऋणं कृत्वा

घृतम पीबेत' व्यापक होने लगा। जब तक जियो सुख से जियो, उधार करके घी पियो। मरने के बाद किसने देखा है कि क्या होता है? 'बुद्धया निर्वत्तते स बौद्ध'। अर्थात् जो बात अपनी बुद्धि में आए उसे मान लो और जो न आवे उसे नहीं मानो। हिन्दू-धर्म के शूद्र अर्थात् दलित-वर्ग छुआछूत, घृणा व अन्य कुरीतियों के कारण अपना धर्म बदलने लगे। डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे विद्वानों ने भी हिन्दू-धर्म का परित्याग कर बौद्ध-धर्म ग्रहण करना उचित समझा। मैंने ओड़िशा में अपने सेवाकाल के दौरान अस्पृश्यता के कई ऐसे उदाहरण देखे कि आज कल के इस वैज्ञानिक-युग में अविश्वसनीय हैं।

अस्पृश्यता की यह भावना आम जनता के मन-मस्तिष्क में पूरी तरह से घर कर बैठी है। उसकी प्रचंड नीरवता मुझे प्रेमचंद के जमाने की ओर खींचने लगी। प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' याद आ रही थी, वैसा ही कथानक 'शनिपीठ' के विस्थापन से कुछ मिलता-जुलता था। वहाँ शनिपीठ न होकर एक कुआँ था। दलितों का कुआँ अलग, जमीदारों का कुआँ अलग। अगर कारणवश या परिस्थिति-वश किसी दलित ने 'सवर्ण कुएँ' से पानी भर लिया तो उसकी खैर नहीं। काश! प्रेमचंद आज भी जिंदा होते और इस संवेदना को अपने शब्दों में बाँध कर किसी कालजयी कहानी को जन्म देते। पानी अलग, भगवान अलग। जबकि रुद्रयामल तंत्र में लिखा हुआ है-

'रजस्वला पुष्करंतीर्थ, चांडाली तु स्वयं काशी चर्मकारी प्रयाग: स्याद्रजकी मथुरामता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता।'

अर्थात् रजस्वला स्त्री के साथ समागम करने से पुष्कर-स्नान, चांडाली से काशी की यात्रा, चमारी से प्रयाग-स्नान, धोबिन से मथुरा-यात्रा और कजरी से अयोध्या तीर्थ प्राप्त हो जाता है।'

चमारी के हाथ का पानी नहीं पिएँगे, मगर 'प्रयाग' स्नान अवश्य करेंगे! उद्भ्रांत जी की कविताओं ने मेरे दिल के किसी कोने में वर्षों से सुषुप्त कथानक को एक बार फिर से कलमबद्ध करने के लिए जगा दिया था। 'उसका परमात्मा' कविता में उन्होंने रोटी को ही गरीब का भगवान बताया है—**'अयोध्या में नहीं/झोपड़ी में बसे हिंदुस्तान के राम को/ रोटी के गोलचक्र के भीतर दिखते हैं/बंशी बजाते श्री कृष्ण/कर्मण्येधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन/ का देते मंत्र/ यह रोटी ही तो है भगवान उसका/जो दिनभर के कठिन तप के बाद/ हुआ है उपलब्ध/ ' (शेष समर, पृ.-289)।**

इस रोटी की खातिर गरीब लोग अपने बच्चों तक को बेच डालते हैं। इसका मर्मांतक वर्णन उनकी कविता 'कीमत' में कवि ने किया है-**'क्या सवा साल का बच्चा/ जानता है अपने जीवन की कीमत?/जो तय की/सिरजनहार ने देता सिरजनहारों को/ दो मुट्ठी चावल/एक गाँठ हल्दी/और/एक-एक रुपए के/दो सिक्के' (शेष समर, पृ.-263)।**

उद्भ्रांत जी ने इस विसंगति का उल्लेख करते हुए गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक में श्रीकृष्ण के संदेश की ओर ध्यानाकृष्ट करते हैं 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' अर्थात् संसार के सारे जीव मेरे सनातन अंश है। लेकिन यथार्थ संसार में असमानता है जहाँ 'नाइकों के शनिपीठ' और 'महापात्रों के शनिपीठ' में शनि महाराज बदल जाते हैं तो कवि का कबीर को याद करना स्वाभाविक है। उनकी कविता 'कबीर' से कुछ पंक्तियाँ-**'काशी का वह जुलाहा/ सदियों पर सदियाँ पार करते/आज भी सक्रिय है-जीवन्त/ जाति-पाँति पर/ कर्मकाण्ड पर/ अस्पृश्यता पर/ कोड़े पर कोड़े बरसाता/ निरपेक्ष भाव से/अपने जीवन-कर्म में सतत रत/ जो जन्मा और जिया/ काशी में/ मगर दीमक लगी भित्तियों पर/ क़रारा प्रहार करते हुए' (शेष समर,पृ.-287)।**

ईश्वर जहाँ भी हो, कम से कम आप अपना पता बता देते कि आप स्वार्थलोलुपों की जिह्वा पर हो, भव्य प्रासादों में बैठे हो, कपटी बामनों धन्ना सेठों की तोंद में मरी गाय की खाल में हो या फिर भी मूर्तियों, पोथियों, भजनों, खाल सुखाने वाले चूने में? अगर ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में होता तो क्या समाज में इस प्रकार की असमानता नजर आने लगती? उपनिवेशवाद में मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के शोषण को देखकर कभी सरदार भगत सिंह के मन में शहीद होने से पहले 'नास्तिकवाद' के विचार पनपने लगे थे। वर्ग-भेद की इस खाई को चौड़ा होता देखकर कवि अपनी कविता 'नास्तिक' में नास्तिक फिल्म को बिंब बनाकर कहता है कि हमें अर्थ के मकड़जाल से बाहर निकाल कर मनुष्यता का सटीक अर्थ, कर्म का धर्म और काम की सुसंस्कृत चेतना को समझना होगा-**'ईश्वर के नाम पर/ सियासत और तिजारत/ साधु के वेश में अपराधी/ और तान्त्रिक की शक्ल में बलात्कारी/ तो धर्म का नाम सुनते ही काँपती है /रूह और पूछता हूँ स्वयं से/ कि अगर यही है धर्म/ जिसमें अर्थ की लोलुपता/और काम की विकृति/ और मोक्ष का नाटक है शामिल' (शेष समर, पृ.-340)।**

उनकी 'गुलाम' कविता में हिन्दू-धर्म के द्विज पुत्रों द्वारा पैरों में जातिवाद की बेड़ियों जकड़े अत्याचार, ऐतिहासिक विरासतों और बड़ी हस्तियों के नाम पर फैलाए जा रहे झूठे प्रचार-प्रसार की मकड़-जाल से मुक्त होकर समाज के धुँधले आइने में अपना अक्स खोजने का आह्वान करते हैं। उनकी कविता की पंक्तियाँ-**'ताजमहल को शाहजहाँ ने नहीं/ बनवाया एक हिन्दू राजा जयसिंह ने/ नाम था तेजोमहल/ बिगाड़ दिया जिसे निहित स्वार्थी तत्त्वों ने'**-कहते हैं आर. एस. एस. वाले भगवा पार्टी से जुड़े कुछ

लोग! **'प्रेमचन्द को खामखाँ वामपन्थी बनाया गया/ जबकि अपने पत्रों में राम की दुहाई वे देते थे'** –कहते हिन्दूवादी शोधकर्ता! 'निराला कहाँ मार्क्सवादी थे? अनुप्रेरित थे वेदान्त दर्शन से– कहते हैं कुछ महान आलोचक!' कबीर का जन्म हुआ एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से 'कहते हिन्दूवादी' नहीं! नहीं! यह सरासर ग़लत! कबीरदास मुस्लिम थे हमारे ही मज़हब के! 'चमार थे रैदास और रहीम मुसलमान', 'मीरा ने राजघराने की प्रतिष्ठा को मिला दिया मिट्टी में!', **'तुलसी का महाकाव्य एक संकलन भर था/ भाँति-भाँति के धर्मग्रन्थों में आई सूक्तियों का! कहानी भी जैसे पिटारा हो भानुमती का/ वाल्मीकि रामायण से लेकर जितने भी/ ग्रन्थ इस तरह के थे रचे गए / उन सबसे ले**–लेकर कुछ–कुछ तुलसी बाबा ने रामकथा अपनी यह रच दी! वाल्मीकि शूद्र थे डाकू थे। आर्य थे विदेशी आक्रमणकारी अकबर ने जोधाबाई से विवाह करके राजपूतों का ही नहीं/ समस्त हिन्दू जाति का अपमान किया भारी बहादुरशाह ज़फ़र मस्त रहते थे / अपनी रंगरलियों में, शेरो–शायरी में!/ क्रान्तिकारी कहाँ के! **(शेष समर,पृ.–45–46)।**

इन सब व्यंजनोक्तियों को देखने से लगता है कि हमें इतिहास को सही और सकारात्मक दृष्टिकोण से पढ़ना चाहिए, अन्यथा हम आने वाली पीढ़ियों के मन में गरल घोल रहे हैं। दूसरे अर्थों में, हम मानसिक गुलाम हो गए हैं।

'करुणा बौद्ध विहार' कविता में जब तथाकथित विधाता हर–बार समाज के कमजोर वर्ग को अपने जबड़ों का ग्रास बनाकर अनंत आकाश में किसी टूटे तारे की तरह नष्ट होने के लिए छोड़ देता है। तब कौन इन मूलभूत प्रश्नों का उत्तर खोज पाएगा कि मैं कौन हूँ?, कहाँ से आया हूँ? मुझे क्यों कोई खोज रहा है? संक्षेप में, कविधर्म–परिवर्तन की ओर इशारा कर रहा है। हिन्दू–धर्म की इन कमजोरियों का फायदा उठाकर दूसरे धर्म हमारे दलित लोगों को अपने धर्म की ओर लुभाना शुरू कर देते हैं और यहाँ तक कि बुद्ध को भी हिंदुओं का नौवाँ अवतार घोषित कर देते हैं। कवि के शब्दों में, **'ईश्वर को नहीं माननेवाले बुद्ध के/ अपरिमित प्रभाव से भयभीत हो/ हिन्दू धर्म ने उन्हें / घोषित कर दिया अपने अवतारी/ विष्णु का नौवाँ रूप! / बीसवीं सदी में / बुद्ध पूर्णिमा पर/ करते हम आणुविक विस्फोट/ देते इसी तरह सर्वथा नयी श्रद्धांजलि बुद्ध को! / 'और बुद्ध पूर्णिमा के दिन/ बुद्ध की पवित्र मूर्ति के समक्ष/ कितने ही बालक सिर को मुँड़वाए/ पहने कौपीन वस्त्र/ मोमबत्ती या घृत के दीपक को प्रकाशित कर/ करुणा बौद्ध विहार में/ बन बौद्ध भिक्षु दिखते हैं लीन पूजन–अर्चन में/ बुद्ध के!' बोलते हुए समवेत स्वर में 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि:/संघम् शरणम् गच्छामि:/ धम्मम् शरणम् गच्छामि:' (शेष समर, पृ.–366)।**

ओड़िशा के केंदुझर जिले के आस–पास धर्म–परिवर्तन की इस प्रक्रिया को रोकने में स्वामी लक्ष्मणानन्द जी को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। छत्तीसगढ़ में राजा जूदेव ने भी इस तरह से होने वाले धर्म–परिवर्तन को रोकने का भरसक प्रयास किया। उद्भ्रांत जी की कविताएँ हिन्दू धर्म के ठेकेदारों पर गंभीर घाव कर रही हैं। मंडल कमीशन द्वारा अध्यारोपित आरक्षण के कारणों पर नए सिरे से प्रश्न खड़े कर रही हैं। जहाँ साहित्यकार वर्ग समाज को जाति–विहीन बनाने का प्रयास करता है, वहीं राजनैतिक वर्ग अपनी निजी स्वार्थ के खातिर जाति पर आधारित समाज का वर्गीकरण कर और ज्यादा मकड़–जाल में फँसाता जा रहा है। जिस धर्म को दुनिया का सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जा रहा था, वह वर्ण–व्यवस्था के कारण पतन की ओर अनवरत अग्रसर हो रहा है। जिन्होंने इस प्रकार धर्म परिवर्तन कर लिया, क्या वे कोई धर्म पा गए? हिन्दू से मुसलमान बन जाना या एक प्रकार के रहन–सहन से दूसरे रहन–सहन में चले जाना धर्म तो नहीं है। इस प्रकार योजनाबद्ध षड्यंत्र का शिकंजा बनाकर जिन्होंने उन्हें बदला क्या वे धर्मात्मा थे? वे तो और भी बड़ी कुरीतियों के शिकार थे। हिन्दू उसी में जाकर फँस गए। अविकसित और गुमराह कबीलों को सभ्य बनाने के लिए मुहम्मद ने विवाह, तलाक, वसीयत, लेन–देन, गवाही, कसम, प्रायश्चित, रोजी–रोटी, खान–पान, रहन–सहन इत्यादि विषय में एक सामाजिक व्यवस्था दी तथा मूर्ति–पूजा, व्यभिचार, चोरी, शराब, जुआ, माँ, दादी इत्यादि से विवाह पर प्रतिबंध लगाया। समलैंगिक तथा रजस्वला मैथुनों का निषेध करके, रोजे के दिनों में भी इसके लिए ढील दी। जन्नत में बहुत–सी समवयस्क, अनछुई हूरों और किशोर बालकों का प्रलोभन दिया। यह कोई धर्म नहीं था, एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी। ऐसा कुछ कहकर उन्होंने वासना में डूबे हुए समाज को उधर से घुमाकर अपनी ओर उन्मुख किया। स्त्रियों को जन्नत में कितने पुरुष मिलेंगे? इस पर उन्होंने सोचा ही नहीं। यह उनका दोष नहीं, दोष उस देश–काल और परिस्थिति था, जिसमें स्त्रियों की आकांक्षाओं पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था।

तुलसीदास के रामचरित मानस में एक पंक्ति आती है, 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी'। पता नहीं, शूद्रों ने तुलसीदास जी का क्या बिगाड़ा कि उन्हें प्रताड़ित करने का हकदार बनाया। यह तो कोई ज्यादा पुरानी बात नहीं है। 16 वीं सदी की बात रही होगी। महान दार्शनिक रजनीश ने एक जगह कहा कि हिन्दू देवी–देवताओं के सभी अवतार राजघराने से थे। कृष्ण, राम, महावीर जैन, गौतम बुद्ध, सभी तो क्षत्रिय

राजकुमार थे। क्या किसी गरीब या शूद्र आदमी की ऐसी औकात कहाँ कि वह तथाकथित भगवान बन सके? महाभारत में एकलव्य का प्रसंग आता है कि शूद्र होने की कारण गुरु द्रोणाचार्य ने उसे अपना शिष्य नहीं बनाया वरन अपनी अँगुली दक्षिणा में माँग ली? क्या यह वर्ण-व्यवस्था के घोर अत्याचार व पक्षपात का प्रतीक नहीं थी। इसी प्रकार कृष्ण के दाँव-पेंच में उलझकर सूतपुत्र कर्ण ने अपने कवच-कुंडल दान में दे दिए। जब-जब कोई दलित आदमी ऊपर उठने की कोशिश करता है, वैसे ही उसे किसी न किसी दाँव-पेंच में फँसा दिया जाता है। कवि उद्भ्रांत की कविता 'जूता' इसी दर्द का बयान करते हुए चुनौती देती है कि शूद्र अब इतने मूर्ख नहीं रहे कि किसी के भी दाँव में फँस जाएँ और हो सकता है लोकतंत्र जूतातंत्र में बदल जाए।

'जूते का महात्म्य अद्वितीय है/ आनेवाले समय में/ यह सम्भव है कि-/ लोकतन्त्र बदले जूतातन्त्र में!/ जूता करता है विश्वास/ धर्मनिरपेक्षता में/वह पक्षधर नहीं है/ किसी एक धर्म, एक जाति, एक सम्प्रदाय का! (शेष समर, पृ.-64)

यजुर्वेद के 31 वें अध्याय का 11 वाँ मंत्र आता है –

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः
उरु तदस्य यद्वैश्य पदमया शूद्रो अजायत।

अर्थात् ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उरु (कमर) तथा शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी क्रांतिकारी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' के चतुर्थ समुल्लास ने गुणों के आधार निराकार परमात्मा के सापेक्ष में, भले ही, दूसरा अर्थ क्यों नहीं किया हो, मगर अर्थ का अनर्थ करने वालों की यहाँ कमी नहीं है। इसी बात को उजागर करती है उनकी कविता 'स्वाहा' से –

'ओम्/सभी जप-तप-कर्म/स्वाहा
'ओम्/सत्य-न्याय-धर्म/स्वाहा
'ओम्/विवेक, ईमानदारी/स्वाहा
'ओम्/ वीर, सदाचारी/ स्वाहा
'ओम्/लज्जा, क्षमा, दया/ स्वाहा' (शेष समर, पृ.-88)

मनुस्मृति जैसे कुछ धर्म-ग्रन्थों में लिखा गया है कि स्त्री और शूद्र वेदों को न पढ़ें। 'स्त्री शूद्रो नाधियातामिति श्रुते'। और अगर वे इसे पढ़ने का दुस्साहस करते हैं तो उनके कानों में पिघला हुआ सीसा डाल दिया जाए। काली तंत्र में पाँच मकार (मद्य, माँस, मीन, मुद्रा, और मैथुन) को युगों-युगों से मोक्ष का साधन माना जाने लगा-**'मद्य मांस च मीन च मुद्रा मैथुन मेव च/ एते पंच मकारा : स्युर्मोक्षदा ही युगे-युगे।'**

जबकि ज्ञान संकलनी तंत्र में 'मातृयोनि परित्यज्य विहरेत सर्वयोनिषु'। अर्थात् माता को छोड़ कर किसी भी स्त्री के साथ समागम किया जा सकता है। हद तो इस बात की हो जाती है कि ओडिश-तंत्र 'मातरमपि न त्यजेत' (माता को भी नहीं छोड़ना चाहिए) की अनुमति देता है। मनुस्मृति में एक जगह यह भी आता है-

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' /
'न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।'

वेदों के लिए की गई हिंसा नहीं होती। न माँस भक्षण में किसी प्रकार दोष है न शराब पीने में और न ही परस्त्री-गमन में। इन कुटिल बातों को याद करते हुए कवि उद्भ्रांत 'नई मनुस्मृति' लिखते हैं –

'स्त्री आधा स्वप्न है/ आधा यथार्थ/ सभ्य है मगर/ उतनी ही असभ्य/ उसका आधा हिस्सा गाँव में/ बाक़ी न्यूयॉर्क में/ रूढ़ियों की चिता से कुन्दन वन निकलती/ छलाँग लगाती उत्तर आधुनिकता के बाज़ार में/ देवी है आधी/ मगर आधी दानवी/ अस्तित्व में ठाठें मारता समुद्र/ सिर उठाता मंदरांचल पर्वत/ स्त्री में आधी माँ है/ आधी वेश्या /आधी नींद /आधा जागरण है/ पूर्वार्द्ध में कविता है/ उत्तरार्द्ध आलोचना।' (शेष समर, पृ.-156)

ऐसे धर्म की व्यंग्यात्मक आलोचना उनकी कविता 'बाबा मार्क्स, गाँधी बाबा' में साफ देखने को मिलती है –

'चालीस कोटि देवताओं वाले इस देश का/ एकमात्र देवता अब/ पूँजी है/ और एक अरब से भी ज़्यादा भारतवासी/ कर रहे अब/ उसी की आराधना/ एकमात्र सच है अब वही/ वही एकमात्र धर्म है/एक ही कर्तव्य / एक ही निष्ठा/ एक प्यार' (शेष समर, पृ.-355)

इस कविता में उनका चिंतन मार्क्स और गाँधी जी की ओर साफ झलकता है। उद्भ्रांत जी की कविताओं का जन्म उनकी भावोद्रेक की स्थितियों में हुआ है। कभी व्याकुलता तो कभी उदासी तो कभी प्रसन्नचित्त। कभी रोते हुए तो कभी मुस्कुराते हुए अपने हृदयोद्गारों को भावपूर्ण अपनी लेखनी से उकेरे हैं। कभी-कभी तो उनकी कविताओं में ऐसा भी लगता है कि शायद किसी अदृश्य शक्ति ने अर्द्धरात्रि में अर्द्ध चेतनावस्था में कविता लिखने के लिए उन्हें प्रेरित किया हो। उद्भ्रांत जी की कविताओं में, पता नहीं, ऐसा क्या आकर्षण था कि अक्सर रात को सोते समय बार-बार मैं उनकी कविताओं को पढ़ता था

और मुझे लगता था कि उन कविताओं के प्रभाव से मुझे अच्छी नींद आएगी। बचपन में मुझे पिता जी कहा करते थे कि सोते समय कम से कम एक सौ आठ बार गायत्री मंत्र का जाप करके सोने से चित्त शांत होता है और गहरी नींद आती है। इसके पीछे क्या कारण होंगे, मुझे मालूम नहीं? 'न जानामि योगं जप नैव पूजा' वाली अवस्था थी मेरी। न तो मुझे तब तक गायत्री मंत्र का अर्थ मालूम था और न ही उस मंत्रोच्चारण से अन्त:करण पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी थी। किसी मंत्र में ऐसी क्या वैज्ञानिक या आध्यात्मिक शक्ति हो सकती है कि उसके उच्चारण से मन शिथिल होता है और साधक निद्रावस्था या तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है?

मेरा विद्रोही मन इस बात की कभी गवाही नहीं देता था कि जब 'शक्कर-शक्कर' बोलने से मुँह मीठा नहीं हो सकता है तो कोई भी मंत्र या बीज-मंत्र बोलने से गहरी नींद कैसे आ सकती है? क्या विज्ञान इस बात की पुष्टि करता है? मगर उद्भ्रांत जी की कविताओं ने यह सिद्ध कर दिया कि शब्दों में शक्ति होती है और इस बात का प्रमाण भी प्रस्तुत किया कि उन कविताओं को पढ़ते समय आदमी एक दूसरी दुनिया में प्रवेश कर लेता है, जहाँ वैचारिक तरंगों के सिवाय कुछ भी नहीं होता।

उद्भ्रांत जी के कविता-संग्रह की प्रारम्भिक कविताएँ मुझे बचपन के दिनों की ओर खींच ले जाती हैं, जब मैं सोचा करता था कि आकाश के ऊपर स्वर्ग है और धरती के नीचे पाताल। उस स्वर्ग में देवी-देवता रहते हैं और पाताल में नाग व राक्षस। भले ही, बचपन के इस दृष्टिकोण में वैज्ञानिक तर्क का अभाव था, मगर कल्पना की तीव्र उड़ान भरते घोड़ों को कोई रोक सकता है? वे दिन अभी भी अच्छी तरह याद हैं, जब मन कहता था सृष्टि के कण-कण में ईश्वर है तभी तो नृसिंह अवतार ने खंभा फाड़ कर प्रह्लाद की रक्षा के लिए उसके पिता हिरण्यकशिपु का वध किया था। कितनी डरावनी व लोमहर्षक लगती थी दूरदर्शन पर आने वाली भक्त प्रह्लाद व राजा हरिश्चंद्र की फिल्म उन दिनों! बचपन में देखे हुए ये दोनों चरित्र मेरे स्मृति-पटल पर ऐसे छाए हुए हैं कि आज भी सृष्टि के प्रादुर्भाव से संबन्धित सभी तत्त्वों के गवेषणा तथा उसके नियंता के बारे कल्पना अपने आप अध्यात्म की ओर ले जाती है, जहाँ से किसी भी रहस्यमय प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। सभी अनुत्तरित। जन्म क्यों होता है? मरने के बाद हम कहाँ जाते हैं? भगवान रहता कहाँ है? अन्तरिक्ष का ओर-छोर है भी या नहीं? नाखून क्यों बढ़ते हैं? फूल क्यों खिलते हैं? मन, अन्त:करण, आत्मा व परमात्मा में क्या फर्क है? पता नहीं ऐसे कितने सवाल होंगे, जिनका मेरे पास कोई जवाब नहीं था। शायद वही वजह रही होगी कि अध्यात्म-दर्शन पर आधारित कवि की कविताएँ वैदिक ऋचाओं, गायत्री-मंत्र, स्वस्ति-वाचन, ईश्वरोपासना स्तुति-मंत्र, महामृत्युंजय-मंत्र की तरह मेरे अंतस् में एक अलौकिक प्रभाव पैदा करती है, तभी तो सोते समय इन कविताओं को पढ़ने से मेरे चित्त पर अनोखी शांति छाने लगती है और मैं कविताओं के तत्काल प्रभाव से गहरी नींद के आगोश में खोता चला जाता हूँ। आखिरकार इन कविताओं में ऐसी क्या विशेषता है? यहाँ मैंने उनका विश्लेषण करने की चेष्टा की है।

अनाद्य सूक्त, वक्रतुंड, त्रेता, अभिनव पांडव, राधा-माधव महाकाव्यों के अतिरिक्त 'मैंने ईश्वर को देखा प्रत्यक्ष', 'ईश्वर एक विचार', 'सर्वव्यापी वह' जैसी कविताएँ हैं, जिसमें उन्होंने ईश्वर के सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अनादि, अजर, अमर, निर्विकार, अनंत, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वांतर्यामी, नित्य व सच्चिदानंद स्वरूप को दर्शाया है। श्रीमद्भगवत्गीता के अनुसार अगर भगवान को पाना है तो सिर्फ पूजा से काम नहीं चलेगा। ईश्वरीय सत्ता को अनुभव करने वालों ने अपनी सूक्ष्म-अन्वेषण दृष्टि से समस्त निर्जीव-सजीव प्राणियों के साम्राज्यों में, धरती पर अंकुरित होते बीजों में, पल्लवित होते पुष्पों में, आकाश से बरसते बादलों में अपनी महीन अनुभूति से अनुसंधान किया है। उनकी कविताओं में द्वैतवाद की भी झलक मिलती है, आत्मा और परमात्मा के विभेद की। उदाहरण के तौर पर कवि का तर्क है कि अगर पुष्प में परमात्मा की सत्ता है, तो तितली में जीवात्मा की।

परंतु जब जीवात्मा में अज्ञान का पर्दा हट जाता है तो विशुद्ध भाव से वह परमात्मा को प्रेम करने लगता है। कवि चेन्नई के समुद्र तट पर परमात्मा को तलाशता है और उन्हीं फूलों को लेकर ईश्वर को समर्पित कर देती है। गीता में भी कहा गया है, 'पत्रम पुष्पम फलम तोयम' को भगवान स्वीकार करते हैं। तभी वह आश्वस्त भाव से कहना चाहता है-बूँद में ब्रह्मांड!

'जब प्राणवायु ने/ अपनी से दोगुनी/ जलवायु से मिलकर/ सिरजी एक बूँद जल की/ तब उसी बूँद के/ आईने में/ देखा मैंने खुशी से / नाचता समूचा ब्रह्माण्ड' (शेष समर, पृ.-213)।

इसी तरह उस सार्वभौम सत्ता को कवि 'राधा माधव' में कभी शिशु, पिता, प्रियतम, राधा-कृष्ण में खोजने लगता है और जीवात्मा को जननी और प्रियतमा के नाम से संबोधित कर परमात्मा से जीवात्मा के 'मामैवांशों' संबंध को उजागर करते हुए कृष्ण और राधा के भेद को स्पष्ट करती है। आगे चल कर वह यह भी साफगोई से स्पष्ट करता है कि परमात्मा को हम दे भी क्या सकते हैं, जिसने सारी सृष्टि का निर्माण किया है, उसे

खुश करने के लिए क्या अर्पित किया जा सकता है? कुछ भी नहीं, प्रेम-पूरित आँखों के झरते आँसुओं तथा उस सत्ता के अनवरत स्मरण के सिवाय। एक बहुत बड़ी बात कवि ने सामने रखी है, जिसे कभी विवेकानंद ने भी कहा था कि हमारा शरीर एक जीता-जागता मंदिर है, उसमें ही साक्षात् ईश्वर का निवास है।

उद्भ्रांत जी का दर्शन भी कुछ ऐसा ही है, उनकी कविता 'उसका परमात्मा' से-**'यह रोटी ही तो है भगवान उसका/जो दिनभर के कठिन तप के बाद/ हुआ है उपलब्ध।' (शेष समर, पृ.-289)।**

अंतिम पंक्ति ने मेरा ध्यान अद्वैतवाद की ओर आकर्षित किया अर्थात् 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ अर्थात् जीवात्मा ही परमात्मा है।) अत: जीवात्मा की सारी चीजें परमात्मा की ही हैं अत: भक्ति-प्राचुर्य से भरा हुआ दिल ही यह कहने का साहस कर सकता है। अंत में, इस कविता के बारे में इतना कहना चाहूँगा कि इस कविता की प्रत्येक पंक्ति ईश्वर के प्रति न केवल अपनी श्रद्धा व समर्पण की भावना की परिचय देती है, वरन् द्वैतवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैताद्वैतवाद के उलझे अनेकानेक रहस्यों पर से भी पर्दा हटाती है। इतने गहरे दर्शन को पंक्तियों में बाँधकर कविता का रूप देना वैदिक समाज के प्रबुद्ध विचारकों द्वारा लिपिबद्ध की गई शास्त्र-संहिताओं से कम नहीं है।

हमारे जीवन में दुख, दर्द, पीड़ा, यातना, भय, मृत्यु, बीमारी, प्राकृतिक आपदाएँ-विपदाएँ बहुत-कुछ आती है। अगर जीवन में अगर इन चीजों का अभाव हो तो क्या वह जीवन तराशा हुआ माना जाएगा? कभी नहीं। एक तराशे हुए जीवन के लिए इन चीजों की चोट अथवा आघात अत्यंत ही जरूरी है, मगर हौले-हौले मृदुल कर-स्पर्श के साथ। कवि ईश्वर से कहना चाहता है कि यह आघात अचानक नहीं होना चाहिए और न ही लंबे समय तक प्रेम की अनुभूति ही मनुष्य जीवन की एक उपलब्धि और प्रमुख लक्ष्य है। जबकि मनुष्य वासनाओं के इर्द-गिर्द उन्हें प्रेम समझकर भटकता है, मगर क्या वह सच्चा-प्रेम होता है? सच्चे प्रेम के लिए हर समय आपके नेत्र-कलश अश्रुल रहेंगे और वह व्याकुलता हमेशा उस भक्त की तरह बनी रहेगी, जो अपने कलुषों को मिटाकर ईश्वर-प्राप्ति के लिए जन्म-जन्मांतर से तपस्या करता हुआ अपने अन्त:करण तथा बाह्यकरण का शुद्धिकरण चाहता है। यह तड़प ही एक पीड़ा जो जन्म देती है, जो धीरे-धीरे आत्म-चेतना की उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगती है। इतने गूढ़ार्थ वाली दार्शनिक कविताओं में उस सत्य का आभास होता है, जिस सत्य को पाने के लिए कभी महावीर जैन, गौतम बुद्ध ने अपना घर त्याग दिया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'दुनिया दुखों की नगरी है, दुखों का कारण वासनाएँ हैं। वासनाओं को दूर करके दुखों को दूर किया जा सकता है।' आखिरकार वासना है क्या? एक अंतरकलुष ही तो है। जिस प्रकार दर्पण पर जमी धूल हटने पर ही अपनी सही छवि देखी जा सकती है, ठीक वैसे ही भीतरी मैल का आवरण साफ होने के बाद आत्मा में परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

'बोधिवृक्ष' 'करुणा बौद्ध विहार' जैसी आध्यात्मिक चेतना से ओत-प्रोत रहस्यवादी कविताओं में सृष्टि को संचालित करने वाली शक्ति से कवि ने कुछ अनुत्तरित सवाल पूछने के साथ-साथ अपनी जिज्ञासा को मूर्तरूप देने के लिए उसे अपने रहस्य से पर्दाफाश करने का आवाहन भी किया है।

'श्लोक' कविता में कवि ने 'यह श्लोक आया किस लोक से?' जैसे सवाल को उसी तर्ज पर दोहराया है—**'जब प्राणों के/ गुह्यतम तल से उठी/ एक तरल शुभ्र गन्ध/और साँसों के आवागमन के / शून्य में/ सुनाई दिया/ धवलमुख छन्द/ तो चेतना ने/ चकित हो पूछा/ मिट्टी से/ कि-/ यह श्लोक/ आया/किस लोक से?' (शेष समर, पृ.-308)।**

ऐसा ही एक सवाल डेढ़ सौ साल पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा अपने जन्मांध गुरु स्वामी विरजानंद सरस्वती के, उनका बंद दरवाजा खटखटाने पर किए गए सवाल, 'कौन है तू, आया कहाँ से?' का जवाब यह कहकर दिया गया था, कि अगर इसका उत्तर मुझे मालूम होता तो मैं इधर-उधर क्यों भटकता, यह जानने के लिए ही तो मैं आपके पास आपकी शरण में आया हूँ।

भले ही, सवाल दिखने में बहुत छोटा प्रतीत हो रहा हो, मगर इस प्रश्न के वलय में आज भी कई अनसुलझे सवालों की छाया नजर आती है, जो अभी भी अपने भीतर सृष्टि के असंख्य रहस्यों को छुपाकर रखी हैं। ऐसे ही अनेकानेक रहस्यों की गुत्थियों को सुलझाते-सुलझाते कवि की तार्किक बुद्धि जागृत हो उठी है, वह न केवल अपने से वरन् हम सभी से यह पूछना चाहती है। पहला सवाल, प्राण-रहित पत्थर को देवता के रूप में पूजा जाता है, जबकि प्राण सहित मनुष्य को निकृष्ट क्यों गिना जाता है? दूसरा सवाल, उस तत्त्व का नाम बताइए जो अपने स्पंदनों के माध्यम से प्रतिक्षण जीवित होने का अहसास करवाता है? जैसे हृदय निस्पंद हुआ, वैसे ही सारी देह निष्क्रिय। 'स्पंद' कविता से-**'कहीं कुछ/ अघटित हुआ घटित / शक्तिशाली/ सूक्ष्मदर्शी की पकड़ से भी अदृश्य रहनेवाले/ लघुतम परमाणु के भीतर/ हुआ कोई/ न भूतो न भविष्यत् / ऐसा विस्फोट/ आवाज़ तो सुनाई नहीं दी/ पर अध्ययन-कक्ष में/ प्रकृति के स्टैण्ड पर घूमता पृथ्वी का**

ग्लोब/ अचानक हिल गया/ अपने केन्द्र से/ अनादि-क्षेत्रीय ब्रह्माण्ड के/ अनन्त खण्डीय भवन में/ पैदा करते हुए/ एक सार्थक स्पन्द!' (शेष समर,पृ.-365)।

ये सारे दृश्य प्रतिफल अपने जीवन में देखने, सुनने व समझने को मिलते अवश्य हैं, फिर भी आदमी अपने आप को अमर समझकर दुनिया पर काबू पाने की चेष्टा क्यों करता है? क्या वह नहीं जानता कि वह शरीर नहीं है, बल्कि शरीरी अर्थात् आत्मा है। तब विकारी तत्त्वों पर निर्मित इस तुच्छ आशियाने पर इतना गर्व क्यों? उनकी कविता 'नींद में जीवन' से -

'जन्म के समय/ आँखें थीं बन्द मगर/ जाग रहा था मैं/ आँखें खुलते ही / आने लगी नींद/ नींद में ही जीवन/ अन्ततः जगे विस्फारित आँखें/ मलते, हिलाते हाथ/ मुँह बिसूरते/ लपकते प्रकाश-गति से/ श्याम विवर में/होते अदृश्य' (शेष समर, पृ.-364)।

गीता-दर्शन भी इस बात को दोहराता है कि यह शरीर मिथ्या है, असत है तभी तो इसका विनाश होता है, इसमें प्रतिपल विकार होते हैं और यह शरीर सुख-दुख का भोक्ता बनता है। मगर 'रूह' 'आत्मा' तो अनादि काल से विद्यमान है, जो अविकारी है, अविनाशी है। कहने का अर्थ यह है कि गीता जैसे उच्च-कोटि के दर्शन-शास्त्र के सार-तत्त्व को अपने भीतर आत्मसात कर कवि ने 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय' उक्ति को पूरी तरह से चरितार्थ किया है। एक बहुत बड़ा प्रश्न इस कविता में फिलॉसफर कवि ने पाठकों के सामने रखा है कि रूह के आशियाने के उजड़ जाने का डर क्यों लगता है? मृत्यु से भय? भले ही, गीता के श्लोकों 'अशोच्यान शोचत्वम प्रज्ञावादान्श्च भाषसे, गतासूनगतासूंश्च नानू शोचंति पंडिता' (मृत्यु की पंडित लोग चिंता नहीं करते हैं।) तथा 'अजो नित्य अयम शाश्वतोयम', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (आत्मा अमर है, शाश्वत है, दिव्य है। आशियाना खत्म होने पर भी इसका विनाश नहीं होता है।) की तरह यहाँ उनकी कविता 'मृत्यु' से, 'मृत्यु/जैसे कि एक गुलदस्ता/ टूटकर बदलता सृष्टि के बगीचे में/ मृत्यु जैसे कि एक झरना/ एक क्षण ठहर/ उद्दाम वेग से/ आगे बढ़ता समुद्र की ओर।' **(शेष समर, पृ.-226)**

मगर यहाँ मेरा मन फिर से विरोध करने लगता है और अपने आप से एक सवाल पूछता है कि यह शरीर भी तो ईश्वर की ही देन है और जब एक बार वह पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है तो फिर ऐसा ही शरीर देखने को कहाँ से मिलेगा? ओशो ठीक कहते हैं कि आत्मा के लिए भले ही आप मत रोओ, मगर छ फीट का यह शरीर खत्म होने के बाद क्या इस सृष्टि में फिर आएगा? वह शरीर कहीं और देखने को मिलेगा? नहीं मिलेगा। अतः उस शरीर के लिए भी रोना स्वाभाविक है। गीता कहती है कि शरीर के खोने पर मत रोओ, मगर ओशो कहते हैं रोओ। दोनों में उत्तर-दक्षिण का विरोधाभास! चार्वाक भी तो ऐसा ही कुछ कहता है। उसका अनात्म-दर्शन शरीर की भौतिक अवस्था पर विशेष बल देता है।

पाठक ही बताएँ, आत्मा अपने साथ क्या ले जाएगी? पाँच कोष, तीन शरीर और अनंत संस्कार-बिन्दु? शरीर की प्रकृति अनुभवजन्य है, मगर आत्मा की? न तो वह दिखती है और न ही प्रकृति के सापेक्ष परिवर्तनशील नजर आती है। अतः आशियाना टूटने का डर तो बराबर बना रहेगा। भले ही, पलक झपकते ही दूसरा नया आशियाना क्यों न मिल जाए। आध्यात्मिक धरातल पर उपनिषदों के सारगर्भित संदेश कवि की कविताओं में साफ नजर आते हैं। वे संदेश जिनका विश्लेषण करने के लिए ऋषि-मुनि हिमालय की तराई अथवा कन्दराओं के एकांतवास में अपने भीतर अपना अनुसंधान करने में लीन होते हैं। कभी-कभी मुझे इन सवालों से गुजरते हुए ऐसा लगता है कि कवि, हो-न-हो, पूर्व जन्म में योग-भ्रष्ट ब्रह्मज्ञानी ऋषि मुनि रहा होगा। जिन सवालों का जवाब वह उस जन्म में नहीं पा सका, एक जिज्ञासु भक्त की तरह इस जन्म में वह उन पर चिंतन कर मानव-जन्म का उद्देश्य सार्थक करने आया है।

'पृथ्वी-आकाश' कविता में फिर एक रहस्यमयी प्रश्न सामने रखा है कवि ने, ईश्वर के निवास-स्थान के बारे में। ईश्वर रहता कहाँ पर है? आज तक इस प्रश्न का मूर्तरूप से किसी ने शायद ही सही उत्तर दिया होगा। किसी ने कहा कि जैसे ईख में रस व्याप्त है, ऐसे ही ईश्वर भी सृष्टि के कोने-कोने में व्याप्त है अर्थात् वह सर्वव्यापी है। अंतघट में भी, बाह्यघट में भी। किसी ने कहा कि जिस तरह बिजली दिखाई नहीं देती, मगर स्विच ऑन करते ही उसके अस्तित्व का आभास हो जाता है। इसी तरह ईश्वर अदृश्य है, निराकार है मगर यम, नियम, ध्यान-धारणा के माध्यम से उस ईश्वर के स्थान का पता लगाया जा सकता है। कबीर ने कहा, 'कस्तूरी कुंडलि बसे, मृग ढूँढ़े वन माँहि।' ईश्वर तो हमारे शरीर के अंदर ही है तभी तो कबीर दास आगे कहते हैं-

'न मैं मंदिर, न मैं मस्जिद / न काबे कैलाश में
खोजी होई तो तुरंत मिलियो / इन साँसों की साँस में'

जिस तरह कबीर ने साँस में ईश्वर का निवास स्थान बताया है, उसी तरह कवि ने एक सच्चे साधक की तरह ईश्वर के निवास स्थान के बारे में कहा है-

'हैरत है/ न तो मन्दिर-मस्जिद/ न तो मैखाना/ मुझे दिखा वह/ अन्ततोगत्वा/ इस कठिन समय की/ आबोहवा से जूझते/ एक ऐसे मनुष्य में/ जो दोनों बाँहों में/ पृथ्वी को उठाए/ चल रहा था आकाश में।' (शेष समर, पृ. -435)

कवि ने 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' व शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर ईश्वर के कई वैकल्पिक निवास स्थान रक्त तो कभी श्वास, कभी भूख तो कभी प्यास, कभी आज्ञा-चक्र तो कभी सहस्रार पर तलाशने की चेष्टा की है, वह भी उसके स्वरूप व सत्ता को ध्यान में रखते हुए। महात्मा नारायण की पुस्तक मृत्यु और परलोक में हमारे तीन प्रकार के शरीरों (भौतिक, सूक्ष्म, कारण) का उल्लेख है, वहीं अन्य धर्मग्रंथों में त्रिकुटी से लेकर नाभि तक ध्यान करने से कुंडलिनी जागृत होती है और ईश्वर की सत्ता को अपने भीतर अनुभव किया जा सकता है। पता नहीं, कितना सच कितना झूठ। हजारों सवाल प्रत्यक्ष होते हैं। किसकी बात मानें? किसने ईश्वर को देखा है! देखा भी है तो क्या चमड़े की इन आँखों से? महाभारत में भगवान कृष्ण द्वारा विदुर, अर्जुन और भीष्म पितामह को दिव्य नेत्र प्रदान कर अपना दिव्य विश्व-रूप दिखाना केवल कल्पना है? उच्च कोटि की साहित्यिक संवेदनाओं व भावनाओं को उजागर करने वाली? तभी तो स्वामी दयानंद को भी यह तर्क देना पड़ा कि किसी भी हालत में ईश्वर एककोशीय अथवा एकदेशीय नहीं हो सकते और अगर ऐसा होता तो सारी सृष्टि को संचालन करने वाले गृह-नक्षत्रों पर क्या वह नियंत्रण कर पाते? नहीं, इसका मतलब ईश्वर का निवास-स्थान जर्रे-जर्रे में है। जहाँ देखो, ईश्वर ही ईश्वर नजर आता है। हम सभी ईश्वर में ही जागते हैं और ईश्वर में ही सोते हैं। सब-कुछ तो ईश्वरमय है, फिर भी भक्तों की तीन श्रेणियों अर्थात् जिज्ञासु, आर्त और ज्ञानी में कवि की श्रेणी जिज्ञासु के अंतर्गत आती है, तभी तो वह एक ही श्वास में यह कहने का साहस करता है-

'अब वह सर्वव्यापी है/ ईश्वर की तरह/ वह सब कहीं है/ धरती पर और आसमान में/ सभी दिशाओं में व्याप्त/ विश्व के समस्त देशों में/ देश के समस्त प्रान्तों में/ प्रान्त के सभी नगरों में/ नगर के सभी मुहल्लों में/ मुहल्ले की सभी गलियों में/ गली के सभी मकानों में/ मकान के सब कमरों में/ किचन, बाथरूम तक में/ और उसमें रहनेवाले/ हर सदस्य के भीतर तक/ उसने कर लिया है प्रवेश/ उनके दिमाग़ों तक में!' (शेष समर, पृ.-51)।

वैदिक ऋचाओं में 'येन धौरुग्रा पृथ्वी श्च दृढ़ा स्तंभितम येन नाकः' में भी ईश्वर को ग्रह नक्षत्र धरती और खगोलीय पिंडों को बाँध कर रखने वाली गुरुत्वाकर्षण शक्ति के भीतर तलाशा गया है, साथ ही साथ, 'अग्ने नए सुपथे रायेस्मान विश्वानि देव वयुनानी विद्वान' आदि में पाँच तत्वों में उसे खोजा है। सबसे ज्यादा ध्यानाकर्षण करने वाली बात इस कविता की पंक्ति, 'न मंदिर-मस्जिद, न मैखाने में' नजर आती है, जहाँ आम जनता ईश्वर को मंदिर-मस्जिद में खोजती है, जबकि कवि इस बात पर विश्वास करता है, ईश्वर का निवास स्थान ब्रह्मांड के कण-कण में होने के साथ-साथ मंदिर-मस्जिद में भी है, जबकि निर्गुण संत कबीर मंदिर-मस्जिद में ईश्वर का स्थान नहीं मानते तभी तो वह कह सकते हैं कि 'न मैं मंदिर न मैं मस्जिद/न काबे कैलाश में'। भले ही, कवि कबीर-पंथी न हो, मगर उनका दृष्टिकोण महात्मा गाँधी की तरह स्पष्ट है, जब उन्होंने कहा कि मैं उस गीता को मानने से इंकार करता हूँ, जिसे भगवान कृष्ण ने महाभारत युद्ध के समय गाया था। उद्भ्रांत जी का भी यह मानना है कि भगवान मंदिर-मस्जिद में तो हो ही नहीं सकते, अगर होते तो क्या वह हिन्दू-मुस्लिम धर्मावलम्बियों में लड़ाई-झगड़े व पारस्परिक मार-काट को पसंद करते? हरगिज नहीं। सबका मालिक एक है। कवि इस कविता के माध्यम से यह संदेश देना चाहता है कि ईश्वर का निवास सब जगह है, यहाँ तक कि उसके अस्तित्व की सत्ता के बिना सृष्टि का कोई भी अणु, परमाणु अथवा त्रेसरेणु भी बचा नहीं होगा।

इस कविता में मुझे एक विरोधाभास नजर आता है कि जो सत्ता निराकार है, वह साकार कैसे हो सकती है? और जो साकार है उसका विशेषण निराकार कैसे हो सकता है? अर्थात् यह तो ठीक ऐसी ही बात हो गयी कि अदृश्य, दृश्य। ऐसा दृश्य जो दिखता ही नहीं तो फिर कैसा दृश्य? भगवान के आकार और निराकार को लेकर सनातन काल से विमर्श चलता आ रहा है। किसी ने कहा, ईश्वर साकार हो ही नहीं सकते हैं। क्या ब्रह्मांड का सम्पूर्ण नियंत्रण वह अपनी सारी शक्तियों को समेटकर अगर साकार रूप लेकर करने लगेगा तो सृष्टि का क्या हश्र होगा? और अगर वह सुप्रीम पॉवर इन्विजिबल है तो उस तक कैसे पहुँचा जाएगा? कोई न कोई तो माध्यम चाहिए न वहाँ तक पहुँचने के लिए। भले ही, प्रतीकात्मक क्यों न हो? यह अंतर्द्वंद्व कवि के मन में जागना स्वाभाविक है।

हिन्दी के वरिष्ठ कवि नन्दकिशोर आचार्य के अनुसार भी लेखक अक्सर अपनी रचना-धर्मिता के दौरान दो दुनिया का सामना करता है, एक भीतरी दुनिया और दूसरा, बाहरी दुनिया। भीतरी दुनिया का साम्राज्य भी वैसा ही है जैसा कि बाहरी दुनिया का। मगर अंतर है तो केवल पात्रों का तथा स्पृश्यता का। बाहरी दुनिया के पात्रों को स्पर्श किया जा सकता है, मगर भीतरी

दुनिया के पात्रों को नहीं। यह बात दूसरी है कि संयोगवश वे पात्र हकीकत की दुनिया में प्रवेश कर अंतर्जगत् के सुख-दुख, व्यथा, हँसी-खुशी का इजहार कर सकते हैं, मगर ऐसा होने पर भी क्या हकीकत से मुँह मोड़ा जा सकता है? जो सत्य है, वह सनातन है और रहेगा, अविनाशी है और रहेगा। मगर जो झूठ है, उसका कभी भी अस्तित्व नहीं रहेगा। इस गूढ़ार्थ कविता में न केवल उद्भ्रांत ने आध्यात्मिक चेतना के स्वर मुखरित किए हैं, वरन अपनी भीतरी दुनिया की कार्यशैली से अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का भी परिचय करवाया है। इस तरह देखा जाए तो उद्भ्रांत जी का चिंतन काफी व्यापक है। जहाँ वे पशु-पक्षियों, मनुष्यों, मानवीय मूल्यों, सामाजिक विद्रूपताओं-विसंगतियों से उपजी वर्ण व्यवस्था, आध्यात्मिक, दार्शनिक और दलित विमर्श संबंधित कविताएँ लिखते हैं, वहीं वे जैव-मैत्री, स्त्री-अस्मिता, कविताओं पर भी कविताएँ लिखने से नहीं चूकते हैं।

निरीह जीव हत्या के खिलाफ लिखी उनकी कविता 'बकरामंडी' ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। धर्म के नाम पर ढिंढोरा पीटने वाले लोगों को अपने सच्चे स्वरूप का दर्पण दिखाते हुए ईश्वर के अस्तित्व पर भी कवि प्रश्नवाचक पैदा करता है। भले ही, कविता की पृष्ठभूमि दिल्ली के जामा मस्जिद के पास की 'बकरामंडी' की क्यों न हो, मगर इसका प्रभाव विश्वव्यापी है निरीह जीव हत्या के खिलाफ कविता 'बकरामंडी' के अंश है-

'इस बकरों की आँखें/इनका भोला चेहरा/इनकी सुंदर आकृति/इनकी निश्छलता/इनकी पवित्रता/कुर्बानी का इनका जज्बा/ये सब पीछा आकर रहे हैं/मेरा, तुम्हारा, हम सबका/ ये पूछ रहे हैं/कि क्या उनकी जिंदगी का यह दिन/ इसी तरह होना था महत्त्वपूर्ण?' (शेष समर, पृ.-331)

इसी तरह नारीवादी कविताओं का उनके कविता-संग्रह 'इस्तरी' में नारी के मन की व्यथा को प्रकट किया है और नर-नारी में विभेदता, सशक्तिकरण, बाल-विवाह जैसे कई मुद्दों को उठाया है, जिसमें समाज और परिवेश की सीमाएँ 'लक्ष्मण-रेखा' के रूप में मुँह उठाए खड़ी हैं। इसी तरह नर-नारी में विभेदता को देखकर पक्षपाती ईश्वर के प्रति भी कवि का मन एक अदृश्य क्षोभ से भर उठता है और वह कहने लगता है कि नारी समुद्र है, नारी ईश्वर है, नारी पृथ्वी है। नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर करते इस संग्रह 'इस्तरी' में 'स्त्री की जगह, इस्तरी, तलाक! तलाक!, जानी-पहचानी धुन, स्त्री-प्रकृति, बेटियों की आँखों में सपने, झिलमिलाते रंग, कामकाजी घरेलू, एक औरत, अधेड़ होती औरत, स्वेटर बुनती स्त्री, सिन्दूर, बेटियों की माँ, स्त्री-शक्ति, नई मनुस्मृति, स्त्री, समुद्र, ईश्वर, पृथ्वी, विद्रोहिणी का बयान, असमानुपात, डायन, एक थी सुरसती' प्रमुख हैं। यही नहीं, जिस तरह प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'सेवा सदन' में वैश्याओं पर कलम चलाई है, ऐसे ही उद्भ्रांत जी ने भी अपनी कविता 'तवायफ 1-2' में उनके जिस्मानी सौदों को घृणित न बताकर पुण्य बताया है, जिससे कामुक समाज की रक्षा की जा सके। उनकी कविता 'तवायफ 1' के कुछ अंश -

'अपनी उपस्थिति से/बचा लेती है/कामोद्दीप्त समाज को/आग में जलकर/राख होने से! उसकी दो अंगुल जगह में/ समूची सृष्टि की पवित्रता/ घंटे, घड़ियाल/ मृदंग और मँजीरे/ मन्दिर और मस्जिद/ और गिरजाघर,/ सम्पूर्ण धार्मिकता,/ मज़हबी तहज़ीब,/ अपने-अपने/ खुदा और ईश्वर/और गुरु और क्राइस्ट' (शेष समर, पृ.-333)

इसी तरह कविता क्या होती है? कैसे पैदा होती है? कैसे लिखी जाती है? कवि हृदय को झंकृत करने वाली भावनाओं को यथार्थ स्वरूप प्रदान करते हुए वह लिखते हैं कि कविता केवल शब्द नहीं है, वरन हृदय की जलन, क्रंदन, आँसू, उपेक्षा, संवेदनाओं को शब्दों के साँचें में ढालना ही कविता का दूसरा नाम है। उनकी कविता 'कविता' के बारे में लिखते हैं कि क्या कविता आसमान से टपकती है या वीणा की झंकार है? क्या कविता ओस की बूँद है या फूलों की सुगंध? क्या कविता अदृश्य ईश्वर का उपहार है या पृथ्वी के भीतर फूटने वाली ज्वालामुखी? क्या कविता उत्साह, उमंग वाली सूर्य की पहली किरण है या निबिड अँधेरे में निस्संग दुख की कतार चीख? क्या कविता चकमक पत्थरों के आपसी रगड़ से निकला स्पार्क है या जल में आखों से टपकी कोह की एक बूँद से धधकी ज्वाला?

इस आलेख में मैंने कवि की साठ वर्षीय सुदीर्घ काव्य-साधना की पड़ताल करने का प्रयास किया है और इस उद्यम में यह पाया कि सृष्टि में जहाँ-जहाँ दृष्टि गई, वहाँ-वहाँ उनके संवेदनशील हृदय में कविता के बीज अंकुरित हुए। अभी भी उनकी कविताओं का समर शेष नहीं हुआ है, समर जारी है और ईश्वर से प्रार्थना है कि यह सफर ऐसे ही आजीवन चलता रहे और वीणापाणि के इस सारस्वत पुत्र से हिन्दी समाज ही क्यों, देश-विदेश की भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से अखिल विश्व लाभान्वित हो।

क्रा. नं. सी/34, लिंगराज, टाउनशिप,
पो. हंडिधुआ, तालचेर,
जिला अनुगुल-759120 (ओड़िशा)
मो.-9438878027

डि'प सा'ब की तीसरी बेटी

– सूर्यबाला

जन्म – 25 अक्टूबर 1943।
शिक्षा – एम. ए., पीएच. डी.।
रचनाएँ – तैंतीस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – प्रियदर्शिनी, वाग्देवी पुरस्कार सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

उस्तानी जी की गुड़िया

अब यह सोच कर आश्चर्य होता है कि इतनी सारी गतिविधियाँ मुझ छोटी लड़की की दिनचर्या में एक साथ कैसे चला करती थीं। दिन भर में कभी भी अकेले या दूसरे बच्चों के साथ यहाँ वहाँ भीटे मैदानों डाँव–डाँव डोलना घर में चारों तरफ बिखरी ढेरमढेर किताबों से जो मनचाहे उठाकर पढ़ने लग जाना स्कूल भी जाना और गुड्डे–गुड़ियाँ का ब्याह भी रचाना।

मेरी बहुत सुंदर गुड़िया और गुड्डा, मुझे बड़ी अम्मा के स्कूल वाली उस्तानी जी ने दिये थे। बेहद नफीस और–साफ सुथरी सी सलीके वाली गुड़िया। काले रेशमी बालों की लंबी चोटी। चोटी में लाल रिबन। माथे पर बालों से बनाये कँगूरों में टँके सलमे सितारे। और सबसे बड़ी बात, दोनों तरफ बॉर्डर वाली साड़ी।

बहुत ध्यान से देखो तो दो बॉर्डर के बीच से सिल कर बनाई हुई लेकिन सिलाई इतनी बारीक कि जरा समझ में न आए। हरी सिल्क की साड़ी, सुर्खलाल साटन का ब्लाउज। दोनों के किनारों पर टँकी जरी। गुड्डा भी कोरे लट्ठे का पॉयजामा और आधी बाँह की धारीदार कमीज पहने होता। कटी छँटी–मूँछें और बाल तो जैसे अभी नाई से कटवा कर आया हो।

कुल मिलाकर वह गुड़िया हस्तशिल्प का नायाब नमूना थी। लोग गुड़िया को हाथों में लेते और साड़ी, ब्लाउज से लेकर कोरे लट्ठे के पेटीकोट तक को सराहते रह जाते।

शायद इसीलिए माँ ने एकदिन उस गुड़िया की निर्मात्री उस्तानी जी की बेटियों को बुलवा भेजा। हमारे झालरदार इक्के पर पर्दे लगवा कर उस्तानी जी की बेटियाँ आईं। कनीज, फातिमा, नूरा ऐसे ही कुछ नाम थे। बड़ी, मँझली, छोटी, लहराते से शरीर, माथे तक ढँकी लेसदार ओढ़नी, बालों में अभ्रक के चमकदार चूरे, बारीक कशीदे, कोरी वाले कुर्ते जिस तरह उनकी पतली कलाइयों वाली हथेलियाँ आदाब में उठीं मैं मर मिटी। सम्मोहित मुझे वे विरल वेशकीमती सी लगीं कि छू दो तो मैली हो जाएँ। हर बात में सलीका और तहजीब लेकिन कहीं से भी बनावटीपन नहीं। मुस्लिम संस्कृति का यह पक्ष मुझे हमेशा से लुभाता आया है।

उनके जाने के बाद भी मैं अनजाने उनकी तरह ही उठने, बैठने, धीमे से हँसकर बोलने और उनकी खनकदार आवाजों तक की नकल करने लगी।

लेकिन मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ जब एक दिन यूँ ही बड़ी अम्मा को माँ से बातचीत करने के बीच सुना– 'उस्तानी जी परेशान हैं लड़कियों के ब्याह के लिए किसी ढंग के घर, खानदान से 'पैगाम' आ ही नहीं रहा और लड़कियाँ सयानी होती जा रही हैं। खुद सैयद खानदान की हैं, कह रही थीं बड़ी वाली के लिए पैगाम आया भी तो पोस्टमैन का क्या करें? बेचारी शौहर का अलग कोई कामधंधा नहीं तभी तो प्राइमरी स्कूल में नौकरी करने के लिए घर से बाहर पाँव निकाले उन्होंने। एक तरह से बस उन्हीं की कमाई और कलेजे पर तीन–तीन सयानी बेटियाँ।

बाहर खेलने जाती मेरे अंदर धक से बेचैनी की एक लहर सी व्याप गई। सहमी रह गई मैं बहुत देर तक। पर्दे लगे इक्के से उतरते उनके दूधिया चेहरे, घंटे दो घंटे या कुछ बरस नहीं, आज तक मेरे अंदर, माथे तक ढँकी लेसदार ओढ़नियों के बीच से झाँक रहे हैं मन करता है, कोई कहे कि हाँ, उन्हें बहुत अच्छे, उनके बनाए गुड्डों से ही जीवन–साथी मिलें। उन्होंने खूब अच्छी जिंदगी बसर की कौन बताएगा? चार पीढ़ियाँ गुजर गईं आज

मुझसे बड़ी थीं। तब होंगी भी या नहीं अब!

अभी तक तो मैं बड़ी अम्मा की बेवा जिठानी की चार-चार बेटियों को लेकर ही सुना करती थी कि अरे बड़ी वाली सावित्री ही बाईस-तेईस की जरूर हुई होगी-उससे छोटी गायत्री बस डेढ़ ही साल तो छोटी है और उससे छोटी मालती। बाप है नहीं, बड़े भाई की खुद अपनी लड़की सयानी हो रही है। अपनी छोटी बुआ से एकाध साल ही छोटी होगी। कायस्थ पाठशाला में नाम लिखवा दिया है। देखने-सुनने में भी ठीक-ठाक। लेकिन ब्याह करे तो कैसे पहले बहनों के ब्याह सलटाना है न! सीधे नेक आदमी हैं फलाने। अब छत्रियाँ-कॉलेज की टीचरी में अपना पलवार (परिवार) देखे कि माँ बहनों को। लोक मरजादा का ख्याल तो करना ही पड़ता है न।

हर हाल में खुश लड़कियाँ

नवीं, सातवीं, आठवीं पास कर कर के घर बैठी ये लड़कियाँ, कभी भी तकिये के गिलाफ और चादरों पर 'स्वीट ड्रीम्स' या 'गुड नाइट' काढ़ती मिलतीं। पेटीकोट की लेस के नमूने निकालतीं या मेजपाशों के लिए दो-सूती के डिजाइन तलाशतीं। ज्यादातर लोगों के घर दोपहर बाद ही जाया जाता और उस समय तक वे लड़कियाँ सारे घर वालों को खिला-पिला कर चूल्हा-चौका समेट, अपनी-अपनी चादरें, तकिये के गिलाफ पर फूल-पत्तियाँ निकाल रही होतीं।

ये लड़कियाँ ज्यादातर खुश ही रहतीं। इन्होंने अपने खुश रहने के बहाने तलाश लिये थे। अड़ोस-पड़ोस, रिश्तेदारों और मित्र परिवारों में किसी के भी यहाँ शादी-ब्याह, मुंडन-छेदन, छठी-बरही कुछ भी होती, ये लड़कियाँ ढोलक टनकार कर बन्ना-बन्नी और सोहर गाना शुरू कर देतीं। शादी वाली बन्नी, को संकेतों वाली भाषा में चिढ़ा-चिढ़ा कर छेड़ती हुई एक-दूसरी से भी परिहासी नोकझोंक में चल निकलती। इस बीच यदि कोई बढ़ी-बूढ़ी उन अनब्याहियों को लक्ष्य कर बहुत जल्दी सुहागन होने जैसी ठिठोली या आशीषें देतीं तो वे मुग्ध-विमुग्ध हो, झेंपने से ज्यादा शर्माने लगतीं।

ये सारी चीजें आये दिन के लोगों के शगल हुआ करते। वे फुसफुसाहटें-सुगबुगाहटें भी। प्राय: हर विवाह समारोह से लौटने पर सारे करीबी घरों की बिनब्याही लड़कियों की फेहरिस्त और बीतती उम्र का हिसाब बैठाया जाने लगता। ऐसे अवसर खूब आते और ऐसे हर शुभशगुन पर मुख्य समारोह से महीने पंद्रह दिनों पहले से घर, रास्ते, मुहल्ले की औरतें जुटतीं। देवी के पचौरे से लेकर आशीष तक गाकर ही उठतीं। रोज रात का नियम। सबसे नई तरह की उस जमाने की मार्डन 'बन्नी' कुछ इस तरह होती -

बिजली का पंखा चल रहा नौशे के कमरे में
दादा की कुर्सी सजी हुई नौशे के कमरे में
दादी जी उस पर बैठ गई, नौशे के कमरे में
(जाहिर है, बिजली का पंखा, उन दिनों नया-नया चलन में आया था)

और सबसे बड़ी डिग्री शायद वकालत की मानी जाती, क्योंकि

बन्नी हमारी तो चाँद सी है सूरज को अपना वर माँगती है
बन्नी की अम्मा यों पूछती हैं-
ये साहबजादे क्या-क्या पढ़े हैं-
उर्दू अंग्रेजी सब कुछ पढ़े हैं-
एम.ए. वकालत को जा रहे हैं-
तब ये सब कितना चमत्कृत करता था
खास कर ये वाली बन्नी का गीत
बन्नी इडिल मिडिल पढ़ आई
वो तो हो गई बीए पास
बन्नी के बाबा वर ढूँढ़ निकलें
सुनो बाबा जी मेरी बात
ऐसो वर को ढूँढ़ना रे
कोई होवे विलायत पास
बन्नी इडिल . . .

कितने स्वप्न कितनी उछाह से भरी थी हमारे जीवन की चाहत और उसकी मंजिल थी विलायत।

ऐसे समारोह हम बच्चों के लिए बेहद उत्साह भरे होते। एकदम खुलजा सिम-सिम की तरह। हफ्तों पहले से अहाते की जमीन समतल की जा रही होती। मिशक की धार से पानी का छिड़काव हो रहा होता। सुतलियों में चिपकी लाल, हरी, पीली झंडियाँ, बाँधी जा रही होती। उससे पहले यहाँ से वहाँ उछलते-कूदते लेई लगाकर पतंगी कागज की झंडियाँ काट कर सुतलियों में चिपकाने का काम।

बिजली के लट्टुओं की एकाध झालर भी और एक तरफ रखे तख्त पर शहनाई वाले। कभी-कभी लाउड स्पीकर भी 'जिया बेकरार है, छाई बहार है' हम बच्चे यहाँ से वहाँ एक कुर्सी से दूसरी कुर्सी उछल-उछल कर बैठते। मिट्टी के सकोरों में बँटती बूँदी खाते और गुलाब जल पड़ा पानी पीते। बूढ़ों की आँख

बचा, चाँदी का वर्क चिपकी पान की गिलौरियाँ चुपके से उठा भागते। बारात आने की सूचना वाली, क्रमशः तेज होती बैंड, नगाड़ों की आवाजों पर हमारी उत्तेजना चरम पर होती सबसे बढ़कर 'दूल्हा' कैसा होगा!

सेहरे की लड़ियों के भीतर छुपे दूल्हे का चेहरा देखने के लिए बड़ी छोटी लड़कियों, औरतों की भीड़ में हम बच्चे भी ठुँस लेते।

जिया की शादी

ऐसी ही बारात उतरी थी सावित्री जिया की। चार बहनों में सबसे बड़ी। उम्र का पक्का हिसाब रखने में पटु स्त्रियों ने लंबी साँसें छोड़ी थीं। चले एक को तो ठिकाने लगाया फलाने ने। दो और बाकी हैं। तब कहीं अपनी बिटिया का सोच पाएँगे।

भीड़-भाड़ अफरा-तफरी बरातियों की अगवानी, द्वारपूजा की तैयारी, भरा कलसा लेकर खड़ी होने वाली नाउन की पुकार के बीच एक फुसफुसाहट तैर गई थी-
'लड़का दुआह है, तीन लड़कियों का बाप। अब गृहस्थी चलाने को तो औरत चाहिए न। अरे तो सावित्री की उमर वाली लड़कियाँ भी तो लड़कोरी हुईं चलो, निबट लिए फलाने लेकिन माँ या छोटी बहनों में किसी के चेहरे पर शिकन नहीं थी। (आश्चर्य! उतनी छोटी मैं, उन चेहरों पर शिकन तलाश रही थी।)

लेकिन क्यों होतीं भला शिकनें? मैंने देखी तो थी एक झलक चढ़ावे की। पूरा मंडप जगमगा गया था। एक से एक बनारसी किमखाब जरी की साढ़ियाँ, सतलड़े, कंगन, माँग टीका और बाजूबंद वे सब, विदा से पहले बड़े, चाव से जिया को पहनाए जा रहे थे।

माँ बहनों और भाई भाभी के गले लग जिया विदा हो गयीं। मैं जिया के विदा होने वाली बात से भी काफी ज्यादा उदास थी पता नहीं क्यों!

शायद महीने या पंद्रह दिनों बाद जिया लौटी थीं, अफसर पति और तीनों बेटियों के साथ। दुबले चेहरे पर नूर बरस रहा था। सारा घर उन लोगों की आवभगत में जुटा था। जिया खुद बला की व्यस्त, कभी बड़ी बेटी के कपड़े निकाल रही हैं, कभी मँझली के बाल सँवार रही हैं, कभी छोटी की जिद पर मनुहार कर रही हैं। बीच-बीच में मिलने आईं चाचियों, भाभियों से गलबहियाँ भी। सात-आठ साल की मैं, यहाँ-वहाँ बेवजह मँडरा रही थी। सारे कुछ के बीच सर्वथा अनपयुक्त, फालतू। तभी तीनों बेटियों में से किसी ने अपने पापा से शायद कुछ माँगा या पूछा था। तत्क्षण पिता ने जिस अभिजात मातबरी से, 'मम्मी से जाकर पूछा बेटे' कहाँ था, जिया निहाल सुन कर।

लगभग तीन वर्षों बाद हम फिर जौनपुर गए थे। जाते ही रहते थे। इस बार भी जिया 'सपरिवार' मायके में थीं। तब तक उनके एक अपना बेटा और दो अबॉरशन हो चुके थे। ये सारी बातें औरतों की अपनी बतकहियों के बीच से छनकर मुझ तक आ रही थीं। जिया वैसी ही पति-बच्चों की जरूरतें पूरी करतीं लस्तपस्त। खुश भी दिख रही थीं लेकिन मुझे वे दुबली और पीली लगीं। उनके दाँत भी हँसने पर ज्यादा लंबे दिखते थे जो मुझे खटक रहा था।

बस, जिया की कहानी खत्म-

और उसके (याद नहीं) कितने वर्षों बाद हम फिर जौनपुर गए थे तो जिया की सबसे छोटी बहन माला ने बताया, जिया नहीं रहीं और जीजा जी ने तीसरी शादी कर ली।

जिया की 'कहानी' खत्म हो गई।

लेकिन बाकी कहानियाँ चलती रहीं जिया से छोटी गायत्री जिया, गायत्री से छोटी मालती हर जगह वही मेजपोश, वही चादरें और तकिये के गिलाफ पर ट्रेसिंग पेपर से उतारे जाते स्वीट ड्रीम्स बनारस से लेकर जौनपुर, मिरजापुर तक सिर्फ लड़कियों के नाम और शकलें बदली हुई होती थीं। जौनपुर की गायत्री, मालती, सुधा बनारस की उर्मिला, प्रेमा और कांति हो जाया करती थीं और मिर्जापुर में सुल्लो, निर्मला, बिन्नो वहीं थोड़े झेंपे, थोड़े शरमाये, थोड़े सपनीले बढ़ती उम्र के साथ उदास होती हँसी के साथ भी उम्मीद की एक छोटी पिटारी सँभाले प्रतीक्षारत प्रतीक्षा सिर्फ एक हाथ पीले होने की?

बी. 504, रुनवाल सेंटर,
गोवंडी स्टेशन रोड, देवनार,
मुंबई-88 (महा.)
मो. 9930968670

आसमान के मोती

-हरिशंकर राढ़ी

जन्म - 27 जून 1964।
जन्मस्थान - आजमगढ़ (उ.प्र.)।
शिक्षा - एम.ए., बी.एड.।
रचनाएँ - तीन पुस्तकें प्रकाशित।
विशेष - अनुवाद में विशेष कार्य।

क्वाँर आ गया है और दिख रहा है। शरद ऋतु का अग्रदूत है क्वाँर, शरद के ठीक से आने के पहले वह सुदिन लेकर आ जाता है। भादों खेत-बारी के लिए भले ही बहुत जरूरी हो, लेकिन अपनी विकटता से वह गाँवों को हिला चुका होता है। सावन-भादों देते तो भर-भरकर हैं, लेकिन होते हैं कठोर बाप की तरह। अब भादों का खतरा टल गया है, ऐसे संकेत मिलने लगे हैं। क्वाँर आ गया है। अब कुछ बदलाव होने वाला है। लुका-छिपी खेलते हुए सूरज बाबा अब नियमित-से हो जाएँगे। गर्मियों में खूब तपे थे। पावस से बादलों ने एक सीमा तक उनकी तपन को कम कर दिया है। औकात में आने लगे हैं; जैसे प्रौढ़ता को प्राप्त होने पर मनुष्यों में उग्रता कुछ कम होने लगती है। उम्र बढ़ने से उनके चेहरे पर कुछ पीलापन आने लगा है। उग्रता कम होने से लोगों को अब कुछ प्रिय लगने लगे हैं।

जो उपहार क्वाँर जी लेकर आते हैं, उनमें सबसे प्रिय ओस की बूँदें होती हैं। वैशाख-जेठ में सूरज बाबा अनुपस्थिति में भी उसे सोख लेते होंगे। लेकिन क्वाँर में उनकी दादागीरी कम हो जाती है तो इन बूँदों में भी हिम्मत जाग उठती है, धरती की सैर करने की। पता नहीं ऐसे कितने लोग होंगे जिन्हें यह धरती बहुत प्यारी लगती होगी। आखिर भगवान और उनके दूत भी इस धरती पर आने का लालच नहीं छोड़ पाते, जबकि उनकी दुनिया में और भी ग्रह-उपग्रह हैं। कुछ तो आकर्षण होगा, अन्यथा आसमान में रहने वाली नन्हीं-नन्हीं ओस की बूँदें मिटने के लिए धरती पर क्यों आतीं?

क्वाँर में नेत्रों को जो सबसे सुखद लगता है, वह है आसमान से झरने वाले मोतियों का आगमन। मोती, माने वही अपनी ओस जो धरती पर फैली घास-फूस पर नरम-नरम फाहे की भाँति फैल जाती है। घंटे-दो घंटे वहीं जुगनू की तरह टिमटिमाती रहती है और फिर खो जाती है अपने आसमान की बाँहों में। कल भोर में फिर आएँगी। फिर आँखों को सहलाएँगी और बिन बताए फिर चली जाएँगी। तिनके-तिनके, दूब-दूब की फुनगी पर इठलाती हुई बैठी रहेंगी। आते-जाते पथिक से कहेंगी- जरा ठहर तो जाओ। दीदार कर लो न इस छोटी-सी बूँद का। पूरे साल तो क्या, पूरे दिन नहीं मिलना है मुझे। क्वाँर से आना शुरू होता है मेरा। क्वाँर में नीलकंठ आता है और मैं। नीलकंठ के दर्शन को तो तुम बहुत शुभ मानते हो, मेरा क्यों नहीं? वह भी प्रवासी, मैं भी प्रवासी। तुम्हारे कदमों की चाप से वह उड़ जाता है, मैं बिखर जाती हूँ। उड़ तो दोनों ही जाते हैं न! फिर मेरे साथ भेदभाव क्यों करते हो? काश! तुम सारे कवि होते तो समझते मेरी छुअन को!

मैं तो संदेश लेकर आई हूँ कि ताप के दिन गए। पावस और अमावस का भय गया, अब शरद है। मैं न आऊँ तो शरद कैसे आएगा? मेरे बिना आए शरद को पहचान लोगे? क्या पहचानोगे, तुमने तो अपनों को पहचानना कब से छोड़ दिया है! रह ही कहाँ गई तुम्हारे हृदय में वह संवेदनशीलता जो ओस से आती है। तुम्हें तो बस अपने बँगलों का मौसम अच्छा लगता है। मेरे आने से विजयादशमी आई है, दीवाली आएगी तो तुम्हारे छोटे घर भी जगमगा उठेंगे। अभी मैं शरद लेकर आई हूँ, फिर शीत आएगी तो मेरी शक्ति बढ़ेगी और वसंत तक रुककर मैं चली जाऊँगी। मेरे साथ तन-मन की शीतलता, नीलकंठ-खंजन और ठंडी बयार भी चली जाएगी। समय कम है, निहार लो मुझे।

सचमुच अच्छी चीजें कितने कम समय तक रहती हैं! लेकिन अच्छे लोग, अच्छे दिन और अच्छी यादें कम भी हों तो अपने आप में संपूर्ण होती हैं, प्यारा जीवन होती हैं। सच पूछिए तो जीवन वही होती हैं, बाकी तो उम्र कटी, जिंदगी नहीं गुजरी। ओस की बूँदें आई हैं तो साथ में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को लेकर आई हैं। कोई सहृदय व्यक्ति कैसे भूल सकता है 'पंचवटी' की मोती जैसी उन पंक्तियों को जो ओस की पर्याय हैं, जिनसे ओस को साहित्यिक सम्मान मिला है तथा मोती-सा परिचय मिला है। पंचवटी की पर्णकुटी है, पर्णकुटी में राम और सीता वनवास के दिन प्रकृति से मिलकर काट रहे हैं। अभी निद्रा निमग्न हैं। कुटिया के बाहर एक वीरव्रती भूख-प्यास और नींद को दुत्कार कर पहरे पर डटा है। निशा अवसान की ओर है। रामकथा को थोड़ी देर के लिए नेपथ्य में रखकर प्रकृति को देख लेते हैं। मैथिलीशरण गुप्त जी को वही ओस दिखती है, जो मुझे अपने विद्यालय के प्रांगण में हरी घास पर दिखी है। लेकिन मैं मैथिलीशरण गुप्त तो हूँ नहीं, हाँ उनका प्रशंसक एवं कृतज्ञ अवश्य हूँ। कभी पाठ्यक्रम में 'पंचवटी' की ये पंक्तियाँ पढ़ाई गई थीं। पढ़ाई क्या गई थीं, तबसे मनो मस्तिष्क में ऐसी घुसी पड़ी हैं कि निकलने का नाम नहीं लेतीं। जब कहीं ओस दिखेगी तो वे सामने आकर खड़ी हो जाएँगी। पढ़ी तो आपने भी होंगी –

है बिखेर देती वसुंधरा मोती सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको, सदा सवेरा होने पर।

संभवत: वसुंधरा का स्वभाव है कि जो भी दो, चुपके से दो। मोती जैसी चीज वसुंधरा सबके सो जाने पर दे जाती है। देती भी नहीं, बिखेर देती है। जिसकी मर्जी, चुन ले। कहीं कोई अमीर-गरीब नहीं, छोटा-बड़ा नहीं। बस, मोती को पहचानने की काबिलियत होनी चाहिए। मोती आसमान का है, उसे समझने की संवेदनशीलता भी होनी चाहिए, लेकिन है ही कितनों के पास? सुबह विद्यालय में कुछ बच्चे घास पर दौड़कर मोतियों को विलीन करा देते हैं। बच्चे हैं, उन्हें मोती से लेना ही क्या? उन्हें तो बस थोड़ा-सा प्यार मिल जाए और कुछ अपने मन की करने की। कभी-कभी उस घास के ऊपर से कोई पशु गुजर जाता है और छोड़ जाता है खुरों के निशान। जरा-सा भी ठहरकर नहीं देखता कि कितने सुंदर लग रहे ये मोती!

पंचवटी और अनुप्रास की बात चलेगी तो भला गुप्त जी को कोई कैसे भूल पाएगा? अपने अंतस्तल में अनुप्रास अलंकार उतना नहीं बैठा जितनी कि 'पंचवटी' की चंद्रमा, अवनि और अंबरतल की वे पंक्तियाँ। हमारे लिए तो अनुप्रास का अर्थ अभी भी चारुचंद्र की चंचल किरणें ही हैं –

चारुचंद्र की चंचल किरणें, खेल रहीं हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में।

कविताएँ आज भी लिखी जा रही हैं, शायद थोड़ी-बहुत पढ़ी भी जा रही हैं। पता नहीं कौन-सी कविताएँ हैं। न उनमें अवनि है और न अंबरतल। चाँदनी तो कहाँ से होगी जब यही दोनों नहीं हैं। अवनि और अंबरतल, अर्थात् वह काव्य पदावली जो कविता को कविता बनाती है। जमाना तो गुप्त जी के समय में भी खराब था। निर्धनता एवं अशिक्षा की पूछिए मत। लेकिन तब कविता में अवनि और अंबरतल था, ललित पदावली थी और काव्यप्रेमी थे। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ को पढ़ते हुए लगा था कि काव्य पदावली के भी प्रतिमान होते हैं। वर्ड्सवर्थ ने तो काव्य पदावली को लेकर एक पूरा लेख ही लिखा है-पोयटिक डिक्शन। काव्य पदावली से कविता विमुख हुई तो कविता से रसिक।

ओस को संस्कृत में तुहिन और तुषारकण, उर्दू में शबनम तथा अंग्रेजी में डिउ कहते हैं। पता नहीं क्यों मुझे डिउ में ओस का एहसास नहीं होता। शब्द वही जिसमें उस वस्तु और भाव का प्रभाव हो। संभवत: अंग्रेज भी इस बात को समझते रहे हों, इसीलिए डिउ को थोड़ा प्रभावशाली बनाने के लिए डिउ में ड्रॉप जोड़कर डिउ ड्रॉप बना दिया। बात फिर भी नहीं बनी। अब ओस कोई ड्रॉप या बूँद की तरह थोड़े ही गिरती है! रातभर जाग-जागकर आसमन मंथर-मंथर कोशिश करता है, तब जाकर किसी घास की फुनगी पर एक बूँद ओस इकट्ठा होती है। जैसे कोई गरीब बेटी के ब्याह के लिए पाई-पाई जोड़कर हजार-दो हजार रुपए इकट्ठा करता है, जैसे नन्हीं-सी चिड़िया तिनका-तिनका जोड़कर एक घोंसला बनाती है। यहाँ तो ड्रॉप में सीधे ही एक बूँद डाल दिया!

तुहिन और तुषारकण में ओस होती है, इसीलिए वह ओस का वाहक है। अब अपने मैथिलीशरण गुप्त जी ओस की प्रच्छन्न चर्चा में इतना भाव भर देते हैं तो जब उसका नाम लेंगे तो ढंग से ही लेंगे। दो पंक्तियाँ और लिखते हैं ओस पर, जिनमें वे उसकी तरलता और स्मिति भरना नहीं भूलते। देखिए तो –

सरल तरल जिन तुहिन कणों से हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है!

हमारे बचपन के प्रिय कवि थे सोहनलाल द्विवेदी। बच्चों से बहुत प्यार करते रहे होंगे। हम बच्चों में कविता से प्रेम उपजाने का बड़ा श्रेय उन्हें ही जाता है। अब ऐसा कैसे हो कि द्विवेदी जी के स्नेह से ओस बच जाए? देखने में तो वह भी बच्ची जैसी ही लगती है। ओस पर उन्होंने कितनी मासूम-सी कविता लिखी, अब क्या कहें? है तो कई बंद की, लेकिन यहाँ नमूने के तौर पर बस पहला एवं अंतिम बंद –

हरी घास पर बिखेर दी हैं
ये किसने मोती की लड़ियाँ?
कौन रात में गूँथ गया है
ये उज्ज्वल हीरों की करियाँ?
जी होता, इन ओस कणों को ...
अंजली में भर घर ले आऊँ,
इनकी शोभा निरख-निरख कर
इन पर कविता एक बनाऊँ।

उर्दू में शबनम है। शबनम में ओस का कम-से-कम उतना भाव तो है, जितना होना चाहिए। वही सहजता, लघुता में विस्तार और कोमलता है। बहुत-सी लड़कियों का नाम शबनम होता है। लड़की है तो उसमें सौंदर्य, मिठास, कोमलता, एहसास, रोमांस, पवित्रता और तिलिस्म का योग होगा ही। यह कोई बात हुई कि उसे जैसा-तैसा कोई भी नाम दे दिया? लड़की है तो उसके नाम में शबनम की अनुभूति होनी चाहिए और नाम शबनम है तो उसे लड़की होना ही चाहिए। हाँ, यह बात अलग है कि कुछ लोग न जाने कितने जन्म के प्यासे होते हैं जिन्हें शबनम से चिढ़ होती है। उनकी प्यास शबनम से नहीं बुझती। उन्हें ज्यादा चाहिए, समंदर चाहिए। उन्हें स्वाद से नहीं, मात्रा से लेना-देना होता है। नाम तो याद नहीं, शुरुआती दिनों में किसी की कविता पढ़ी थी जिसका एक पद था –

शबनम से मरुस्थल उर्वर हो, ऐसा तो हमने नहीं सुना
वर्षा ने कभी स्वयंवर में प्यासे चातक को नहीं सुना,
वैदेही हों या राम स्वयं, सोने का हिरन लुभाएगा
छलना तो आखिर छलना है ...

बड़ी मीठी पंक्तियाँ हैं। तब और भी मीठी लगती थीं। पदावली बड़ी मोहक है, बिल्कुल वर्ड्सवर्थ के पोयटिक डिक्शन के मानक पर। लेकिन बड़ा हुआ तो पहली लाइन को छोड़कर शेष सभी से असहमत हो उठा। कविता में लंबा घेरा लगाने का प्रयास किया गया है, जैसे गरम गैस का गुब्बारा। भाई, वर्षा के स्वयंवर और प्यासे चातक का कुछ सीधा अर्थ तो निकालो। अर्थ तो मैंने कुछ न कुछ निकाल लिया लेकिन कविता कोई पहेली थोड़े ही होती है? पर इस मन का क्या करें, बुद्धि की बात मानता ही नहीं? यह कविता अभी भी अच्छी लगती है, क्योंकि हममें से बहुत ऐसी स्थिति से गुजरे हुए होते हैं।

ओस पर कविताएँ और शायरियाँ अनंत होंगी, ओस भी तो अनंत है। लेकिन कविताओं की छोड़िए, किसी दिन ओस के इस मखमली गलीचे पर नंगे पाँव चलकर देखिए। यह अपनी खुशनसीबी थी कि गाँव में पैदा हुए। गाँव में ओस अभी भी है। फसलों की कटाई, खेतवाही और सिंचाई में यह ओस बहुत लिपटी है पाँवों में। संभवत: गाँव छोड़ते वक्त भी लिपटी होगी, यह कहते हुए कि बाबू मत जाओ छोड़कर। लेकिन रोटी का एहसास ओस से बड़ा होता है। भूखे पेटवाले की आँखों से ओस की बूँदें नहीं दिखतीं, आँसू की बूँदें गिरती हैं। फिर भी, मौका मिले तो इस पर चलकर देखिए। बहुत प्यार देती हैं यह पाँवों को। आँखों तक उतर आती है। बस, चलिएगा तो नंगे पाँव। माँ की तरह आपके पाँवों को न दुलार दे तो कहिएगा!

(अक्टूबर 23, 2022)

बी-532 (दूसरा तल)
वसंतकुंज एन्क्लेव (बी-ब्लॉक)
नई दिल्ली- 110070
मो.-09654030701

ताऊ का भी ताऊ होना

– आलोक सक्सेना

जन्म – 14 जनवरी 1967।

शिक्षा – एम.एस.सी., एम.ए., पीएच.डी.।

रचनाएँ – पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान –राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित।

साहब, रंगीन दिमाग की खाल में बाल है। सब कुछ उल्टा-पुल्टा है। मैं सीधे दिमाग से बाल की खाल निकालने के लिए आतुर हूँ। एकाएक जब मुझे 'ताऊ का भी ताऊ होना' हिंदी साहित्य जगत का ताजा मुहावरा मिला तो मेरे लिए ताऊ का भी ताऊ बन जाने की कला में पारंगत होना नव शोध का विषय बन गया। मैंने अपनी बुद्धि पर जोर डाला और सोचना शुरू किया कि ताऊ का भी ताऊ बनने की प्रक्रिया की रूपरेखा पहले तैयार करूँ या सीधे ही शोधकार्य प्रारंभ कर दूँ।

सबसे पहले 'ताऊ का भी ताऊ होना' की योग्यता ताऊओं के सान्निध्य के बिना आ ही नहीं सकती। यानी ताऊ की जरूरत अति आवश्यक थी। मुझे अपने इस जीवनकाल में जिन ताऊओं का सान्निध्य मिला वह एक-एक करके मेरी स्मृति पटल पर उजागर होने लगे। जिनका बचपन जटिल था मगर सभी महान थे। सब एक से बढ़कर एक। मेरे ताऊओं में नारायण व नारायणी का वास था। माननीय लालाराम जी का गाँव था। सुना है वे घोड़े पर सवार होकर चला करते थे। पूरे गाँव में एक अलग पहचान थी उनकी। मुझे अपने ताऊओं की गोदी में खेलने-पलने और बढ़ने का मौका मिला। किसी से जीवन का रेखागणित सीखा तो किसी के लाख समझाने पर भी हिंदी-अंग्रेजी ट्रांसलेशन मुझे आज तक न समझ आया। हाँ, बड़े ताऊ जी के हिंदी भाषा व साहित्य ज्ञान ने मेरे दिल में ठोस जगह बना ली। जिसे मैंने आज तक जिया। दूसरे ताऊ जी ने समाज कल्याण व धर्मशास्त्र का वैदिक ज्ञान दिया और तीसरे ने सीधे ही मुझे उछालकर ताऊ का भी ताऊ बनने की साख पर बैठा दिया। साख भी ऐसी जिसे न तो मैं काट सका और न वे और मैं उनके असीम स्नेहिल आशीर्वाद से उस साख पर बैठा हुआ तरक्की-दर-तरक्की करता रहा। वे मेरे दिल में रहे और मैं उनके दिल में।

वैसे ताऊ का भी ताऊ बनना कोई अक्कड़-बक्कड़ का खेल तो था नहीं जो आसानी से समझ आ जाए। अलीगढ़ के ताले की मास्टर चाबी से सारे ताले खोले जा सकते हैं मगर बुद्धि का ताला तो एक ही चाबी यानी ज्ञान मात्र से ही खुलता है। कोई कितना भी संक्षारणयुक्त यानी जंग वाला दिमाग हो यदि ज्ञान रूपी घृत उसमें डाला जाए तो वह आलोकित होकर प्रकाशवान हो ही जाता है। ज्ञान रत्न की बूँदें ही दिमाग के लिए च्यवनप्राश का काम करती हैं। ज्ञान, प्रगति पथ पर चलने का फॉर्मूला है और दिमागी संक्रमण को समाप्त करने का टॉनिक भी है। ज्ञान, प्राप्ति के लिए कर्म तो करना ही पड़ता है। आँखें खुली और अपने हाथ जगन्नाथ होना पड़ता है। 'आज रपट जाएँ तो हमें न उठईयो' की चाल पर रपटना व फिसलने का ज्ञान बरसात की गहनता को समझने से भरा-पूरा होता है। मौसमे इश्क में मौज मस्ती के लिए भी बरसात में जमा पानी की गहराई की नाप करने के उपरांत ही रपटना व फिसलने का मजा आता है। आजकल लोग स्वीमिंग पर पीएचडी तक कर लेते हैं वह भी, विदाउट टचिंग वॉटर। और कुछ हलवाई 'शुगर फ्री रसगुल्ले' बनाने में माहिर होते हैं।

बात ताऊ जी की हो तो ज्ञान की किताबें स्वयं ही सामने आ जाती हैं। ताऊ जी का ज्ञान किताबी भी होता है और व्यावहारिक भी। ज्ञानी ताऊ जी यदि महान हों तो वह अपने बच्चों के

साथ-साथ अपने भतीजे-भतीजी को भी महान बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ना चाहते। ताऊ जी पर किए जा रहे शोध कार्य हेतु मैंने संदर्भ उठाना उचित समझा तो मेरे सामने अपने वरिष्ठ परसाई जी का कथन आया। उनके कथन में लिखा था, 'हड्डी के टूटने के लिए हड्डी चाहिए। पर क्या किसी ने सुना है कि केंचुए का कभी फ्रैक्चर हुआ है?' तो माननीय परसाई जी को अपना परमगुरु मानते हुए मैंने तत्काल प्रभाव से अपने निज विचार की चाबी घुमाई तो खुले दिमाग में बस यही कौंधा, 'ताऊ का भी ताऊ बनने के लिए एक ताऊ चाहिए। पर क्या किसी ने सुना है कि कोई ताऊ कभी किसी से पीछे रहा है?'

जी हाँ, ताऊ तो ताऊ होता है। हो भी क्यों न। वह बाप का भी बड़ा भाई होता है। वह बड़ी मूँछ वाला हो, कुरता-पायजामा या धोतीधारी हो, मोटा हो, पतला हो, सदा सफेद पैंट-कमीज धारी हो बगैरह-बगैरह। किसी के भी परमपूज्य ताऊ का स्थान कोई नहीं ले सकता। जब तक नया पहलवान हो या पट्ठा वह खुद ताऊ न बने।

यह बात अलग है कि बालक जब वयस्क होकर 'ताऊ का भी ताऊ होना' सार्थक कर लेता है तो अपने होनहार बालक महान की समृद्धि को देखकर उसके ताऊ जी उससे स्वयं कह उठते हैं, 'मैंने तुम्हें तुम्हारे बचपन में जो कुछ भी सिखाया तुमने उसे आत्मसात किया, इसलिए मुझे तुम्हारे ऊपर गर्व है। अब तो मैं तुम्हारा ताऊ नहीं, तुम मेरे ताऊ बन गए हो। अब तुम मुझे ताऊ मत कहो, मैं तुम्हें ताऊ कहूँगा। मेरे कुल के कुल दीपक श्रीमान साहब!' अंततः मेरे शोधकार्य का निष्कर्ष निकाला, 'बालक कितना भी महान बन जाए मगर अपने ताऊ जी के सामने कभी 'ताऊ का भी ताऊ' नहीं बन सकता। हाँ, प्रेम से ताऊ रंग होकर उनके गले अवश्य मिल सकता है।'

फ्लैट नंबर - 30 (प्रथम मंजिल),
टाइप - 4, सेक्टर - 3,
केंद्रीय सरकार अधिकारी फ्लैट्स,
सादिक नगर, नई दिल्ली-110049 (भारत)
मो. - 9818510484

रचनाकारों से अनुरोध

- *मौलिक तथा अप्रकाशित-अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।*
- *रचना फुल स्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति में भेजें।*
- *रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, पिनकोड, फोन नंबर एवं फोटो साथ भेजें।*
- *डाक टिकट लगा लिफाफा साथ होने पर ही अस्वीकृत रचना वापस भेजी जा सकती है। अतः लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।*
- *'अक्षरा' में प्रकाशन हेतु रचना भेजने के बाद उसे अन्यत्र प्रकाशन हेतु न भेजें। यदि अन्यत्र प्रकाशित हो रही हो तो कार्यालय को अवश्य सूचित करें।*
- *आप अपनी रचनाएँ* **myakshara18@gmail.com** *पर ई-मेल द्वारा भी भेज सकते हैं।*

कलम है कि थकती नहीं . . .

– यतीन्द्रनाथ राही

जन्म – 3 दिसंबर 1926।
शिक्षा – एम.ए., बी. एड.।
रचनाएँ – इक्कीस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित।

फोन आया है, बेटी जया कहती है 'आप अपना आत्म कथ्य लिख दीजिये।' संकोच तो होता है, हँसी भी आती है, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की बात है। पर अब मियाँ मिट्ठू बनें या मुर्गा, अपने भोर की बाँग तो हमें ही देनी है–यों है कि अब से ठीक 97 साल पहले की बहुत पुरानी बात है, दूर उत्तर प्रदेश के एक बड़े और प्रतिष्ठित गाँव के छोटे से जमींदार परिवार के श्री गुलाब सिंह यादव के घर माँ सत्यवती देवी की कोख से रजपाल सिंह का अवतरण हुआ। जो पाँच वर्ष में स्कूल आते–आते यतीन्द्रनाथ राही हो गया। पिता जी और दादा काम चलाऊ उर्दू पढ़े थे। 'घर में हिंदी की पुस्तक तो क्या एक कागज का टुकड़ा भी नहीं मिलता था। ननिहाल जाते थे तो मामा लोगों की पढ़ी रद्दी किताबें बटोर लाते थे। चौथी कक्षा में बीमार पड़ गये, दस–बारह दिन घर में ही रहे, किस्मत से लल्लू लाल जी का 'ब्रज विलास' मिल गया। पूरा चाट गये। बचपन की कृष्ण लालाएँ गोपियों की प्रेम कहानियाँ, अबोध मन में जैसी भी उतरी हों श्रृंगार और प्रेम दर्शन आज तक समझ रहा हूँ। मिडिल में देवकी नंदन खत्री की चन्द्रकान्ता भी पढ़ने मिल गयी। लोग तव उसे हिंदी सीखने को पढ़ते थे। बाद में तो चन्द्रकांता सन्तति और भूतनाथ भी पढ़ डाला।

ब्रिटिश हुकूमत थी स्कूल में प्रार्थना के बाद गाते थे –

यशस्वी रहें और रहें नित सुखारे
चिरंजीव राजा व रानी हमारे।

पर गलियों में प्रभात फेरियों में आजादी के उभरते स्वर थे–

विजय विश्व तिरंगा प्यारा
झंडा ऊँचा रहे हमारा . . .

आम आदमी तो बस–'कोऊ नृप होइ, हमें क्या हानी।'

मन में कुछ–कुछ आने तो लगा था, चौक में आल्हा सुनते थे तो भुजाएँ फड़क उठती थीं। छटवीं में आठ–दस पंक्ति की आल्हा लिख डाली। चाचा ने पढ़ ली तो डाँट पेल दी। झेंप के रह गये। नवीं कक्षा में एक ललित निबंध लिखा 'आँसू आज तुम्हारा यह उपहास' इंटर कॉलेज की पत्रिका में छप गया। प्रशंसाएँ भी मिलीं लिखने के प्रति रुचि जागी। 11 वीं में आते प्रेमचंद्र को पढ़ा तो चार कहानियाँ लिख डालीं दो कहानियाँ 'मधुकर' उपनाम से स्थानीय पत्रिका में छप भी गयीं। हम कहानीकार हो गये, पंख लग गये। हिंदी के व्याख्याता महोदय से श्री भगवती चरण वर्मा का 'प्रेम संगीत पढ़ने को मिला तो काव्य के कितने निर्झर एक साथ फूटे, कहानी पीछे छूटी और मधुकर यतीन्द्रनाथ राही हो गया।'

इसी बीच एक अभूतपूर्व मांगलिक घटना हुई महाप्राण निराला के दर्शन। सन् 1953 की बात है, मैनपुरी उ.प्र. में अखिल भारतीय ब्रज साहित्य सम्मेलन का आयोजन था। उसी में अखिल भारतीय कवि सम्मेलन की अध्यक्षता कर रही थीं महादेवी जी और मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे महाकवि निराला इस शर्त पर कि कविता नहीं पढ़ेंगे। संचालक थे श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' 45 मि.का रेडियो प्रसारण था। रंग जी की शिराओं को झंकृत करने वाली रचना को सुनकर निराला जी स्वत: माइक पर आ गये, महाकवि निराला की जय से मंच और पण्डाल गूँज उठा। हम अवाक् सुनकर देख ज्यादा रहे थे, बादलों के मन्द्रख सी कविता शिवाजी को पत्र निराला जी झूम–झूम कर पढ़ रहे थे। कविता सुमन जी के हाथ में माइक जिधर निराला उधर माइक, थरथराता मंच और भाव विभोर उत्तेजित श्रोता। अचानक निराला रुके और चल दिये। साहस नहीं था किसी में रोके उन्हें। उन्हीं के साथ जाना पड़ा महादेवी जी, विद्यावती और सुमित्रा कुमारी को, पर जन समाज को जाने क्या अमरत्व मिल

गया था। कुछ ही क्षणों में काव्य का यह अभूतपूर्व विराट व्यक्तित्व दर्शन मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा। वर्षों तक उसे शब्द देने के लिये आतुर रहा। 2009 में सौभाग्य मिला, मैंने लिखा– 'महाप्राण' यह खण्ड काव्य मेरे जीवन की अनूठी काव्य कृति बना। बहुत प्रशंसाएँ और सम्मान मिले मुझे। मैनपुरी में मुझे विशेष रूप से सम्मानित किया गया। भूमिका में देवेन्द्र शर्मा इन्द्र ने मुझे सिद्धावस्था का कवि कहा था।

1954 से 56 तक का समय जीवन और काव्य का मनोरम समय था, हम आगरा कॉलेज में एम.ए. के छात्र थे। यहाँ हमारा एक साहित्यिक नक्षत्र मण्डल था। देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जगत प्रकाश चतुर्वेदी, सुखराम सिंह चौधरी, दीनानाथ श्रीवास्तव और मैं ज्यादा ही घनिष्ठ थे। बाद में सोम ठाकुर भी आ गये थे। 15 दिन में एक बार काव्य गोष्ठी होती थी। हमारे संरक्षक, मार्गदर्शक थे प्रो. पद्म सिंह शर्मा कमलेश और प्रो. घनश्याम अस्थाना चयनित रचनाएँ कॉलेज की षट्मासिक पत्रिका में छपती थीं। दो वर्ष में मेरी तीन: रचनाएँ छपी थीं। एक श्रृंगार गीत ने मुझे बहु परिचित करा दिया था–

मैं तारे गिन रहा, उन्हें भी नींद न आती होगी।
मुझे किसी की याद सताती, उन्हें रुलाती होगी।

इन्द्र जी और जगत प्रकाश मेरे बहुत अभिन्न रहे। इन्द्र जी तो हिंदी साहित्य के दृढ़ स्तम्भ और नवगीत के पुरोधाओं में से एक इस बीच अच्छी छायावादी रचनाएँ हुईं। 1956 के अंत में नौकरी की तलाश में हम भोपाल आ गये। अगस्त 56 में हा. से. स्कूल बेगमगंज में पहली पोस्टिंग मिली। सघन जंगल–पर्वतों के बीच कल–कल, छल–छल बहती नदियाँ रिपटा पुलों पर बहते पानी में उतरती बस, मन काँप जाता था। पहली बार राहतगढ़ का जलप्रपात देखा तो जैसे स्वर्ग उतर आया, मैंने पहली कविता लिखी –

ओ राहतगढ़ के जल प्रपात।

यह रचना मेरे प्रकृति काव्य की मील का पत्थर बन गयी। मुझे राहतगढ़ के जलप्रपात वाले कवि का नाम मिल गया। यद्यपि इस के बाद हिमांचल और दुबई के सागर तट की भी सुंदरतम रचनाएँ हुईं पर राहतगढ़ का स्थान स्मरणीय है।

1961 में स्थानांतर पर खिड़किया, होशंगाबाद आ गये। 62 में चीन के आक्रमण ने देश की ऊर्जा जगा दी। जवानी में आग फूकती रचनाएँ आ रही थीं। प्रकृति और प्रेम का 'राही' ऊर्जास्वित रचनाकार हो गया। मंचों से लेकर ख्याति भारत प्रतिरक्षा मंत्रालय तक पहुँचीं। मेरी कई रचनाएँ सचित्र सैनिक समाचार में छप कर विदेश मंत्रालयों तक पहुँचीं।

इन्हीं दिनों परम श्रद्धेय दादा माखनलाल चतुर्वेदी जी के चरणों का सान्निध्य और श्रद्धेय सुमन जी दादा भवानी मिश्र, सरल जी, श्रीकांत जोशी और श्री रामनारायण जी उपाध्याय जी भी निकट संपर्क में आये। भाई बाल कवि वैरागी और अनुरागी जी के साथ मंचों पर कविताएँ पढ़ीं। ऐसे मंच की अध्यक्षता भी की जिस पर मंचों की शोभा नीरज जी ने काव्य पाठ किया था। अनुरागी जी और चन्द्रसेन विराट भी थे।

16 जनवरी 66 को खंडवा में दादा माखन लाल जी को प्रदत्त 'पद्म भूषण' के उपलक्ष्य में आयोजित समारोह में दादा के अभिनन्दन में अखिल भारतीय कवि सम्मेलन था, मैंने कविता पढ़ी –

नमन तुमको! राष्ट्र की नव चेतना के अमर गायक
और हे वलि पंथियों के, चिर युवा कर्मण्य नायक!

कविता पढ़कर मंच पर आया तो दादा सोहनलाल द्विवेदी ने छाती से लगा लिया था। सुमन जी ने प्रशंसा की, वे संचालन कर रहे थे। दूसरे दिन सुबह दादा के घर पर हम सब सुमन जी, भवानी मिश्र, भवानी तिवारी, डॉ. रामविलास शर्मा, सरल जी श्रीकांत जोशी और मैं था धर्म युग में इस ग्रुप का फोटो छपा था। मेरी पढ़ी कविता 'रसवंती' लखनऊ के माखनलाल जी विशेषांक के मुख पृष्ठ पर छपी थी।

1967 में लोकप्रिय गीतकार श्री महेश सन्तोषी ने एक संग्रह किया। हिंदी के लोकप्रिय पावस गीत, इस संग्रह में माखन लाल चतुर्वेदी से लेकर महेश संतोषी तक देश भर के 81 श्रेष्ठ गीतकारों का एक–एक गीत था। क्र. 75 पर मेरा गीत

आज सौ–सौ बार मेरी आँख फिर से डबडबाई –
बादलों में फिर घुमड़ती, यह तुम्हारी याद आई।

बहुत समय तक यह मेरा प्रिय गीत रहा। गर्मी की छुट्टियों में अवसर मिला तो पूरे एक माहफिल–स्टेशन डल हौजी हिमांचल प्रदेश में सपरिवार घूमने को मिला गया। पहली बार जब स्वर्गिक सौन्दर्य से झूमती हरीतिमा, ऊँची पर्वत मालाओं पर बादलों से अठखेलियाँ करते चीड़ और देवदारू के वृक्ष श्रेणियाँ, कल–कल झरते–झरने, चुल्लू भर पीलिया समझो तृप्ति का एक कल्प जी लिया। गगनचुम्बी देवदारों से घिरी मखमली हरीतिमा के बीच छोटी सी झील जैसे तश्तरी में धरा पूरा एक स्वर्ग मैंने लिखा था –

कैसे इन छोटी बाँहों में / बाँधूँ रूप तुम्हारा
हे अनन्त यौवने बता दो / किसने तुम्हें सँवारा ?

और जब देखी हिमाच्छादित शैल–शिखरों की सुनहली–रूपहली विराट छवि एक दर्पण सा खुल गया मेरे सामने। कैसा प्रतिक्षण, प्रतिपल वर्णनातीत विराट सौन्दर्य घन्टों देखा कि यह पर क्या बाँध पाया और क्या बाँध पाऊँगा बस लिख लिया–

ज्योति स्नापित प्राणी तम के पटल जैसे खुल गये
एक दर्शन मात्र में / दर्पन नयन के धुल गये।

वहाँ रहा तब तक रोज लिखा, बहुत अच्छा लिखा पर हिमांचल की प्रकृति और 'हिमालय एक विराट दर्शन' दोनों रचनाएँ मेरी अनमोल धरोहर हैं। बहुत बाद 2005 में प्रकाशित मेरी काव्य कृति–'बाँहों भर आकाश' में इन्हें संग्रहीत किया है।

फिर एक लंबे समय तक काव्य की सुप्तावस्था ही रही, कारण हम दोनों ही शिक्षक थे। बच्चे स्कूल के हो गये। फिर घर से दूर कॉलेजों के। अत: घर के दायित्व भी दोनों को बाँट कर ही पूरे करने थे फिर शादियाँ एक–एक कर दोनों की सेवा निवृत्ति। कविता के लिये मुक्त अवसर कहाँ, लिखा तो छपा भी सम्मान भी, पर राही कवि के रूप में कम शिक्षक के रूप में ही अधिक था। हम हरसूद में ही घर बना चुके थे। पर हर सूद नर्मदा सागर में डूबने के कगार पर आ गया तो, डूबने से पहले ही हमके 1998 अंत में भोपाल आ गये। 2001 तक घर बनाकर हम भी भोपाली हो गये।

गीत की मन्दाकिनी भी साथ तो चल ही रही थी, भोपाल में सुप्रसिद्ध गीतकार भाई डॉ. महेश संतोषी, श्री मयंक श्रीवास्तव, श्री राजेन्द्र अनुरागी और डॉ. जय–जय राम आनंद मेरे पूर्व परिचित मित्र थे। उनके माध्यम से और अनेक ख्यातिनाम मित्र मिले। यहाँ मेरा पहला गीत 'ओंकार' भाई कमल कांत सक्सेना ने अपने साहित्य सरोवर के अध्यात्म अंक में मुख पृष्ठ पर छाप कर मुझे बहु प्रचारित कर दिया। बाद में यह पत्रिका 'साहित्य सागर' हो गयी और मैं कमल कांत सक्सेना का मित्र–भाई और फिर संबंधों की प्रगाढ़ता में उनके परिवार का बुजुर्ग। भाई मयंक श्रीवास्तव तो पड़ोसी ही थे। उन्हीं के द्वारा विद्वान कवि भाई जंग बहादुर से प्रगाढ़ता हुई और साहित्यिक अभिरुचियों का आदान–प्रदान। मयंक जी प्रेस मेन के साहित्यिक सम्पादक हो गये और प्रति सप्ताह गीतों के प्रकाशन से गीत को विशेष प्रोत्साहन मिला मेरे दो गीत–संग्रह प्रकाशित हुये –

1 रेशमी अनुबंध, 2 अंजुरी भर हरसिंगार, रेशमी अनुबंध गीत गजल संग्रह था और 'अंजुरी भर हरसिंगार' गीत थे, अधिकांश छायावादी। नवगीत के पुरोधा भाई देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने मुझे नवगीत की ओर प्रेरित किया और फिर नवगीत शृंखला में रेत पर प्यासे हिरने, 2. चुघियाँ फिर गुनगुनायीं, 3. काँधों लदे तुमुल कोलाहल, जिंदगी ठहरी नहीं है, सान्ध्य के ये गीत लो अभी दूर चलना है, महाशोर के सन्नाटों से खुशबुओं के गाँव, पत्थर सच बोले (अनन्तिमा प्रकाशन में) 12 गीत कृतियाँ हो गयीं।

गीतों के साथ चार काव्य कृतियाँ, दो बाल गीत, एक दोहा संग्रह और एक महाप्राण खण्ड काव्य हुआ। यह सब भोपाल की देन है। मुझे यहाँ आकर एक साहित्यिक कुटुम्ब मिला, सभी ने भरपूर स्नेह दिया। भाई मयंक श्रीवास्तव, अनुज रामवल्लभ आचार्य अशोक निर्मल, गौरीश जी आदरणीय दीपक जी, भाई महेश अग्रवाल, किशन तिवारी, भाई मोहन तिवारी आनंद किसको कितना याद करूँ। आदरणीय कैलाशचन्द्र पंत तो प्रेरणा दायक रहे हमेशा उन्हें शायद मेरे गीतों में छायावादी झलक ज्यादा प्रिय थी।

वे मुझे गीत का पितृ पुरुष कहते हैं। कविता पाठ में उनकी उपस्थिति मुझे प्रोत्साहन देती रही है। आदरणीय मनोज श्रीवास्तव जी तो मेरे कई संग्रहों का विमोचन करा चुके हैं। उनकी स्वीकृति, कृति की सफलता है। हिंदी भवन तो मेरा देवालय है। यहाँ बैठकर बहुत कुछ और, जाने क्या पाया है। यहाँ से भाई महेश सक्सेना, भाई जवाहर कर्नावट की प्रियता विशिष्ट रही।

2003 में बड़ा बेटा दिल्ली से भारतीय सेवाएँ छोड़ कर अबूधाबी चला गया तो प्रतिवर्ष तीन माह के लिये विदेश जाना होने लगा। विन्ध्य और हिमांचल के प्रकृति काव्य के साथ गगन यान और सागर संतरगा, लहरों की अनन्त बाँहों में घंटों झूलना, तट की बालू पर कविता के पृष्ठ लिखना –

यह अपनी बाँहें फैलाये / बुलाता है
धरती के बेटों को / जो सबजात और मजहब से ऊपर
उसके अपने हैं। / कुछ हकीकत हैं/ कुछ सपने हैं।

और भी रचनाएँ थीं जो मेरे काव्य संग्रह बाँहों भर आकाश से संग्रहीत हैं। वहाँ हिंदी के व्याख्याता श्रेष्ठ कहानीकार उपन्यासकार और निकट के सम्पादक भाई कृष्ण बिहारी त्रिपाठी से मैत्री हुई। उन्होंने मेरे दस गीत 'अनुभूति' जाल पत्रिका में देकर श्रीमती पूर्णिमा बर्मन शारजाह और दुबई के कई साहित्य स्नेहियों से परिचय कराया। सम्मान मिले मेरी बच्चों की कुछ कविताएँ छटवीं कक्षा के पाठ्यक्रम हेतु चयनित हुईं। इस सबसे ऊपर आज मेरी छवि एक गीतकार के रूप में ही है। मेरे लिये–

गीत, अन्तः से उठी / निर्लिप्त रस की धार है।

इससे भी आगे –

गीत ब्रह्मानन्द का पहला सहोदर है
गीत स्वर की साधना में
लय-विलय का सार है। (रेत पर प्यासे हिरन)

कवि के रूप में मैं रसवादी ही रहा हूँ। छायावादी काव्य की मार्मिक गहराई शिल्प-सौंदर्य के बहुरंगी अनूठे अवदानों की इन्द्रधनुषी छवियाँ, मानस के क्षितिजों पर रंग तो आज भी बिखेरती हैं, किंतु यह पथरीला कठोर वर्तमान भी तो है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। संस्कारों का अपसंस्करण, एकल परिवार जनित संबंधों का विघटन, कुंठाए जीवन-संघर्ष, वर्ग-भेद, मजहबी नफरतें और सियासत की इंतहा गिरावट से आचरण का क्षरण, विश्व बाजार का रसोई तक प्रवेश और ये आभासी जिंदगी बच्चों से बूढ़ों तक पसरी जड़ें तो गाँव की मुक्त प्राण वायु को तरसती हैं। परंतु टहनियाँ, चमकदार रोशनी को मुट्ठियों में बाँधने को आतुर हैं। कवि के लिये न तो सम्मोहन सहज है न उच्चाटन। हर क्षेत्र में खेमे हैं, दल हैं, झूंडे हैं पण्डे हैं। गीत, प्रगीत, नवगीत, जनगीत, समकालीन गीत और अब तो एक अभिनव गीत भी किसी अखाड़े से मेरा कभी संबंध नहीं रहा। मैं सबका हूँ और सब मेरे हैं।

इन्द्र जी कहते थे-'हर नवगीत, गीत होता है परंतु हर गीत नवगीत नहीं होता।' गीत का नाम कुछ भी धर लो उसमें गीतात्मकता (रस-लय) तो आवश्यक है। नवता भी कोई स्थिर जड़ता नहीं है, प्रतिक्षण नवीनता ही तो नवता है। निराला जी नव पर नव ही तो कहते थे। नव-गीत के पुरोधाओं ने जो नवगीत के लक्षण निर्धारित किये, वे अपने समय के स्वर थे आज की नवता या आज की समकालीनता कल न ही रहेगी। देखना यह है कि गीत अपने समय को कितना स्वर दे पा रहा है। मैंने रेत पर प्यासे हिरन के साथ आज तक के प्रकाशित प्रत्येक गीत के अंत में दिनांक दिया है जो उसकी समकालीनता बता सकता है। यह भी कि किसी भी गीत में मैंने पुनरावृत्ति नहीं होने दी जो कुछ भी है मेरा है, अपने समय का सच है।

31 दिसंबर की उम्र के 97 वर्ष पूरे हो जाएँगे, कलम है कि थकती ही नहीं, इस वर्ष का गीत-संग्रह भी मिल ही जाएगा प्रेस में हैं, और उसका लोकार्पण भी आदरणीय मनोज श्रीवास्तव ही करेंगे यह भी सुनिश्चित है, शायद यही मेरी आखिरी कृति हो आगे की राम जाने।

कितनी बार तो सुदीर्घ-साधना सम्मान ले चुका पर न आप हारे न मैं। अब तो एक याचना है स्वीकारें –

मुझे खुलते गवाक्षों से, निमंत्रण धर रहा कोई
शिलाएँ तोड़कर अमृत कलश सा झर रहा कोई
शिथिल कुछ तो करो बंधन, तनिक अभिसार के पथ पर
उनींदे आसमानों में।
प्रतीक्षा कर रहा कोई पिया मिलन की डगर पर हूँ,
कुछ तो ढीले करो ये प्यार के बंधन।

काश! अक्षरा की अनंतता ही हो मेरी अंतिम डुबकी।

ए-34 रजत विहार, होशंगाबाद रोड,
भोपाल - 452026 (म.प्र.)
मो. - 7725004444

यशपाल से शैवाल सत्यार्थी की बातचीत

यशपाल बचपन से ही बड़े होनहार रहे। बारह वर्ष की उम्र में कहानी लिखकर स्कूल की पत्रिका का संपादन किया। प्रताप सहित अन्य पत्रिकाओं में स्थान बनाने हुए उन्होंने लुई फिशर की पुस्तक लेनिन और गाँधी का अनुवाद किया। अनुवाद के दौरान पुलिस से उनका भी सामना हुआ। चौदह वर्ष जेल में रहे। पर लिखते-पढ़ते रहे। विप्लव प्रारंभ हुआ और अंग्रेजों ने बंद भी करा दिया। उनकी 37 पुस्तकें आ गईं एक-एक कर। प्रस्तुत है श्री शैवाल सत्यार्थी जी द्वारा वर्षों पहले की गई बातचीत के अंश।

- संपादक

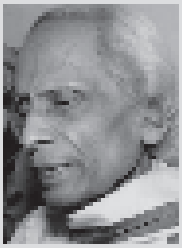

शैवाल सत्यार्थी

जन्म – 27 जुलाई 1933
जन्म स्थान – भिंड (म.प्र.)।
रचनाएँ – चार पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – शिखर सम्मान सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

यशपाल

जन्म – 03 दिसम्बर 1903
प्रयाण – 26 दिसम्बर 1976

शैवाल सत्यार्थी :- अपने विचारों को आप किस प्रकार अभिव्यक्ति देते हैं? क्या इसका कोई निश्चित समय होता है? और इस प्रकटीकरण को आप क्या मानते हैं?

यशपाल :- बागीचे में जब वे देशी-विदेशी पेड़-पौधों के विषय में बता रहे थे, और एक फूल में, अजीब-सा नाम था उसका, वे खो- से गए, बागवानी का बेहद शौक है। महानगर में उन्होंने जो आलीशान (सौन्दर्य तथा सुरुचि की दृष्टि से) बँगला बनवाया है, उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है यह बागीचा, जिसे महान् कथाकार ने अपनी कहानियों की भाँति ही, स्वयं अपने हाथों सँवारा है।

'मैं प्राय: विचार की अभिव्यक्ति के लिए, कल्पना के माध्यम से रचना करता हूँ। उसके लिए कोई समय विशेष नहीं। नित्य जीवन में जो देख पाता हूँ, उसी से विचार जागते हैं। उन्हें प्रकट करना मैं अपना सामाजिक ध्येय समझता हूँ। संतोषजनक रूप से अभिव्यक्त कर पाने पर संतोष अनुभव करता हूँ।'

प्रश्न :- सबसे ज्यादा संतोष आपको क्या लिख कर हुआ?
उत्तर :- लेखन द्वारा अभिव्यक्ति और समाज के प्रति देय को पूरा करना, मेरे जीवन का क्रम है। जब तक जीवन में सामर्थ्य रहेगा, यह काम जारी रहेगा। मैं केवल प्रयोजन से ही लिखता हूँ, इसलिए प्रत्येक कृति और रचना के बाद संतोष अनुभव करता हूँ। और जब अभिव्यक्ति के लिए और विचार पा लेता हूँ तो फिर लिखता हूँ, और संतोष पाता हूँ। सम्भव है कि अन्तिम रचना में मुझे सबसे अधिक संतोष होगा।

'झूठा सच' पर मुझे 830 पत्र मिले। अधिकांश शरणार्थियों के थे। एक बार फिर, लाहौर की गलियों की याद ताजा हो गई। उसमें झूठ क्या है, सब सच है। और यूँ बात तो यह कि सब झूठ ही है, काल्पनिक है। लोग समझते हैं कि विभाजन के समय मैं पंजाब में था, किन्तु मैं 1938 से ही, जेल से छूटने के बाद, प्रवेश निषेध होने के कारण पंजाब जा ही नहीं सकता था। मैं समस्या को महत्व देता हूँ और उसके लिए उपयोगी माध्यम तथा घटना के अनुकूल पात्रों की सृष्टि करता हूँ।

प्रश्न :- क्या हिन्दी में केवल साहित्य सृजन पर निर्भर रह कर जीवित रहा जा सकता है? क्या उसकी आज की प्रगति से आप संतुष्ट हैं? अनीतियों से ऊबकर कभी आपका लेखक पलायनवादी भी हुआ है? 'मैंने पूछ लिया।'
उत्तर :- मैं जीविका के लिए, साहित्य के अतिरिक्त कोई प्रयत्न या धन्धा नहीं करता, और मैं अपनी स्थिति से बहुत असन्तुष्ट

भी नहीं हूँ। तो, यह कैसे मान लूँ कि हिन्दी में केवल साहित्य सृजन पर निर्वाह असम्भव है। हिन्दी की प्रगति से संतोष के विषय में, यही कह सकता हूँ कि मुझे अन्य भाषाओं के लेखकों की स्थिति का भी कुछ परिचय है। विदेश के लेखकों की स्थिति को भी जानने का अवसर मिला है। उस तुलना से मुझे अनुत्साहित होने का कोई कारण नहीं मालूम देता।

मेरा विचार है कि गद्य हो या पद्य, उसका रूप और शिल्प विचारों या साहित्य की आत्मा पर निर्भर करता है। जैसी परिस्थितियों में, जैसे विचारों की अभिव्यक्ति इष्ट होती है, उसी के अनुसार कविता और कहानी के शिल्प और रूप में परिवर्तित हो जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि कहानी के रूप में परिवर्तन नहीं हुआ है, परन्तु मैं उदाहरण देता हूँ, आप 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' कहानियों के विन्यास और शिल्प को देखिये, और फिर, 'रानी केतकी', 'तोता मैना का किस्सा', 'चार दरवेश' के कथानकों और शैली को देखिए। महाभारत और पुराणों के लेखकों के कहानी कहने का ढंग दूसरा ही था। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और प्रेमचन्द के ढंग एक से नहीं थे। इसी प्रकार पिछले 20, 30 वर्षों में कहानी की कथा-वस्तु और शिल्प में बहुत परिवर्तन आ गया है। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, कौशिक जी आदि की कहानियों की कथावस्तु और शिल्प में तथा अत्यन्त आधुनिक कहानी-लेखकों की कथावस्तु और शिल्प में पर्याप्त भेद मौजूद हैं। परन्तु, कहानी कविता की अपेक्षा अधिक मूर्त होती है। कहानीकार को कल्पना से दृश्य जगत सृष्टि करनी पड़ती है, इसलिए उसे उसी प्रकार की सृष्टि करनी पड़ती है जो पाठक के लिये पूर्व परिचित है। इसलिए कहानी के क्षेत्र में परिवर्तन की गति उतनी तीव्र नहीं हो सकती, वह अतीत से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकती।

इसके दो कारण हैं। जिस साहित्य को हम आधुनिक साहित्य कहते हैं, उसकी परम्परा विदेशी साहित्य में हिन्दी साहित्य की अपेक्षा अधिक पुरानी है। उन लोगों का साहित्य हिन्दी की अपेक्षा अधिक समय तक विकास कर चुका, इसलिए इस बात की सम्भावना है कि उनका साहित्य हिन्दी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और परिमार्जित हो सका हो। दूसरा कारण, किसी हद तक हिन्दी पाठकों और आलोचकों की हीन भावना भी हो सकती है। वे अपने-आपको, जीवन के अन्य क्षेत्रों में, पश्चिम की अपेक्षा पिछड़ा हुआ पाते हैं तो अपने साहित्य के पिछड़े होने का विश्वास भी कर लेते हैं। यदि हिन्दी का कथा-साहित्य पश्चिमी कथा-साहित्य की तुलना में इतना अधिक पिछड़ा होता तो पश्चिम के लोगों को हिन्दी साहित्य से अपनी भाषाओं में अनुवाद करने की इच्छा न होती। पलायन की इच्छा मुझे कभी नहीं हुई। अलबत्ता, अनीति के हाथों में सत्ता देख कर खिन्नता अवश्य अनुभव होती है। उस समय यही इच्छा होती है कि उस पर दूने वेग से चोट करूँ।

प्रश्न :- 'आप के साहित्य पर एक राजनीतिक वाद की स्पष्ट छाप रहती है। आप इस विषय में कुछ कहेंगे?

उत्तर :- यह आरोप सुनकर कि मेरे साहित्य में राजनीतिक वाद की छाप स्पष्ट रहती है, मुझे संतोष है कि मैं अपने परिश्रम का प्रयोजन स्पष्ट कर पाया। राजनीति का अर्थ है, मानव समाज के पारस्परिक सम्बन्धों और निर्वाह की व्यवस्था। मैं यह कल्पना ही नहीं कर सकता कि किसी काल और परिस्थिति में सप्रयोजन साहित्य, मानव समाज के पारस्परिक सम्पर्कों और उसके निर्वाह की व्यवस्था से निरपेक्ष रह सकता है। मुझे बहुत संतोष है कि पाठक समझते हैं कि मैं यह काम विशेष रूप से कर रहा हूँ।'

प्रश्न :- आप तो विदेशों में गए हैं, वहाँ की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना तथा भारत के प्रति उनकी रुझान के सम्बन्ध में कुछ बताइए?'

उत्तर :- मनुष्य की चेतना और संस्कृति, उसके जीवन के साधनों पर निर्भर करती है। पश्चिम के अधिकांश देशों में जीवन निर्वाह और रक्षा के हमारे देश की अपेक्षा अधिक विकसित हो चुके हैं। इसलिए उन देशों का सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर हमारे देश की अपेक्षा, इस समय बहुत ऊँचा है। परन्तु यह अंतर प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक नहीं है। पश्चिमी देशों की अधिकांश जनता, न तो भारत की वास्तविक स्थिति से परिचित है, न भावना से ही आध्यात्मिक रहस्यों की ओर रुचि रखने वाले में, भारत के प्रति एक रहस्यपूर्ण आदर दिखलाई पड़ता है, और अन्तर्राष्ट्रीय नीति के प्रति भी आदर है। वे लोग भारत से गंभीर और संतुलित दृष्टिकोण की आशा रखते हैं। '

प्रश्न :- आपके पसन्द के फूल, रंग, वस्त्रों की जानकारी तथा उनके भोजन और दैनिक कार्यक्रम के बारे में बताइए।

उत्तर :- यशपाल जी के होठों पर, न मालूम पड़ने वाली गम्भीर मुस्कान आ गई, बोले-गार्डनिंग में रुचि है, आप देख रहे हैं। पेड़ों, पौधों, फूलों में नए-नए ढंगों से नए-नए प्रयोग मुझे प्रिय

हैं। पहले पेंटिंग का भी शौक था, अब आँखें काम नहीं देतीं– एक क्षण को उन्होंने आँखें बन्द की और फिर खोल लीं–'नए का अभिलाषी हूँ, सब कुछ नया ही नया लैम्प, अलमारी, जूते के लिए भी, बनाने वाले को सुझाव देता हूँ। बढ़ई के काम में भी दखल। अपने कुत्ते से प्यार बहुत है, तो वह भी मेरा कितना कहना मानता है, आप देख रहे हैं न?

सफ़र का मुझे बहुत शौक भी था मौका मिलता तो, उसे छोड़ना नहीं चाहता। पहाड़ों में बहुत रहा, इसीलिए उसी वातावरण की कहानियाँ बहुत लिखीं। शायद ही भारत का कोई पहाड़ी मुल्क होगा, जहाँ न गया हूँ। ज्यादातर फर्स्ट क्लास में सफर करता हूँ। कोशिश करता हूँ कि थर्ड में करूँ–लोगों की बातें सुनूँ यूँ, अक्सर मैं थर्ड क्लास रेस्टोरेन्ट में बैठता हूँ, बाजार और कबाड़खानों में टहलता हूँ और तब कोई बात झरोखे की तरह हो जाती है, जिसमें से देखने की मैं कोशिश करता हूँ।

प्रश्न :– 'राजनीतिक नेताओं में आपको कौन पसन्द है?'
उत्तर :– 'बड़े नेताओं या मार्गदर्शकों को पसन्द–नापसन्द करने की जिम्मेवारी मैं नहीं लेना चाहता।' आगे कहा–'यही कह सकता हूँ कि मुझे किसका मार्गदर्शन, मानवता के कल्याण की दृष्टि से व्यावहारिक और विश्वास योग्य जँचता है, भारत के सामयिक नेताओं में आचार्य नरेन्द्र देव, मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजनदास के प्रति मुझे बहुत आदर है।'

प्रश्न :– 'कलाकार अथवा साहित्यकार का, शासन की सुनहरी जेबों (राज्याश्रय) में बन्द होना, सम्भवत: आपको रुचिकर न होगा?'
उत्तर :– मेरे विचार में जेब चाहे लौहमय हो या सुनहरी, उसमें बन्द हो जाना किसी के लिए भी हितकर नहीं हो सकता। बन्दिश पराधीनता है। जब लेखक सरकार की सेवा स्वीकार करता है या उसका संरक्षण स्वीकार करता है, तो सरकार के प्रति 'लॉयल्टी' या स्वामीभक्ति भी उसका कर्तव्य हो जाता है। वह एक अंतर्द्वन्द्व में फँस जाता है। यदि शासन व्यवस्था की ईमानदारी से आलोचना उसका कर्तव्य है, तो व्यवस्था के प्रति लोगों की आस्था जमाकर व्यवस्था को सशक्त बनाना भी उसका कर्तव्य हो जाएगा। हम किसी भी व्यवस्था में स्वयं ही अंतर्विरोध उत्पन्न कर देते हैं। लेखक का कर्तव्य उन अंतर्विरोधों को प्रकट करके विकास के मार्ग को प्रशस्त करना होता है। ऐसी अवस्था में व्यवस्था के प्रति अनुगत होने को कर्तव्य समझना या व्यवस्था के प्रति अनुगत होने के कर्तव्य की मजबूरी, कलाकार के सामाजिक कर्तव्य की विरोधी हो जाएगी।

साहित्यिक जीवन में भौतिक सहायता पाने के लिए ही वह व्यवस्था के अनुग्रह की अपेक्षा करता है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति है जरूर, लेकिन जब यह प्रवृत्ति कलाकार के कलाकार रह सकने में बाधक हो तो, किसी सीमा तक भौतिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके भी कलाकार को, समाज हित के लिए कलाकार बने रहने का यत्न करना चाहिये।

प्रश्न :– 'युद्धरत विश्व आज विनाश के चौराहे पर खड़ा है, ऐसे में कलाकार–साहित्यकार का आप क्या दायित्व मानते हैं?'
उत्तर :– तभी तेज हवा चली और वृक्षों से कुछ फूल टूट कर नीचे हम पर आ गिरे!

'मेरा विचार है कि कलाकार का यह कर्तव्य है कि संसार को विनाशोन्मुख प्रवृत्तियों की ओर जाने से रोके। कलाकार ही नहीं, बल्कि मनुष्य होने के नाते भी यह उसका कर्तव्य है।'

प्रश्न :–'जीवन, साहित्य और समाज के प्रति आप अपना दृष्टिकोण तथा संदेश दीजिए।'

यशपाल जी ने लेटरपेड खोला, जिस पर 'विप्लव', 21 शिवाजी मार्ग, लखनऊ, छपा हुआ था, और लिखा–'मनुष्य का जीवन, उसका समाज और उसका साहित्य अन्योन्याश्रय ही नहीं, परस्पर समाहित भी है। मानव–जीवन के अभाव में, मनुष्य के जीवन की कल्पना संभव नहीं है। मनुष्य का सामाजिक चिंतन और चिंतन की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। भाप के इंजन में जो स्थान भाप का है, समाज में वही स्थान साहित्य का है। साहित्य मनुष्य–समाज का प्रोजेक्शन या निष्पत्ति है, और साहित्य मानव समाज के विकास का साधन भी है। समाज को विकासोन्मुख रखने के लिए साहित्य का भी निरन्तर, विकास आवश्यक है!'

समर्पण प्रिंटर्स, भारत टॉकीज के पास
शिन्दे छावनी, ग्वालियर 474001(म. प्र.)
मो. - 6261071986

शास्त्री कालीचरण

– संजय कुमार मालवीय

जन्म – 5 जून 1968।
जन्म स्थान – अयोध्या (उ.प्र.)।
शिक्षा – एम.एस.सी., पीएच.डी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

जीवन सब-कुछ पा लेने के लिए ही नहीं है बल्कि कुछ खोने के लिए भी होता है। कुछ खोना भी बदले में कुछ अधिक, जो मनुष्य सामान्यत: सोच भी नहीं सकता, पा लेने की वजह बन जाता है। आज के भौतिकतावादी युग में बहुसंख्यक का उद्देश्य सिर्फ धन, वैभव, पद इत्यादि पा लेने तक ही सिमटता जा रहा है। भारत त्यागियों, तपस्वियों, संन्यासियों, साधु-सन्तों की पुण्य भूमि है।

वर्षों पुरानी घटना है। यद्यपि अनिमेष विद्यावारिधि पूर्ण कर चुका था, फिर भी विश्वविद्यालय के छात्रावास में ही रहता था। अपना कमरा नहीं छोड़ा था; वहीं प्रशासनिक सेवाओं की प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी में लगा रहता।

एक रात छात्रावास के अन्तेवासियों के दो गुटों में विवाद हो गया और गोली चल गई। गोली लगने से बिहार के एक छात्र की मुत्यु हो गई। इस घटना के उपरान्त विश्वविद्यालय-प्रशासन का आदेश हो गया कि छात्रावास में अनधिकृत रूप से रहनेवाले छात्रों से छात्रावास खाली करा लिया जाए। अनिमेष को भी छात्रावास छोड़ना पड़ा। यूँ तो वह प्रादेशिक सिविल सेवा-परीक्षा का साक्षात्कार अनेक बार दे चुका था परन्तु उसका अन्तिम चयन नहीं हो सका था।

एक दिन वह अपने सामान (किताबें, बिस्तर आदि) लाने छात्रावास गया। वहाँ से अपना सामान समेट कर जाने हेतु चौराहे से बस पकड़ने के लिए वह तेज गति से आगे बढ़ रहा था और उसके पीछे-पीछे उसका होलडॉल साइकिल पर रखे छात्रावास का ही एक जूनियर छात्र किशोर उसे बस तक छोड़ने जा रहा था। चौराहा जब कुछ कदम ही रह गया तो उसे किसी के सिसकने की आवाज आयी, उसने पीछे मुड़कर देखा तो किशोर की आँखें नम थीं, जिन्हें वह अपने रुमाल से बार-बार पोंछ रहा था। किशोर पीसीएस परीक्षा में चयनित हो चुका था।

'किशोर क्यों रो रहे हो?' अनिमेष ने कारण जानना चाहा।

'भैया, आप हम सभी के लिए बरगद की छाँह थे। आप सबकी नि:स्वार्थ मदद करते थे। छात्रावास के कितने छात्र आपके सहयोग से अच्छी-अच्छी सेवाओं में चयनित हो चुके हैं किन्तु आपने कभी कोई क्रेडिट नहीं ली। आज आप यहाँ से खाली हाथ जा रहे हैं।' किशोर के सिसकने की आवाज तेज हो गई थी।

'अनुज, दु:खी मत हो। जीवन मात्र आईएएस, पीसीएस बन जाने अथवा अच्छी नौकरी प्राप्त कर लेने से ही सफल नहीं माना जा सकता। मैंने अपनी मेहनत में कमी नहीं छोड़ी है, इसलिए मुझे आत्म-संतोष है। विधाता ने मेरे लिए जो भी निश्चित किया होगा, वह ही होगा, इतना मुझे विश्वास है।' अनिमेष ने किशोर को स्नेहिल आश्वस्ति दी।

अनिमेष के कुछ सहपाठी मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया था; क्योंकि वे सफल हो चुके थे और उनकी दृष्टि में वह बकवासी हो चुका था। अनिमेष अपने गाँव चला गया। किन्तु, उसका मन वहाँ नहीं लगता था। कुछ ही दिनों बाद अपना सामान लेकर वह प्रयाग चला गया और किराये पर एक कमरा लेकर प्रतियोगी परीक्षाओं की पुन: तैयारी करने लगा। वह छात्रावास के परिवेश में रह चुका था; शायद इसीलिए उसका मन किराये के कमरे में नहीं लगता था, तिसपर भोजन बनाना उसके लिए और पीड़ादायी था।

इसी बीच अनिमेष के जूनियर रह चुके, प्रयाग विश्वविद्यालय से वकालत की पढ़ाई कर रहे सलिल ने उसके दरवाजे पर दस्तक दी।
'अरे सलिल! आओ-आओ। अनिमेष ने दरवाजा खोलते ही उसका गर्मजोशी से स्वागत किया। सलिल, स्थानीय विश्वविद्यालय के छात्रावास में ही रहते थे।

'सर, आप मेरे साथ चलकर हॉस्टल में ही रहिए। वहाँ आपका मन भी लगेगा और मुझे आपका मार्ग-दर्शन व मदद भी मिलेगी। मैं भी पीसीएस की तैयारी करना चाहता हूँ।' सलिल ने अपने आने का मकसद स्पष्ट किया।

'सलिल, तुम कब तक मेरा बोझ छात्रावास में ढो सकोगे। मुझे यहीं रहने दो। हम मिलते-जुलते रहेंगे।' अनिमेष ने अपना संशयपूर्ण अनुभव व्यक्त किया।

बहुत मना करने पर भी सलिल नहीं माने और एक दिन रिक्शे से मय सामान अनिमेष को अपने साथ छात्रावास लेते गये। अनिमेष को भी वहाँ अच्छा लगने लगा। सलिल, दुर्दिन में अनिमेष के बड़े साथी थे। सलिल उसका बहुत ख्याल रखते थे। कमरे में एक ही तखत था। वह स्वयं जमीन पर बिस्तर लगा लेते और उसे तखत पर सुलाते थे।

एक दिन अनिमेष अपनी बड़ी मौसेरी बहन से मिलने गया। वह प्रयाग में ही रहती थीं।

'अनिमेष तुम अभी कोई परीक्षा निकाल पाए कि नहीं?' जीजा के इस अहैतुक प्रश्न का उत्तर उसने अपनी गर्दन हिलाकर संकेत में 'नहीं' दिया।

'तुम एक बार शास्त्री जी से क्यों नहीं मिल लेते।' उसके जीजा ने उसे प्रेरित किया।

'कौन-से शास्त्री जी?'

'तुम काशी के होकर भी शास्त्री जी को नहीं जानते। इन्हें प्रयाग शहर के साधक, विद्वान और साहित्य-जगत की हस्तियाँ पूजती हैं।' जीजा ने गर्वित स्वर में जवाब दिया।

अनिमेष ने उनसे शास्त्री जी का नाम-पता पूछा।

'शास्त्री कालीचरण। उनका आश्रम बनारस-मिर्जापुर मार्ग पर लगभग 23 किलोमीटर की दूरी पर स्थित भैरवघाटी के पास है। यह एक सिद्ध शक्तिपीठ है। वे वहीं रहते हैं।' उन्होंने संक्षेप में परिचय बताया।

अनिमेष का मन प्रयाग में भी नहीं लगता था। कुछ दिनों बाद वह वहाँ से आकर काशी में ही एक कमरा लेकर रहने लगा। एक दिन एक मित्र के साथ वह स्कूटर से शास्त्री जी से मिलने के लिए भैरवघाटी निकल पड़ा। आश्रम पहुँचने पर पता चला कि शास्त्री जी दक्षिणेश्वर गए हैं और दो-तीन दिनों बाद लौटेंगे। एक साधक-शिष्य ने काशी में ही लहुराबीर पर शास्त्री जी से मिल लेने का सुझाव दिया। वे बुधवार, शुक्रवार व रविवार को लहुराबीर वाले अपने उप-निवास पर जाते थे और वहाँ सुबह ग्यारह बजे से सायं लगभग तीन बजे तक स्थानीय जिज्ञासु साधकों व जरूरतमन्दों से मिलते थे।

अगले दिन बुधवार को अनिमेष दोपहर लगभग बारह बजे लहुराबीर-स्थित शास्त्री जी के आवास पर पहुँच गया। अनुमति लेकर वह अन्दर गया तो देखा कि खसखसी दाढ़ी रखे लगभग 70 वर्ष की उम्र वाले एक बुजुर्ग धोती-कुर्ता पहने बगैर टीका-चन्दन लगाये एक चौकी पर लेटे हैं। यही शास्त्री जी थे।

अनिमेष ने उन्हें प्रणाम निवेदित किया और अपना संक्षिप्त-सा परिचय देते हुए उसने बताया कि उसका नाम अनिमेष है और वह डॉ. वार्ष्णेय का साला है। इतना सुनकर शास्त्री जी तखत पर बिछे आसन पर ही उठकर बैठ गये। बोले-'वह तो मेरा पुत्रवत् है। आप प्रयाग से आये हो?'

'नहीं, मैं यहीं काशी से आया हूँ।'

'मैं आपके किस काम आ सकता हूँ?'

शास्त्री जी के स्वर में कठोर जीवनानुभव और दृढ़ता की प्रखरता झलक उठी।

'मैं बहुत परेशान हूँ। लगातार पीसीएस का साक्षात्कार दे रहा हूँ, परन्तु चयन नहीं हो पा रहा है।' अनिमेष ने अपनी समस्या

बतायी।

शास्त्री जी ने अगले शुक्रवार को सुबह दस बजे मिलने को कहा।

अनिमेष शास्त्री जी को प्रणाम करके चला गया और पुन: शुक्रवार को पूर्व निर्दिष्ट समय पर उनके आवास पर पहुँच गया।

शास्त्री जी ने अनिमेष को चाय पिलायी और मुखातिब हुए–'यदि पीसीएस का चार बार साक्षात्कार दे चुके हो तो तुम्हारा सामान्य–ज्ञान अच्छा होगा। तुम बताओ कि इस संसार में ऐसा कौन–सा मनुष्य है, जो परेशान नहीं है?'

इस प्रश्न ने अनिमेष के अस्थिर हृदय को विस्मित और स्पंदित कर दिया। इस प्रकार के कई प्रश्न उन्होंने अनिमेष से किए। 'यह मुत्यु–लोक है, इसे भोग–लोक भी कहा जाता है। जो जन्मा है, एक दिन मरेगा भी। जब तक जीवन है, अच्छे और बुरे दोनों भोग भोगने होंगे। यह तय है कि दिन है तो रात होगी और रात के बाद दिन खिलेगा ही। जीवन में उतार–चढ़ाव आते–जाते रहते हैं। बस धैर्य और विश्वास बनाये रखना चाहिये। समय अनुकूल जरूर होगा।' ऐसी अनेक बातें शास्त्री जी ने उससे कहीं।

थोड़ी देर रुककर शास्त्री जी ने अनिमेष से पूछा–'ईश्वर में विश्वास है या नहीं। विश्वास न हो तब भी बेहिचक बताना।' इतना कहकर शास्त्री जी ने अपनी पैनी नजर उसकी आँखों में गड़ा दी।

'विश्वास है।'

शास्त्री जी ने कागज पर एक मन्त्र लिखकर दिया और साथ ही उसका उच्चारण भी करवाया। बोले–'जब भी समय मिले इस मन्त्र का प्रतिदिन पन्द्रह–बीस मिनट मानसिक जाप कर लेना। एक सप्ताह के अन्दर कोई स्वप्न आये तो आकर जरूर बताना। जाओ। अपनी पढ़ाई पर ध्यान लगाओ और समय मिला करे तो यहाँ भी आते–जाते रहना, मिलते–जुलते रहना।'

अनिमेष आस्तिक था। दूसरे दिन से ही उसने मन्त्र जप प्रारम्भ कर दिया। जप प्रारम्भ करने के तीसरे दिन ही सुबह लगभग चार बजे उसने एक अपूर्व स्वप्न देखा। सुबह लगभग साढ़े दस बजे वह शास्त्री जी के आवास पर पहुँच गया। स्वप्न उन्हें बता देने की मन में हलचल जो थी, इस बार उसने अन्य किसी को अपने साथ ले न जाने की सोची।

अनिमेष ने पहली बार शास्त्री जी का चरण–स्पर्श किया। शास्त्री जी ने उसे बैठाया। 'बैठो, बताओ।' अनिमेष ने स्वप्न का विवरण बताया।

शास्त्री जी ने एक हाथ से अनिमेष का सिर झुकाकर अपनी नर्म हथेलियों से उसकी पीठ पर ठोक लगायी और कहा–'तुम बहुत भाग्यशाली हो, बेटा। तुम इसी मन्त्र का जप करते रहो, माई हर असम्भव को सम्भव कर देने की क्षमता रखती है। अगले वर्ष मिठाई लेकर आना।' अनिमेष अवाक् हो गया। अनिमेष का चयन अगले वर्ष पीसीएस में हो गया। वह शास्त्री जी के पास मिठाई लेकर गया। धीर–धीरे वह शास्त्री जी का ही होता चला गया। उनके पास सन्त–महात्मा, साहित्यकार, राजनेता, अधिकारी, अमीर–गरीब, परेशान–हाल सब तरह के लोग आते–जाते थे। उनके पास से कभी कोई निराश नहीं लौटता था। वे आडम्बर और दिखावे से कोसों दूर रहते थे।

संपर्क में आने पर अनिमेष शास्त्री जी के पास आने–जाने लगा। वह यह अनुभव करता कि उस महामानव की दृष्टि में छोटे–बड़े सब एक समान थे। जिसका भी समर्पण और विश्वास उन पर होता, उस पर वे बराबर अनुकम्पा बनाये रखते थे।

अनिमेष भावुक–हृदय था। वह सोचता कि यदि छात्रावास छूटने के पूर्व ही उसका चयन नौकरी में हो गया होता तो शास्त्री जी उसे न मिले होते। वह अच्छी नौकरी पाकर एक सुखी भौतिक जीवन तो जी लेता, परन्तु जीवन के असली उद्देश्य और रहस्यों के अदृश्य संसार को महसूस भी न कर पाता। एक विरागी के पास ज्ञान की जो सम्पदा होती है, उसे पा लेना कितना दुष्कर होता है!

सफलता–असफलता की यवनिका के पीछे भी कोई न कोई रहस्य छुपा ही होता है।

डी–1205/8, इन्दिरा नगर,
लखनऊ–226016 (उ.प्र.)
मो.- 9838536651

नेत्रोन्मीलन

– तनूजा चौधरी

शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्.।
रचनाएँ – अट्ठारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय सम्मान।

सरस्वती ने सूखे कण्डे तोड़कर चूल्हे में डाले तो गीली लकड़ियाँ भभक कर जल उठीं। बड़ी कढ़ाई चढ़ा रखी है क्योंकि दो-तीन किलो आटे की पूड़ियाँ तलनी थीं। जिठानी लता पूड़ी बेल कर कोपर में रख रही थीं। दोनों जल्दी-जल्दी खाना बना रहीं थीं। बड़ी मुश्किल से सरस्वती के पति निरंजन ने नर्मदा जी के मेले में ले जाने की हामी भरी थी।

लता ने देखा कि अभी कढ़ाई गर्म नहीं हुई है तो वह पूड़ी बेलना छोड़ कर रसोई से बाहर आँगन में निकल गयी।

'ए भईया पटेल इते आओ। तनक छपरा पे से वो बड़ो वारो कुम्हड़ा तो तोड़ो, बनाने है'। उसने हरवाहे को आवाज लगाई।

'हाँ जिज्जी जे ठीक हूहै। पूरी के संग कुम्हड़ा बना लेते हैं। रात तक की फुर्सत हो जाहे'-सरस्वती ने खुश हो कर कहा।

निरंजन कांत मिश्रा एक समय गाँव के सम्पन्न किसानों में गिने जाते थे। पर दो बार की असमय बरसात और बाढ़ ने आर्थिक नाव डुबो दी थी। बड़े भाई सुरंजन कांत शहर में बाबू हैं। पर क्लर्क की नौकरी से जीवन भर असंतुष्ट रहे। गाँव शहर की सीमा पर था। अत: पत्नी लता और दोनों बेटियों को गाँव में ही रखते थे। बड़ी बेटी दसवीं और छोटी बेटी आठवीं में गाँव के ही सरकारी स्कूल में पढ़ती थीं। छोटा भाई निरंजन कांत अकेले ही पूरी खेती सँभालता था। निरंजन का बेटा सातवीं और बेटी पाँचवीं में पढ़ते थे। एक ही स्कूल में चारो भाई बहन एक साथ पढ़ते थे। सुरंजन की बड़ी बेटी तीनों भाई-बहनों में तालमेल बिठाती रहती। कुल मिला कर जीवन अच्छा चल रहा था पर क्लेश का कारण सदा वृद्धा दादी रहतीं जो अकारण क्रोध कर परिवार में अशांति फैलाती थीं। दोनों सुगढ़ बहुओं को परेशान करने का एक भी मौका खाली जाने नहीं देती थीं।

बड़ा बेटा शाम को घर लौटता तो कराहने लगतीं। अनंत पीड़ा का पाखण्ड उनसे बेहतर कोई नहीं कर सकता था। सुरंजन कांत-दिन भर ऑफिस से थक कर आते पर माँ एक नयी कहानी के साथ तैयार मिलती। ऐसा कोई भी दिन नहीं होता जब उन्हें पत्नी के दोष न सुनने पड़ते। बड़ी बहू का सबसे बड़ा दोष उसका दुर्बल मायका था। दिन भर पड़ोस की औरतों के घर घूम कर थकी माँ बेटे को देखते ही घुटना पकड़ कर ओसारे में बैठ जातीं-'बड़ो पिरा रौ है जो घुटना पर मजाल है जो जे बहुई तन्नक तेल मल दें। इत्तो काम तो हम अकेले निबटा देते पर ये तो दोनों मूड़ जोड़े दिन भर बतियात रहत हैं।'

बढ़ी बहू कमजोर मायके के कारण त्यौहारों पर सास की इच्छापूर्ति नहीं कर पाती थी। छोटी का मायका कुछ ठीक था पर माँ उससे भी कुछ खास सन्तुष्ट नहीं थी। माँ का स्वभाव जानने के कारण बेटे माँ के सामने अधिक देर नहीं ठहरते थे। रात में दोनों भाई साथ में खाना खाने बैठते थे तो माँ अपनी प्रौढ़ा बेटी के लिए कुछ न कुछ सामान मँगवाने की बात रख देतीं। बीस वर्ष पहले ब्याही बेटियों के लिए नित नए उपहारों को खरीदवाती पर बहुओं की घिसी साड़ियाँ उन्हें कभी न दिखतीं।

बाढ़ के बाद बीज तक के पैसे नहीं थे। निरंजन ने पत्नी की कर्धन ब्याज पर रख कर खाद बीज की व्यवस्था की थी। विवाह के बाद से ही पत्नी को कोई सुख नहीं दे पाने की कसक

तब और गहरा गई जब उसका गहना रहन पर रख कर खाद बीज लाए। दोनों बहुएँ सरस्वती और लता रंग उड़ी साड़ियों में खुश थीं घर की हालत जानने के कारण अपने लिए उनके मन में कोई आकांक्षा नहीं थी पर निरंजन की पत्नी सरस्वती बड़ी होती बेटी के लिए अवश्य कल्पना करती रहती थी। जिठानी लता से कहती कि अगर उसकी शादी में गहने न बनवा पाई तो अपनी कर्धन तुड़वाकर कुछ बनवाएगी पर देवयोग से कर्धन भी ब्याज में रख दी गई।

पड़ोस में रहने वाली ताई सास का उन दोनों बहुओं पर विशेष प्रेम था। दोनों भी बड़ी अम्मा के घर का काम हँसी खुशी समेट देती थीं। बड़ी अम्मा नर्मदा मेले में जाने वाली थी तो दोनों बहुओं को साथ ले जाने की इच्छा जाहिर की। पर अपनी करकश देवरानी से डरती भी थीं। पर जाने की अनुमति मिल गई। अब क्या कहना था सरस्वती और लता के मन में खुशखबरी की लहर दौड़ गई।

पूड़ी-कुम्हड़ा बन गया था। सरस्वती और लता अपने बच्चों समेत ट्रैक्टर की ट्राली पर चढ़ गईं। बड़ी अम्मा के साथ जाती बहुओं को अम्मा रोक तो नहीं पाई पर छोटे बेटे निरंजन से कहा-'काय निरंजन सबहै घुमावे लै जा रये हो तो पैसा धेला तो है। अपनी जिज्जी के लाने चाँदी की पायल मेले में देख लेना'।

पैसा कहाँ है अम्मा? वो बड़ी अम्मा के साधन हैं तो जा रहे हैं- निरंजन बोला।

'काय करधनी के पूरे पैसे उड़ा लये?'-अम्मा ने कोंचा।

'जेकी करधनी ब्याज में रखी है वो तो फटी साड़ी में घूम रई है अम्मा। तुम खुस कबी न रहना'-निरंजन ने हताश स्वर में कहा। कहा सुनी को खत्म करने के लिए निरंजन ने ट्रैक्टर आगे बढ़ा दिया।

मेला में रौनक छायी थी। लोग नर्मदा जी के स्नान कर के दुकानों में सामान खरीद रहे थे। बड़ी अम्मा तो अपने गुरु जी के पण्डाल में चली गयीं, सरस्वती और लता अपने बच्चों को नहलाने की तैयारी में थी। पाण्डे घाट पर पूजा करवाने के लिए चैकी सजा चुके थे। निरंजन चटपट नहा कर सीढ़ियों पर बैठ गया।

भाभी फुरसत हो कर उतै पेड़ के नीचे आ जइयो-निरंजन ने लता से कहा।

बच्चे मेले में घूमने के लिए उतावले हो रहे थे। पर भीड़ के कारण माताओं ने बच्चों पर अनुशासन की लगाम कसी थी। तेज रिकार्डिंग के कारण आपस में बात भी करना कठिन था।

पैसा होते तो कछु अपन भी खरीदते-सरस्वती ने नदी में उतरते हुए जिठानी लता से कहा। हाँ री का करैं। वो तो बड़ी अम्मा ले आईं नहीं तो बंद रहते जेल में-लता ने ठंडी आह भरी।

'देखो कब छुड़ा पात हैं करधनी रेहन से'-सरस्वती ने बुझे स्वर में कहा। नया तो कुछ बन नहीं पाता था। शादी के जेवर भी धीर-धीरे बिक रहे थे। स्त्री के लिए उसका जेवर छिन जाना अपार कष्ट कारक होता है। बाढ़ की आपदा ने घर-घर में हताशा फैला दी थी। निरंजन ने भी सब तरफ हाथ-पाँव मार के देख लिया, जब कहीं से भी बीज-खाद का इंतजाम नहीं हो पाया तो हार कर पत्नी के जेवर ब्याज पर रखना पड़े। जिस दिन गिरवी रख कर पैसे घर आए तो दुखी निरंजन ग्लानि के मारे बिना खाना खाए सो गए।

पत्नी को नई साड़ी मायके जाते वक्त मिलती और बच्चों को नए कपड़ों के नाम पर स्कूल ड्रेस मिलती। हर समय खींच-तान ही मची रहती।

नहा कर सब मंड़दर में गए। वहाँ से लौटकर निरंजन ने पेड़ के नीचे चादर बिछाई। बच्चे भूखे हो गए थे। पूरी के डिब्बे खुल गए। गुड़ बत्तियों की खुशबू से आकृष्ठ होकर निरंजन दोना भर खोआ की जलेबी और गुड़ की बत्तियाँ ले आये होकर सभी प्रसन्न खाने लगे।

काय, कैसो है खाना-निरंजन ने बड़ी भतीजी बिट्टी को छेड़ा।

उम्दा चाचा, मजा आ गओ, फिर अइहै इते। कित्तो बढ़ियाँ मेला भरो है? पूरियाँ तो बड़ी अच्छी बनी हैं बिल्कुल नरम-नरम। निरंजन ने भाभी लता को खुश करने के लिए कहा-हओ भईया, वो हँस दी-रोज जैसी तो है, जा कहो कि पिकनिक वाले माहौल में जम रही हैं। भला हो बड़ी अम्मा का जो हम औरन को ले आईं। नहीं तो हम कहाँ आ पाते। लता ने कहा। हाँ भाभी जा तो सही कही-निरंजन ने लंबी साँस भरी। दादा नौकरी के फंदा में फँसे रहत हैं और हम जा डूबत खेती में। बुरो तो हमें भी लगत है पर का करें। निरंजन के स्वर में हताशा थी।

चाचा खाना खा के मेले में चलना। अच्छी मोती की माला बिक रही है। सुरंजन कांत की बेटी ने कहा। चलो चलत हैं वहीं पर मोती की माला तो टूट जैहै, बड़ी हो जाए तो सोने की चैन ले दैहें।

नई चाचा जई खरीद दो-बेटी ने चिरौरी की। अच्छा पहले पूरियें तो खा लो फिर चलत हैं। भैया एक स्टील की किसनी भी लै दो। घर में नई है। लता ने देवर से कहा।

हऔ भाभी लेत हैं। पैसा तो थोड़े ही हैं पहले अपने नंदबाई के लाने पायल ले लौ। नई तो अम्मा जियन न देहैं-निरंजन ने अपनी खस्ता हालत बताई।

'बस अम्मा और जिज्जी के बीच लुढ़कत रहियो दोनों भाई। लड़कन के मुँह पर ताला लगा दो। हम औरें तो फटी धोती पहनत हैं।' पर तुम औरन के पैसों पे अम्मा और जिज्जी को बस है। लागत है जई नर्मदा जी में कूद के जान दे दूँ। - और खाना छोड़ के सरस्वती रोने लगी।

पत्नी के दुख से चिंतित होकर भी निरंजन घर की शांति के लिए माँ और बहन से कुछ नहीं कहते थे। स्त्री की उपेक्षा सबसे पहले उसके घर से शुरू होती है। अगर पिता और पति उसे अपेक्षित सम्मान दें तो समाज में आधे से अधिक समस्याएँ जन्म ही नहीं लेंगी। परिवार में पुरुष की भूमिका एक अच्छे समन्वयक की होती है। माँ, बहू, पत्नी, और पुत्री सब की एक जगह है। और इस अपेक्षा को न समझ कर ही बहुधा पुरुषों द्वारा ही अकारण दोष का जन्म होता है पर दण्ड स्त्री भुगतती है।

जिठानी लता भी लम्बे समय से सास का दुर्व्यवहार झेल रही थी पर दुर्बल मायका और सुरंजन की कच्ची नौकरी के कारण किसी का सहारा उसे नहीं मिल सकता था। दो बेटियों की जननी होने के कारण उसका अपराध सास की दृष्टि में अकाट्य था। वह अपना दु:ख कहने का साहस नहीं जुटा पाती थी।

बच्चों को लगा कि अम्मा जी-दादी और स्वार्थी बुआ के प्रसंग पर अच्छा भला माहौल बिगड़ गया है। रहने दो चाचा, माला अगली बार ले लेंगे-बिट्टी ने कहा।

नहीं बिटिया वा तो अबै लेहैं-दुखी निरंजन ने कहा। सुरंजन चुपचाप से अपनी दोनों बेटियों के साथ पूरी खाते हुए सब सुन रहे थे। दोनों स्त्रियों की भूख मर चुकी थी। मेले का उत्साह कपूर सा औचक ही उड़ गया था।

'तन्नक सा खा ले तो खाना समेंटें।' जिठानी लता ने देवरानी सरस्वती को हौसला देने के स्वर में कहा।

हाँ जिज्जी खाहैं तो बिना खाए मरने नहीं है। और मेला भी घूमहैं। पर अब एक दिन सबके बीच में तय करने है कि हम औरतन को अपने सामान पे भी हक है या नहीं? कौन तरह से हमें भी जीवन के रास्ता मिल सकत हैं। वह कौन दिन हूहै जब हमरे पति भी हम औरतन के दु:ख समझिहैं? हमें भी खुशी चाहिए, सुख चाहिए। दो जून खाना दें के ढोरन घई हाँकना बन्द होना चाहिए।

सरस्वती के स्वर में स्त्री का तेज उदीप्त हो रहा था वह स्त्री द्वारा स्त्री पर किये जाने वाले शोषण से तिलमिला गई थी। अब वो परिवर्तन के प्रति संकल्पबद्ध हो गयी थी। मानो वर्षों से कुचली जाती स्त्री उठ खड़ी हुई हो।

2, ए.पी. कॉलोनी पचपेड़ी,
जबलपुर-480001 (म.प्र.)
मो.- 9425387990

फर्ज का कर्ज

– गिरिजेश सक्सेना

जन्म – 27 मार्च 1947।
शिक्षा – बी.एस.सी., एम.बी.बी.एस.।
रचनाएँ – छः पुस्तकें प्रकाशित, कतिपय साझा संकलन।
सम्मान – स्थानीय, प्रादेशिक एवं अखिल भारतीय सम्मान।

निधि आज बहुत खुश थी, उसकी नितीश के साथ बात पक्की हो गई थी। कोई पाँच बरस से नितीश उसकी पसंद था पर ऊँट किसी हाल में सीधी करवट नहीं बैठ रहा था। नितीश के माँ-बाप राजी न थे और नितीश उन्हें नाराज भी नहीं करना चाहता था।

एक कार दुर्घटना में अचानक निधि की माँ का साथ छूट गया। निधि हरदम उदास रहने लगी थी, अब घर में सिर्फ दो ही प्राणी रह गए थे, निधि और उसके पापा। महीनों बीत गए, घर में ठीक से खाना भी न बना था। कम्मो (महाराजिन) बेटी से पूछती तो जवाब मिलता 'पापा से पूछो', राज से पूछती तो जवाब मिलता 'निधि से पूछो।' दोनों के बीच झूलती कम्मो को जो भाता वही कुछ बना जाती। कभी जिद कर, बैठा कर खिलाने की कोशिश करती पर मरे मन क्या खाते, दो-चार कौर और थाली हटा कर चले जाते।

गाहे-बगाहे दोस्त, रिश्तेदार आते फिर वही राग 'वनिता ऐसी थी, वनिता वैसी थी, वनिता होती तो . . .' आदि आदि। कभी-कभार किसी बात पर हँसी बिखर जाती तो बिखर जाती पर आम तौर पर किसी के आने से माहौल और भीगा-भीगा हो जाता।

उस दिन अचानक रमा-महेश, नितीश के माता-पिता आ गए, स्पष्ट रूप से तो वे शोक व्यक्त के लिए ही आये थे पर थोड़ी देर बाद उन्होंने निधि और नितीश के रिश्ते की बात छेड़ दी। राज की आँख से आँसू छलक आए-'महेश जी! काश यही बात आपने निधि की माँ के सामने कही होती, वे यही बात सुनने का इंतजार करते-करते ही चली गईं।

राज जी! अपने अफसोस को अल्फाज नहीं दे सकते हम लोग। जाने वाले की इच्छा पूरी करना भी उसे दी गई श्रद्धांजलि ही तो है। अगर आप इजाजत दें तो हम ये रस्म जल्दी पूरी करना चाहेंगे।

बच्चों से भी तो बात करनी होगी। निधि तो अभी अपनी माँ के सदमे से बाहर नहीं है, परिवार में और भी हैं; मेरे सगे, बड़े, बुजुर्ग।

जी जरूर, अभी हम चलते हैं, एक सप्ताह शहर में ही हैं। आप सोच कर निर्णय लें, बताएँ, मेरा फोन नम्बर सेव कर लीजिए। वैसे नितीश से मैंने बात कर ली है, उसकी हाँ लेकर ही आया हूँ। आप सोच लें, बात कर लें और बताएँ अब मैं आपसे इजाजत चाहूँगा, और वे दोनों उठ खड़े हुए।

निधि को तो सारी पृष्ठभूमि पता थी। घर में खामोशी थी। शाम को पिता-पुत्री खाने की मेज़ पर आमने-सामने थे। कम्मो ने दोनों की पसंद का सालन बनाया था, गर्म सालन से भाप उठ रही थी, और आमने-सामने दिलों से भी।

पापा! आप क्या सोच रहे हैं?

जो तुम सोच रही हो।

जैसे?

तुम्हारे जाने के बाद मैं क्या करूँगा?

नहीं पापा मैं कहीं नहीं जा रही आप को छोड़ कर, और जाना भी कहाँ है? जहाँ आप वहाँ मैं।

नहीं बेटा! अपने गम से परे भी एक दुनिया है। जाने वाले के साथ दुनिया रुक नहीं जाती दस्तूर-बदस्तूर रहते हैं। आज नितीश के मम्मी-पापा आये थे, मुझे जल्दी जवाब देना है। मैं भी सोचता हूँ शुभ शीघ्रम।

जानती हूँ पापा पर? मैं सोचती हूँ नितीश से बात करूँगी, उसको ही यहाँ ले आऊँगी।

नहीं बेटा ऐसा नहीं होता, उसके भी माँ-बाप हैं, उनका घर है , उनके सपने हैं। तुम्हारा अपना घर-संसार होगा, सपने होंगे, उड़ाने होंगी।

पापा पुरानी बात पुरानी कहानी, अब जमाना बदल गया है। अगर मैं वहाँ जा सकती हूँ तो वह भी तो यहाँ आ सकता है।

ठीक है बेटा पर अपनी सभ्यता, अपने संस्कार अब भी वह ही है। बातें होते-होते शाम ढल गई, अच्छा बेटा अब तुम सो जाओ। सुबह बात करेंगे। निधि जाने को तो चली गई पर उसे नींद नहीं आ रही थी। पापा अकेले हो जायेंगे। यही सवाल उसकी नींद को हथोड़े मार रहा था। वह उठी पापा के कमरे तक गई, दो तीन बार, पर हर बार उसने कमरे की धीमी रोशनी में पापा को दीवार पर लगी माँ की तस्वीर की ओर टकटकी लगाये पलँग की बैक रेस्ट से टिके ही देखा। फिर रात में कब उसे नींद आयी पता नहीं।

सुबह उसकी नींद एक निश्चय के साथ खुली-नहीं कुछ भी हो वह पापा को ऐसे अकेले छोड़ कर नहीं जायेगी। उसने फोन पर नितीश को सारी बात बतायी और कहा 'मैं अभी इस शादी के लिए तैयार नहीं हूँ।'

निधि! समझो यह तो होना ही है, आज नहीं तो कल। शादी मुझसे नहीं तो किसी और से, पर होगा तो तब भी यही, सोचो। नितीश का फोन रोज ही आता, वह भी आता पर बात जहाँ की तहाँ।

उस दिन भी निधि और नितीश साथ बैठे अवश्य थे पर कहीं कोई प्यार उमंग या ऐसा कोई भाव नहीं झलक रहा था, विपरीत चिंता, तनाव की झलक अवश्य थी। वे जब भी मिलते वही वही सवाल उनके मध्य होते।
तभी दृश्य पटल पर मधु प्रकट हुई। मधु निधि की ममेरी बहन थी। मामा का उसके बचपन में ही निधन हो गया था, ग्रेज्युएशन के बाद मामी ने उसकी शादी कर दी थी अब वह यू एस में है, आई हुई थी तो मिलने आ गई। इत्तफाक ही था नितीश भी बैठा था। उसने आते ही चिकोटी काटी 'हाय यू हनी टू (2), हाउ डू यू डू?

'आओ मधु बस यूँ ही कुछ सोच रहे थे' निधि ने कहा।

क्या? मनी हून करने, आई मीन, हनी मून के लिए कहाँ जाना है? बस यही सोच रही होगी और क्या?

'ओह नो, वोह क्या सोचना, तुम और रमन तो साल में दो बार हनीमून के लिए जाते हो, यू आर दी बेस्ट गाइड।'

'हाँ तो कब कहाँ कैसा बनाना है प्रोग्राम? बोलो तो।'

'यार समस्या वह नहीं है, समस्या मेरे जाने के बाद पापा का क्या होगा? मम्मी के जाने के बाद से वे बहुत अकेले हो गए हैं, मेरे जाने के बाद क्या होगा? शायद टूट ही जायेंगे। बस वही सोच सोच कर हम परेशान हैं, समझ नहीं आ रहा क्या करें?

चहकती मधु भी अब गंभीर थी। हाँ यार यही प्रश्न अब से कुछ साल पहले भी था जब मेरे पापा चले गए थे। चलो मैं छोटी थी मेरी पढ़ाई तक माँ के साथ थी पर हर दिन, दिन तो माँ अपने स्कूल में काम में या मेरे आगे पीछे, मेरे स्कूल के काम होम वर्क वगैरह में व्यस्त रहती पर हर शाम मम्मी की उदासी अकेलापन, ऊपर से लोगों के ताने। दादी-दादा की जवाबदारी, घर-बाहर के काम, इधर-उधर जाना, ऊपर से लोगों की उठती अँगुलियाँ। बेतहाशा बेताब बद्तमीज निगाहें, सबका सामना उन्होंने अकेले रह कर सबको सँभाला। पढ़ाई के बाद मेरी शादी की, दादी-दादा भी गए। अब अकेली माँ उतना बड़ा घर, इतनी बड़ी दुनिया और माँ अब भी अकेली की अकेली। यह

सब काटता कचोटता तो मुझे भी है। अब किससे क्या कहें, मेरा मन भी स्वार्थी सा लगता है। सब उड़ गए खाली घोंसला, उसकी आँखें झरझर बह रही थीं। वातावरण बोझिल था, तीनों की गंगा यमुना सुबकियों के संगम से भाव तीर्थ का निर्माण हो रहा था। एकाएक नितीश के होंठों पर मुस्कान आई 'सुनो, मेरे पास एक समाधान है अगर मानो तो, पर है कठिन, असाध्य, बताऊँ?

मधु निधि दोनों अवाक उसे देखने लगीं। वह बोला 'तुम दोनों की समस्या एक ही है पर पहलू अलग-अलग है, एक की मम्मी है तो दूसरी के पापा।

'हाँ तो?' दोनों की प्रश्नवाचक दृष्टि उस पर ठहर गई।

'तुम्हारी मम्मी ने तुम्हारे पापा के जाने के बाद दोनों का फर्ज अदा किया। किया?'

'हाँ किया।'

'और तुम्हारे पापा ने सारी जिंदगी तुम्हारे और तुम्हारी मम्मी के लिए पूरे फर्ज अदा किये। किये?'

'हाँ किये।'

'तो तुम दोनों ही पर फर्ज का कर्ज बकाया है। है?'

'हाँ है पर करें क्या?'

'तुम दोनों को ही मुहीम चलाना है। तुम मम्मी से तुम पापा से बात करो, सगे रिश्तेदारों से बात करो। अपनी शादी से पहले उनकी कोर्ट मेरिज अरेन्ज करो, तुम दोनों की चिंता समाप्त और उन्हें भी जीवन की शाम के सहयात्री मिल जायेंगे, कहो कैसी रही।'

'फेंटास्टिक आइडिया'! 'चारों के मुँह से एक साथ निकला- हम चल रहे हैं वो चल रहे हैं नए जिंदगी के गुल खिल रहे हैं।

जी -1, इन्द्रप्रस्थ, एयरपोर्ट रोड,
भोपाल-462030 (म.प्र.)
मो. - 9425006515

कविता पाठ, महिला शक्ति प्रकोष्ठ

आषाढ़ का दिन

– विजय 'शील'

जन्म – 28 जनवरी 1940।
जन्मस्थान – जोधपुर (राज)।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – छः पुस्तकें प्रकाशित।

अम्बर में–
धीरे–धीरे बादल तैर रहे हैं
डूबते हुए सूर्य की–
सुनहरी किरणें
धरती से उठकर
पेड़ों के–
पातों पर चढ़
रंगीन जलदों को मोहक करते हुए
पश्चिम की गीली पहाड़ी को–
सिन्दूरी चुनरिया पहनाते हुए
जग का मोह छोड़
प्रियतम पास–
क्षितिज पार जा रही हैं।

पक्षियों का कलरव
सुरभित हवाओं पर–
कम्पित हो
अपने–अपने घोंसलों में–
विलीन हो रहा है।
नित्य का श्यामल–
अम्बर–
आज गदरा उठा है।

उमड़–घुमड़ की पहने पायल
तेज़– वर्क (बिजली) की तड़ित लय पर
छमक–छमक कर
चूम रहे–
धरती के कण–कण
फैल गई–
मिट्टी की सुगन्धि–
चौरस
जलायमान हो उठा
आषाढ़ का क्षण–क्षण।

बोझ सपनों का

रात के साये में–
छोटे–छोटे मकान
ताबूतों की तरह
बिखरे पड़े हैं
जिनमें शहर के लोग
'कोरोना' के डर से सोये पड़े हैं।

ऐसे में–
एक धड़कता दिल उदास हो
अपने सपनों का
बोझ लिये विचर रहा है
जीवन के चौथे पहर में।

न पूरे हुए सँजोये
ख्वाबों के अरमान
समय के खरोंचों की–
पीड़ा दिल पर सहते हुए
फिर रहा है
उन सपनों के फूलों
का पिटारा लिये हुए
जिन्हें समय की दौड़ में
चुन–चुन कर, अंतराल में सजाया था।

मोहनी–विला, 187, कल्पना नगर,
पिपलानी, रायसेन रोड,
भोपाल–462022 (म.प्र.)
मो.–9893429439

दिनचर्या

- विनीता वर्मा

जन्म – 3 जुलाई 1957।
जन्मस्थान – जबलपुर (म. प्र.)।
शिक्षा – एम.ए., एल.एल.बी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

दिनचर्या

जी चलाती हैं घट्टी
भोर में।
ले के बगदा
जाती हैं थान।
करती हैं गोबर-पानी।

बनाती हैं दाल-बाटी
जाती हैं खेत
करती हैं निराई
एड़ियों तक धँसकर।

संजा ढलते मर्द फूँकते हैं बीड़ी
खाते हैं गुटखा-पान
चुभलाते हैं जरदा-सुपाड़ी
गपियाते हैं इकट्ठा होकर
बौराहन तब भी अबेरती हैं काम
खाना पकाती, खिलाती, खाती
मलती हैं बरतन।

देर रात
चोर पाँव चल
पड़ जाती हैं
ढीली खाट पर।

रस्सा और आँखें

जादू का पिटारा लिये
आता है बाजीगर।
बजाता है डुगडुगी
फेंकता है जुमले
जुटाता है मजमा
बजवाता है तालियाँ।
साँस रोके से खड़े हैं
सारे-के-सारे लोग।
देखते-ही-देखते बाज़ीगर
हवा में सीधा खड़ा कर देता है।
रस्सा।

रस्सा ताकती हैं।
हमारी फटी-फटी, हैरत भरी आँखें
जो खड़ा है बाज़ीगर की चमत्कारी शक्ति से
ठीक वैसे ही जैसे
खेत-खदानें, दफ़्तर-कारखाने, बहुमंजिला इमारतें
खड़ी हैं हमारी जमा मेहनत से।
और हम हैं कि
उन्हें भी ताक रहे हैं
फटी-फटी, हैरत भरी आँखों से।

ई-6/86, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016 (म.प्र.)

आदि सूत्रधार

- हर्षदान हर्ष

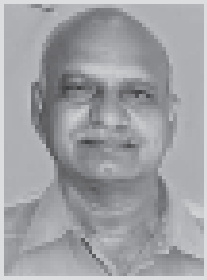

जन्म - 13 जून 1952।
शिक्षा - एम.एससी।
रचनाएँ - विभिन्न विधाओं की 75 कृतियाँ प्रकाशित।
सम्मान - राजस्थान साहित्य अकादमी सम्मान सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

आदि सूत्रधार

मोहनजोदड़ो के
खण्डहरों से
कल्पनाओं के डैने फैलाकर
मैंने मिस्त्र में
पिरामिडों के अक्स नापे।
एच.जी. वेल्स की
टाईम मशीन पर सवार होकर
मैं पहुँच गया था
हँसते-बसते पुरातन मिस्त्र में
और देख रहा था
तात्कालिक पिरामिडों का
भव्य यथार्थ।
मैंने देखा मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, मिस्त्र को
रचाते बसाते लोग
हू-ब-हू हम जैसे थे
और उनके श्रमकण
हमारी पेशानी पर उभरे
पसीने जैसे ही।
मानव सभ्यता के
वे आदि सूत्रधार
अपने सपनों की
विकास यात्रा में टुकुर-टुकुर देख रहे थे
मुझ को
उत्सुक आँखों।

घीसू का छोरा

सिरस के पेड़ की तरह बँधता
घीसू का छोरा गीगला,
घंटी अर बाटी काँख में दबाए
सुबह-सुबह निकल जाता है।
अपने घर-गुवाड़े से
चरनी की ओर
भेड़ों को टर्र-टर्र टेरता।
जूतियाँ हुईं पूरी नाप
चेहरे पर फूटने लगी स्याही
दादी हिवड़े हुलस कि
पोता जीते जी दिखाएगा मुँह परपोते का
निकलेगी उसकी बैकुण्ठी
गीगला फाड़ेगा उसकी कोथली गंगा में
वा सीधी जाएगी स्वर्ग।
भेड़ों लारै डोलता गीगला
गाँव की चरनी में
उड़ती चीलगाड़ी देख उछाह में
मरु धोरों उन्मुक्त लुढ़कता।
उसे नहीं मालूम
वह कितनी शताब्दी लुढ़का?

ए-306, महेश नगर,
जयपुर - 302015 (राज.)
मो. - 9785807115

मौसम काइयाँ

– अशोक 'आनन'

जन्म – 28 अप्रैल 1955।
शिक्षा – एम.ए., एलएल.बी. बी.टी.।
रचनाएँ – एक पुस्तक प्रकाशित।
सम्मान – प्रादेशिक सम्मानों से सम्मानित।

मौसम काइयाँ

सूरज–
रोज पेशी पर आता।
शाम हुए–
फ़िर घर लौट जाता।

बाँध गमछे में–
रोटी लाता।
चटनी संग वह–
उनको खाता।

फिर धूप
गवाह से बतियाता।

वर्षों हो गए
आते–आते।
साथ गवाह को–
लाते–लाते।

आस फैसले की –
वह लगाता।

वकील उसका–
मौसम काइयाँ। खोह भर जो–
ले चुका रुपय्या।

उसका फिर भी –
पेट न भरता।

न्याय नहीं–
नई तारीख मिली।
समझ में आई
उसे यह पहेली।

पहेली वह यह
बुझा न पाता।

दोपहरी का ढाबा

खामोशी ओढ़े–
शहर पड़ा।

कहीं कोई न
शोर–शराबा।
सूना
दोपहरी का ढाबा।

सुबह से –
सिर पर पारा चढ़ा।

घर भी
घर के भीतर दुबके।
लू से –
दिन भी रहता बचके।

सूरज भी –
धूप ताने खड़ा।

पंखे– फाँसी पर हैं लटके।
बिजली
कूलर को दे झटके।

बिन बिजली–
ए.सी. भी लगे चिढ़ा।

संदों से
घुस आता चिलका।
जीवन जिसका
पल–दो–पल का
बाबा–सा
बाहर पड़ा घड़ा।

11/82, जूना बाजार, मक्सी जिला
शाजापुर–465106 (म.प्र)
मो. – 9977644232

स्वेटर बुन रही है सुबह

– अनूप अशेष

जन्म – 7 अप्रैल 1945।
जन्म स्थान – सतना (म.प्र.)।
रचनाएँ – बारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी सम्मान सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

एक स्वेटर बुन रही है सुबह

एक चेहरा
बुन रही है शाम।

अँगुलियों के पोर में
लिपटी हुई सी देह,
मुदतीं खुलती
आँखों में
संकोच पलता नेह।

गाँठ फंदे में लगाती धूप
धूप में खिलता
हुआ वह नाम।

फूल-सी विकसी हँसी
बंद होंठों में,
कोई आलिंगन
बँधा हो
ज्यों बरोठों में।

खुल रही सी रेशे-रेशे याद
चिट्ठियों वाला
सकोच-प्रणाम।

सलाई की यह बुनावट
देह-सी साकार,
हिले कँपते, हाथ में
अध-नींद वाला प्यार।

सुबह एक आकार वाली
रात, डूबी काम।।

साँप अपनी बामियों के बाहर हैं

साँप अपनी बामियों के बाहर हैं
साँपों की बस्ती में
अपने भी घर हैं।

हरी घास की नोकों
विष के छिड़काव में,
पाँव बढ़ाते लगता डर है
छिलते घाव में।

अँधियारे दंश के
काँपते पहर हैं।

आँखों में अध-जागे
स्वप्न का नशा है,
फैले फन के नीचे
केंचुल-सा कसा है।

ऐंठती हुई देहों
चढ़ रही लहर है।

नागिन सा विष लेपे
दाँत यहाँ हँसते हैं, परिचय की
भीड़ में
फन वाले बसते हैं।

बीनों के छेद में
होंठों की ठहर है।।

कातिक

गड़हिन में खिले कुमुदिनी
सोए सारी रात
कातिक की रात।

सूरज का मुँह देखे सूर्यमुखी
ऐसा मन हुआ, पूरब के पल्ले,
उढ़का कर पच्छिम का खोले पछुआ।

कोयले से भरी अँगीठी होने को तात।

शरद छुएगी अँगुली बाँहें
बाँहों की काँप,
लगन-लगे, दिन ऐसे होंगे
देह में चले जैसे साँप।

बूझेगी तो मानेगी
दुलहिन के जैसे प्रन-सात।

पक्की है गाँठ बात की
बात फूलों की, श्वेत-श्याम

होते पल की राई –
राई भूलों की।

भादों से पूछे थे गोत्र
कातिक से पूछेंगे जात।

अतुल मेडिकल स्टोर,
हास्पिटल रोड,
सतना-485001 (म.प्र.)
मो.-9981163680

उदास नैन

– पुष्कर राय जोशी

जन्म – 10 मार्च 1955।
जन्म स्थान – राजुला सिटी (गुजरात)।
शिक्षा – बी.कॉम., बी.एड.।
रचनाएँ – तीन पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – क्षेत्रीय सम्मान से सम्मानित।

उदास नैन
देख रहा किसान,
नभ–खेत में
उड़ रही है रुई की
सफेद गठरियाँ।

(♦ ♦ ♦)

एक आँख में
गरजता सागर,
दूजी आँख में
सूना रेगिस्तान
आँधी है उपाय?

(♦ ♦ ♦)

सागर है या
रेसकोर्स मैदान
जान लगाके
दौड़ रहे हैं कैसे
मोजों के श्वेत अश्व!

(♦ ♦ ♦)

आदमी
यूँ मानता है कि
वह मोबाइल में
सारी दुनिया को
जेब में लेकर
घूम रहा है,
किंतु
हकीकत यह है कि
वह खुद
मोबाइल में
आजीवन कारावास
भुगत रहा है।

(♦ ♦ ♦)

शहर
यानी
रंगीन सपनों का बाजार,
जहाँ लोग
करते हैं
ख्वाबों का व्यापार।

(♦ ♦ ♦)

कबूतर पर
टूट पड़ते
बाज को देखकर
चीख उठी
घनी काली रात।

479, गुजरात हाउसिंग बोर्ड,
कणकोट पाटिया, कालावड रोड,
राजकोट–360005 (गुजरात)

प्रेम सेतु की गिलहरी

– आनंद सिंह

कविता अस्त्र भी एक बड़ी शक्ति है। समाज में कार्यशील भौतिक शक्तियों की तरह ही शब्दों–अर्थों की शक्ति का यह पारंपरिक विन्यास है, जो साहित्य विधा की सबसे पुरानी और सबसे प्रभावी निर्मिति है जो मनोसामाजिक स्तर पर हमें रूपांतरित करने की भी क्षमता रखती है। यह बात अलग है कि कविता और आज की कविता अपनी कहन शैली की भंगिमा के बदलते चले जाने से किस तरह धीरे–धीरे सामाजिक जीवन के यथार्थ को और उसके विमर्श को बदलने में उस तरह कारगर नहीं है कि हम परिवर्तन की राजनीतिक आकांक्षाओं को कविता के बल से हाँकते चलें। पिछले दौर की हिन्दी की प्रगतिशील कविताधारा में कुछ ऐसा भी रहा कि उसमें कविता के सामर्थ्य से अधिक काम लेने की इच्छा प्रकट की गई थी, जिसके कारण कविता का कंठ भी प्रभावित हुआ लेकिन साथ में यह भी कहना होगा कि इसी दौर में कविता की भाषा में कुछ खुलापन भी आया जिससे संवेदना को असरदार होने के कुछ अधिक अवसर भी मिले। राजनीति और कविता की जुगलबंदी के बाहर कुछ ऐसी बंदिशें भी रची जाती रही हैं जिनसे यह अहसास मरने से बचा रहा कि कविता अभी भी मानवता को बचाने की एक सुकोमल जुगत है, 'कुछ नहीं' की भाषा के मनोरंजक व्यापार में 'कुछ हिस्सा' उन बातों के लिए 'रिजर्व्ड' है, जिसे हम प्रेम और प्रार्थना के नाम से जानते हैं।

पुस्तक : प्रेम सेतु की गिलहरी
लेखक : शिल्पी दिवाकर
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा,
मूल्य : 275/– रु.

समकालीन कविता जो पिछली सदी के अंतिम दो दशकों में सक्रिय रही उसकी नींव पर नयी सदी की कविता के प्रस्थान बदले हैं। पिछली सदी के अंतिम दशक में वैश्विक राजनीति के ध्रुवान्तों में अनेक गुणात्मक बदलाव आये जिनसे स्त्री, दलित और अस्मिताओं के नए–नए विमर्श भी पैदा हुए। हाशिए की आवाजें अधिक मुखर होकर सामने आयीं और क्षेत्रीय अस्मिताओं की पुकार केन्द्रीय शक्तियों तक सुनी गयी। दोनों गोलार्धों की काव्य संवेदना में दलितों की व्यथायें अधिक जगह घेर सकीं और स्त्री अस्मिता के अनेक गोपन दरवाजे भाषा की घेरेबंदी को तोड़कर साधारणीकृत होने लगे। इससे पुराने मूल्यों की जंग लगी साँकलें टूटी हैं और सोशल मीडिया के प्लेटफार्म पर स्त्री कवियों की आवाजाही और चलह–पहल बढ़ती दिखी है। वर्तमान कविता अब अनेक मुखों से कही जा रही है और बहुसांस्कृतिक अस्मिताओं की तरह इनके सभी सुर संवाद करने आन पहुँचे हैं। अब कविता का काम गैर राजनीतिक काम न होते हुए भी बतकही के शिल्प में अपने को भाषिक रूप से अभिव्यक्त कर लेने का काम बन गया है। इस अंदाज में नए कवियों को पढ़ना सुखद लगता है। कोई चाहे तो इनमें राजनीतिक आहटों को भी लक्षित कर सकता है। क्योंकि ऐन इसी समय में बहुत बड़े पैमाने पर मूल्यहंता आस्थाओं ने सृजनात्मक आस्थाओं पर भीषण प्रहार किये हैं। विश्वव्यापी आवारा पूँजी और क्रोनी कैपिटलिज्म के जोड़ से एक एब्सर्ड कल्चर को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिसकी लपेट में आधुनिक शिक्षा संस्थानों के विद्यार्थी जल्दी आ जा रहे हैं। आजकल के अधिकांश कवियों की जमात का ताल्लुक इस तरह की अस्थिर चित्तजीवी बौद्धिकता से बना हुआ है। इस तरह के लेखन में उस धैर्यशील संस्कृति की भारी कमी दिखाई देती है, जिसके अभाव में कविता में 'मीनिंग' नहीं पैदा होती। कविता न तो केवल संवेदना है, न विचार। वह एक तरह का ज्ञानात्मक संवेदन है, जो संवेदनात्मक ज्ञान की तरफ धीरे–धीरे अपने पाठक को ले जाता है। ऐसे दौर में यह कृति 'प्रेम सेतु की गिलहरी' अपने पहले ही पाठ में मन को छूती है –

तुम आकाश की आँखों में बचा प्रेम का पानी हो,
चट्टानों में छिपी जीवन की संभावना हो।
जब कभी बोझिल सा दिन
ढलता है क्षितिज पर
तुम्हारी मुस्कान का सूरज
बिखेर देता है खुशियाँ
जब भी तुम
हो जाते हो दुनियादारी में गुम
मैं रात की सियाही से लिख देती हूँ
अमावस। (पृ. 27)

शिल्पी दिवाकर की उजास भरी प्रेमाभिव्यक्ति मन के भीतर रेंग कर चली जाती है, जिसमें प्रेमिल उदासियों को तीव्र करने वाली निजी अनुभवों की मिठास तो है ही, उसमें प्रतीक्षा की अमावस रात की व्यंजनाएँ भी शामिल हो जाती हैं। प्रेमी व्यक्तित्व के आसपास बने रहने की भरोसेदार उपस्थिति में कवयित्री का प्रेम प्रौढ़तर होता रहता है। प्यार का अहसास उसके लिए निराशा के 'घनेरे में दूधिया उजास की तरह' फैल जाना चाहता है। प्रेम में मुक्ति भी कवयित्री ने इसी तरह पायी है जिसमें पुरुषाकार आस्पद शिव की तरह उद्दीप्त ऊर्जा वर्तुलों से स्पंदित होता है–

तुम्हारे ललाट की लकीरों में घूमते हैं

ऊर्जा के वर्तुल
भस्म रंग के केशों पर मोहित है
वामांगनी
आँखों में फैले हैं
कल्याण के आकाश
होठों के बीच बहती है
तृप्त कामनाओं की पावन गंगा
जो दोनों किनारों को दिव्य मुस्कान से
थामे रहती है
नासिका सौंदर्य के केन्द्र में है
जिसमें प्राण की बाँसुरी बजती है
कंठ में अप्रेम का हाला धरे हुए
भुजाओं में प्रेम को भरे हुए
तुममें अद्भुत है शिव (पृ.28)

इस कविता में अभी तक की हिन्दी प्रेमाभिव्यक्ति का वह रूप नजर आता है जो इक्कीसवीं सदी की स्त्री की आसक्ति बल्कि रूपासक्ति और प्रणय के चरमोत्कर्ष को तन से पहले मन की आँखों से देख लेना चाहती है। कवयित्रि का यह स्वर अनूठा और लीक से हटकर प्रेमी के साहचर्य को शिवत्व के सौन्दर्य से सराबोर तो करना ही चाहता है, बल्कि उससे भी आगे बढ़कर वह अव्यक्त सौन्दर्य को प्रणय की झंकृतियों से भी अवतरित कर लेने को उदग्र और उत्कट रूप से आकुल है–

परम शिव से महामिलन की
प्रतीक्षा में रत तुम्हारी पार्वती
तुम्हारे शिव के/अव्यक्त सौंदर्य के प्रति
प्रणय को लालायित है
ताकि छू सके
प्रेम का चरम
परम के पहले (पृ. 29)

इस प्रेम की 'गूढ़लिपि' को पढ़ने के लिए एक अन्य कविता में कवयित्री साफ तौर पर कहती है–

तुम्हें पढ़ने के लिए
मेरी आँखों का खुलना जरूरी है
जरूरी नहीं कि
तुम्हारी भाषा तुम्हें कह दे
तुम्हें पढ़ने के लिए/ जानना होगा
स्पर्श का व्याकरण

यह एक ऐसी लिपि में टँक गया प्रेम व्यापार है जो एक पन्ने से दूसरे पन्ने तक पहुँचने के लिए होंठों की नमी को महसूस करना चाहता है। वह एक ऐसे गूढ़ काव्य की तरह गुम हो गया है जिसका अर्थ कवयित्री में बंद है। यदि उसे किताब की माफिक पढ़ भी लिया जाए तो आखिर में उसे देह की जिल्द में बाँधना होगा। इससे किताब की रूह बिखरने से बच जाएगी। अब ये इस तरह की कविता है जिसमें कविता का प्रेम व्यापार बहुत प्रतीकात्मक और गहन होता जाता है। सीधी सादी भाषा में तरल और मनोहर गति से बहने वाली इस कविता में कोई रुकावट नहीं है। बहुत सादगी से रची जाती हुई यह हमारे मन में देर तक बजती रहती है। स्त्री कवियों में प्रेम का मनोजगत प्राय: एकांतिक और प्रतीक्षारत औत्सुक्य से बँधता हुआ ही दिखता रहा है लेकिन कवयित्रि ने ठोस और पारदर्शी उल्लास से अपने प्रेम व्यापार को आकृत करना चाहा है। इस तरह की मुखर प्रेमानुभूति की कविताओं के स्वर कम ही सुने गए हैं–

तुम्हारे सकल शरीर के/विशाल वृक्ष के बीच
चौड़ी छाती/ वो मंच है
जहाँ मेरे मन का पंखी
लेना चाहता है हर बार पनाह
तुम्हारी छाती के समीप
खिलते हैं राजसी/ एहसासों के कँवल
मजबूत किले के बीच
जैसे हो कोई राजमहल
वो शांति स्थल है
तुम्हारी गरम छाती
जहाँ रमता है/मेरे मन का जोगी
लेना चाहता है समाधि (पृ. 33)

प्रेम की गहरी तल्लीनता की निर्बाध और सीमाहीन अनुभूति की तुलना प्राय: समाधि से की जाती रही है लेकिन दैहिक और माँसल ऊष्मा की गरमाहट में सुरति का वैराग्य जगता है, यह बहुत सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। प्राय: शिल्पी की कविताओं में ऐसी उक्तियाँ बहुत सहजता और ईमानदारी से उनकी निजता को सम्मोहक रंगों से भरकर संप्रेषित करती हैं जो भाषा के स्तर पर भी इन कविताओं के सहज गुण की तरह सामने आता है। कवयित्री के लिये दैहिक प्रेम की यह रोमानियत एक ऐसे जादू से प्रतिश्रुत और प्रतिध्वनित होने लगती है जिसमें ऐन्द्रिक व्यापार एक साथ अपने अस्तित्व को उत्कट रूप से अनुभव करने के सुख से भर जाते हैं और स्वयमेव मुखर हो उठते हैं। उन्हें छिपाया नहीं जा सकता। यही प्रेम का होना है जिसमें भाव शरीर की विराटता सब कुछ अपने भीतर खींच लेना चाहती है–

तुम्हारे होने में/ऐसा जादू है
मन हो जाता है समुन्दर
और मैं सिकन्दर
पूरी दुनिया मुट्ठी में/ भींच लेती हूँ
तुमको अपने अन्दर
खींच लेती हूँ।

यह कहना सही होगा कि शिल्पी दिवाकर की प्रेमिल अनुभूतियों में जो भावशरीर विन्यस्त हुआ है, उसमें पुरुषत्व का फैलाव है और स्त्री शरीर केवल माध्यम भर है जो उस फैलाव को धारण करता है। 'नमी

चक्र' एक ऐसी कविता है, जिसमें प्रेमी के चुम्बन से उद्दीप्त स्त्रीमन कोई नयी प्रेम भाषा लिखने बैठ जाता है। सुख के उगने के लिए चुंबन 'नमीचक्र' की तरह धरा पर उतरते हैं। 'खिल गए अनुग्रह के फूल' एक ऐसी ही कविता है जिसमें प्रेम का घनत्व भारी होकर 'लगाव के लोहे' को चुम्बकीय शक्ति से आकृष्ट करता है। यहाँ प्रेम में एक उठाव है, जिसके कारण प्रेम के गुब्बारे फुलाकर पृथ्वी पर छोड़ दिए गए हैं। धरती के आखिरी छोर पर मिलने वाले प्रेमी अवसाद के धुँए को उड़ाकर खुशियों के छल्ले बनाते हैं और हाथ पकड़कर चाँद तक टहल आते हैं। आकाश के तारों को जमीन पर बिछाकर सोने वाले प्रेमी सूरज के कोहनी मारने से जगते हैं और मुट्ठी भर धूप से प्रेम का बीज सेंक कर अनुग्रह के फूलों को खिल जाने देते हैं।

लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रेम का सेतु बनाने के लिए अपनी संवेदनाओं की रेत बिखेर कर गिलहरी का श्रम रुक गया हो बल्कि एक कामकाजी स्त्री की तरह भी वह '**रात को बस एक ही साँस में/निभा देती है अपना पत्नी धर्म और भुनसारे ही जाग जाती है/ एक साँस के अलार्म से' (पृ.49)** 'एक साँस में' नामक कविता सामान्य स्त्री व्यापार का एक ऐसा कंट्रास्ट रचती है जो पूर्व की प्रेम कविताओं के सम्पूरक और संवादी स्वर की तरह अपने शरीर धर्म को स्त्रीधर्म से जोड़ देती है। स्त्री के बाहरी संसार के दु:ख भी कम नहीं हैं। शिल्पी ने 'ओ प्रेमी' की गुहार ही नहीं लगाई है बल्कि 'पुरखे' नामक कविता में उसे लगता है कि उन्हें देखना अपनी जड़ों की ओर लौटना है –

सारा जीवन सड़कों पर भागते
सहसा हम पगडंडियों की तरफ मुड़ते हैं
अपनी जड़ों में लौटते हैं
ताकि पहुँच सकें अपनों की ओर
ताकि पा सकें खुद का ठौर

शिल्पी की कविताओं के कई रंग हैं। प्रेम और रोजनामचे के बीच 'प्रकृति और पुरुष' की कुछ दार्शनिक गुत्थियाँ भी हैं जो इस ब्रह्मांड में हमारी जैविक उपस्थिति की अर्थवत्ता की खोज करती हैं। यह इसलिए भी जरूरी है कि प्रेम की व्यापकता को धारण करने के लिए यह सृष्टि निरन्तर अपने को फैलाती चली आ रही है। प्रेम की संख्यातीत उपस्थिति की कामना इसलिए भी है कि अंत में जगत को बचा लेने के लिए पुरुष और प्रकृति के भीतर योग की सूक्ष्म मीमांसा करते हुए कोई कपिल मुनि की तरह संख्याओं के पार प्रेम के असंख्य पुष्प खिला सके। एक सच्चे कवि की यही आकांक्षा भी होती है। दुनिया को भाषा में रचकर उसको जुगो लेने का उसका यही सुन्दर तरीका भी है। शिल्पी की कविता 'पापा' उनकी अनुपस्थिति को कई रूपों में उपस्थिति की तरह अनुभव करके देखती है –

पाप होकर भी नहीं थे
और अब न होकर भी हैं
वो पापा कम
सबक रहे ज्यादा
इस तरह साथ
बने रहे वे सदा।

'पापा' के साथ ही कवयित्री ने 'बहिनें', 'आम और अम्मा' कविता में अपने सादे से कहन में कई तरह के अंदाज समेट लिए हैं जिनसे उसकी संवेदनाएँ घनी होकर उतरी हैं। संवेदना की डोर से बाँधकर 'आम और अम्मा' के रूपक को शिल्पी ने बहुत खूबसूरती से शब्द दिए हैं–

देखते ही आम पर आये बौर
सोच के सारे पंछी
जा उड़े/अम्मा के आँगन की ओर (पृ.89)

आम के पेड़ों ने जो बिना सींचे ही फल दिये हैं उनकी ही तरह अम्मा ने भी जीवन को मिठास और छाँह दी है, जिसके प्रति एक पछताहट भरी आकांक्षा इस तरह सामने आती है–

थोड़ी देखभाल करते अगर
पुराने आम के पेड़ की
तो अंश भर चुक सकता था
प्रकृति का अहसान
थोड़ी सी देखभाल से पर
अम्मा के सहज स्नेह को न मिल/सकेगा पूरा सम्मान
एक जन्म और लेना होगा
खुद आम का पेड़ बनना होगा। (पृ.91)

शिल्पी दिवाकर का यह पहला ही संग्रह एक उम्मीद जगाता है। ऐसा लगता है कि जीवन के अनुभवों की व्यापकता से रूबरू होने पर उनकी प्रेमाभिव्यक्ति दैहिक कामनाओं के ज्वार का अतिक्रमण कर आगे अधिक मानवीय और सहज संवेदनाओं के वैविध्य से जुड़ेगी। इस संग्रह में कुछ ग़ज़लें हैं और उर्दू शैली की सतह पर तैरने वाली भावाभिव्यक्तियाँ भी मौजूद हैं, जिनसे बचा जा सकता था। हिन्दी कविता के सामर्थ्य को सक्षमता से रचने वाली, सादी और अलंकृत भाषा के सौंदर्य से रचती हुई शिल्पी दिवाकर की ये कविताएँ अधिक मार्मिक जान पड़ती हैं। उर्दू लफ्जों की चाशनी व्याघात अधिक डालती है। एक कवि के रूप में सृजनशील रहने के लिए उन्हें हिन्दी की शब्दावली के निकट रहना होगा।

म.नं.-5, वर्धमान परिसर,
चूना भट्टी, कोलार रोड,
भोपाल-462042 (म.प्र.)
मो. -9826628267

हासिल

सुरेश धींगड़ा

पिछले दिनों पवन माथुर का सद्य: प्रकाशित कथा-संचयन 'हासिल' पढ़ने को मिला। इस संचयन को लेखक ने प्रतिष्ठित चिंतक-कथाकार श्री देवेन्द्र इस्सर को समर्पित किया है। संचयन में कुल ग्यारह कहानियाँ संकलित की गई हैं, जिनके ट्रीटमेंट और संरचना में कुछ विशिष्ट-बिंदु अवश्य हैं।

पिछले वर्ष अशोक वाजपेयी का 'कविता समग्र' पढ़ने पर पाया कि उनकी अनेक कविताओं में प्रचलित काव्य-रूढ़ियों से हट कर, विधाओं की सीमाओं को तोड़ कर अपनी बात कहने की विशेषता है। यह तरीका या कहें कि यह विधि कुछ स्पानी, विशेष रूप से लातीन अमेरिकी कवियों- पोर्किआ, पाब्लो नेरुदा, लुइस बोर्खेस-में दिखाई देती है। लेकिन हिंदी में अशोक वाजपेयी के अलावा कोई नाम सामने आता है तो वह देवेन्द्र इस्सर का है और यह विशेषता पवन माथुर की कहानियों में कहीं-कहीं दिखाई देती है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत में चम्पू काव्य और मलयालम में मणि प्रवाल की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, लेकिन वे भी एक तरह से रूढ़िगत रचनाएँ हैं। जहाँ तक हिंदी में परिपाटी को तोड़ने वाले इक्का-दुक्का लेखकों का प्रश्न है, तो देवेन्द्र इस्सर को अंग्रेजी में पढ़े को उल्था करने वाला और कभी व्यंग्य की भाषा में उत्तर आधुनिकतावादी या अन्य पश्चिमी साहित्यिक धाराओं का पिछलग्गू कह कर ख़ारिज कर दिया गया। हिंदी जगत में इस तरह के और नाम भी हो सकते हैं, लेकिन वे रचना के स्तर पर नहीं आलोचना के स्तर पर ऐसे व्यंग्यों का शिकार हुए हैं।

पुस्तक : हासिल
लेखक : पवन माथुर
प्रकाशक : हंस प्रकाशन, 4648/21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
मूल्य : रु. 495/-

यह बहस का विषय हो सकता है, लेकिन इस लेख में विस्तृत चर्चा का नहीं। फिलवक़्त देवेन्द्र इस्सर की बात से आगे चलते हुए पवन माथुर के रचना-लोक के एक अंश पर बात। पवन माथुर ने देवेन्द्र इस्सर की कहानियों में जन्म लेते, फलसफे चिंतनपरक कृतियों में व्यक्त वैचारिकता को एक 'कहानी-लेख' में समेटते हुए अलग-अलग विधाओं की सीमाओं को मिटा देने का विचार व्यक्त किया है जिसे एक 'जख़्मी-परिंदा' शीर्षक देकर, इस कथा-संचयन का हिस्सा बनाया गया है। यह 'कहानी-लेख' देवेन्द्र इस्सर की कृतियों के मूल्यबोध का विश्लेषण मात्र है या इससे इसके आगे जाकर कुछ और संकेत भी करता है? वह संकेत अगर है, तो वह देवेन्द्र इस्सर के मूल्य-बोध तक सीमित है या पवन माथुर की किसी विशिष्टता को भी दर्शाता है, विधाओं को लाँघने, समन्वय या समंजन की उनकी रचनात्मक मेधा से भी परिचित कराता है? पाठक को क्या हासिल होता है?

'हासिल' के प्राक्कथन में नित्यानंद तिवारी ने संग्रह की कहानियों में देश के वर्तमान राजनीतिक परिवेश को अंकित करते हुए शासन, प्रशासन और नेताओं द्वारा 'अविश्वसनीय' को 'विश्वसनीय' में बदलने के 'यथार्थ' को 'डर' के इस्तेमाल से सबको अपने अनुकूल बनाने की प्रक्रिया से जोड़ा है। लेकिन, यह विचार 'पारी' जैसी कहानी पर ही लागू होता दिखाई देता है, जो हमारे परिवेश की वास्तविकता के निकट जान पड़ती है। यह परिवेश अचानक तो नहीं बना; इसकी पृष्ठभूमि शायद सुदूर अतीत में खोजनी होगी। यह बात अवश्य है कि मौजूदा वक़्त में सत्ता ने उस पर पड़ा पर्दा हटाकर तेजी से अपने हक में मोड़ लिया क्योंकि उसे वह कुंजी मिल गयी जिससे हर व्यक्ति की फाइल खुल जाती है -वह जब तक सत्ता-केंद्र से बाहर है, सामान्य ही नहीं नाकारा अक्सर है क्योंकि उसने 'दया', 'ममता' पर जीत नहीं पायी है, लेकिन जैसे ही रामसरन जैसे शातिर ठेकेदार के फंदे में फँस कर वह उस धुरी के वृत्त में शामिल हो जाता है, उसके लिए सारे मोड़ खुल जाते हैं और वह एक योग्य, कर्त्तव्य-पारायण, कामकाजी और तेज अफसर के रूप में पहचाना जाने लगता है। उसे तरक्कियाँ तो मिलती हैं, पर इस मकड़जाल में फँसे होने के कारण उसमें 'मनुष्यता, ग़ैरत, भलमनसाहत या दयानतदारी' जैसे गुण कभी-कभार ही उभरते हैं; उस मकड़जाल से बाहर वह तभी निकल पाता है, जब वह

'आत्म-रक्षा' के लिए मौत को गले लगाता है। शायद यही इस दौर का मंत्र है : शामिल हो जाओ या नेस्तनाबूद।

पवन माथुर की कुछ कहानियों के वस्तुवृत्त मौत के एहसास से जुड़े हैं। हाँ, प्रत्यक्ष मौत किसी भी कहानी में नहीं है; संकेत हैं, सूचना है या ज़्यादा-से-ज़्यादा खून की लकीर मौजूद है। 'माँ जा रही हैं', 'हासिल', 'एक और रोज', 'पारी', 'गंतव्यहीन' कहानियों के ये संकेत संवेदना के स्तर पर अंकित हुए हैं। समानांतर स्तर पर कहानियों में ताना-बाना दिखाई देता है : 'माँ जा रही है' में गुल्हड़ के झाड़ के बीच फँसा घोंसला प्रतीक बन जाता है। 'एक और रोज़' की दीक्षा की माँ जिंदगी और मौत के बीच झूलती वेंटिलेटर पर जाने की इंतजार में है और कथा-नायक शहर की जद्दोजहद और भीड़ के बीच फँसा अस्पताल को वेंटिलेटर का किराया देने के लिए बैंक से पैसे निकालने के इंतजार में अपने अतीत को जीता है। अतीत को जीती है माँ की आसन्न मृत्यु के इंतजार में बेटी तनाव-भरे अतीत और वर्तमान को ही जीती है; 'तीसरे तपन' के मशीन में लोथड़े-सा कट-कट कर निकलने के इंतजार में 'हासिल' की नायिका और 'पारी' का शुक्ला भी 'आत्म-रक्षा' से पहले के कुछ क्षणों में उतार-चढ़ाव के बीच बदलते जीवन, राजनीति और प्रशासन तथा निजी जिंदगी को जीता है। इन कहानियों-और कुछ अन्य कहानियों में भी-पात्रों के जीवन की त्रासदियाँ दिखाई देती हैं और ये त्रासद स्थितियाँ सीधे-सीधे मौत से साक्षात्कार न होने के बावजूद हैं। इसलिए इन कहानियों को नयी कहानी के दौर की 'मृत्युबोध' वाली कहानियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। लेकिन, ये कहानियाँ बदलते दौरों के साथ-साथ समाज के विभिन्न वर्गों-घरेलू स्त्री, कामकाजी स्त्री, सेवा-निवृत्त कर्मचारी, सरकारी अधिकारी आदि-की विवशताओं और तनावों की परिचायक तो हैं; मृत्यु इनमें अक्सर प्रतीक या प्रेरक होने के बावजूद अनुपस्थित हैं; वह केवल नेपथ्य में है। विशेषता यही है कि मनुष्य जीवन और मृत्यु के बीच एक भयावह यात्रा से गुजर रहा है।

ये कहानियाँ वस्तुवृत्तों की दृष्टि से भले ही नयी कहानी के निकट होने का आभास देती हैं, परंतु ट्रीटमेंट की दृष्टि से उनमें स्पष्टत: प्रयाण है। ऊपर अगर हमने कहानियों को मौत से जोड़ा है, तो वह भी संत्रास के कारण मृत्युबोध की तरफ इशारा नहीं है; वह एक एहसास है जिसे मनुष्य जी रहा है। 'जिंदगी की कील' कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। ऐसी कहानियों में उस व्यक्ति को हाशिये पर परिवार, और बृहद् परिप्रेक्ष्य में समाज, के वे ही लोग एक कोने में फालतू सामान और बोझ की तरह डाल देते हैं जिनके लिए वह जीवन-भर खटता रहा है। जयप्रकाश में भी जिजीविषा है; दीवार में ज़ंग खाई कील को छोटी-सी मूसल से उसका ठोकना इसका प्रतीक है। 'डोर' में भी हमें एक प्रयाण-बिंदु दिखाई देता है : व्यक्ति से इच्छा न होने पर भी किसी क्षेत्र से जुड़े रहना, विषम परिस्थितियों में पीढ़ियों का टकराव और तिस पर परिवार से जुड़ाव, प्रेम संबंध, दाम्पत्य के अनमेल हो जाने की समस्या, आधुनिक पीढ़ी के सहज मैत्री संबंध और उनके प्रति संवेदनशीलता कहानी की बुनावट में स्वाभाविक रूप से खुलते चले जाते हैं और इनसे भी अधिक मानवीय सरोकारों और सामाजिक दायित्व का एहसास करा देते हैं। ये सरोकार अर्थ पर टिके साम्पत्य और सामाजिक बिखराव से अलग मनोवैज्ञानिक, वैचारिक और दार्शनिक धरातलों पर समस्या के विश्लेषण की हिमायत करते जान पड़ते हैं।

पवन माथुर की एक विशेषता यह भी है कि वे समाज की समस्याओं को इस विश्लेषण की ओर ले जाकर एक 'सकारात्मक' रास्ते की तलाश करते हैं। 'डोर' कहानी के अंतिम अंशों पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि कहानीकार नागरिक होने के नाते व्यवस्था से रिश्ते, परिवार और समाज से जोड़ने वाले जन्म के रिश्ते तथा अपनी प्रतिभा और सृजनशीलता से बनाये गये रिश्ते की बात उठा कर लेखक इस तीसरे रिश्ते को रेखांकित करता है -यह तीसरा ऐसा रिश्ता है जो हम सभी को अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता का अहसास कराता है जो अपना है-अपनी रचना की डोर है। एक ऐसी अदृश्य डोर, जो कभी तो लगता है कि मजबूती से अपने हाथ में है, तो कभी लगता है कि हाथ से फिसल रही है, और कभी कट चुकी डोर के सिरे, असंख्य महीन धागों में बँट, पुनर्रोपित हो, एक नई डोर में परिवर्तित होते जा रहे हैं। (**'डोर', 'हासिल', पृ.-78**) यह कहानीकार की समाजशास्त्रीय भूमिका है।

इस भूमिका के अंतर्गत पवन माथुर अपने समय के सवालों, समस्याओं से जूझते दिखाई देते हैं। उदाहरण के तौर पर अगर 'गन्तव्यहीन' कहानी की पड़ताल करें, तो हम देखते हैं कि 'धर्मान्तरण' और 'लव-जिहाद' और 'ऑनर किलिंग' जैसे शब्द राजनीति में ही नहीं, हमारे रोजमर्रा जीवन के शब्द बन गये हैं और ये हमारे समाज के लिए नकारात्मक और हेय बन गये हैं। देश की राजनीतिक स्थितियों

ने अनेक बुद्धिजीवियों को भी सांप्रदायिक बना दिया है। लेकिन पवन माथुर की कहानी इस जाल की उपज नहीं है। यहाँ इन प्रश्नों को 'यथा' 'अर्थ' के धरातल पर उठाया गया है–एक ओर धार्मिक मतान्धता के कारण व्यक्ति और समाज जीवन में विघटन और बिखराव तथा जीवन की त्रासद स्थिति चित्रित है, तो दूसरी ओर परिवार का बिखराव। पल्लवी और इब्राहम के अंतर्धर्मी विवाह से आहत पल्लवी की माँ लक्ष्मी उसे न मार पाने की निराशा के कारण दरांती से अपना सिर ही जख्मी नहीं करती, घर छोड़ कर चली जाती है। दूसरी ओर पल्लवी तो माँ–बाप के लिए त्याज्य है ही, अब्राहम की माँ नैन्सी भी इस विवाह को इसलिए स्वीकार नहीं करती क्योंकि पल्लवी का धर्मान्तरण नहीं हुआ–भले ही अब्राहम और पल्लवी का विवाह चर्च में हुआ है। कालांतर में नौकरी छूट जाने और अब्राहम की दुबई में दुर्घटना में मृत्यु हो जाने के कारण पल्लवी गुरुद्वारे के लंगर में खाना खाने को विवश हो जाती है।

पवन माथुर का 'समाजशास्त्री' भी कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं देता यथा, किसी अनब्याही माँ द्वारा चर्च के दरवाजे पर परित्यक्त बच्चे का जन्म से जुड़ा धर्म क्या था, अब्राहम नाम तो पेस्टर जूलियस और उनकी पत्नी द्वारा पाले जाने के कारण चर्च ने दिया होगा? पल्लवी में चर्च के प्रति आकर्षण क्यों हुआ? वह अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं की धार्मिक शिक्षा का परिणाम है या उसमें परिवेश भी एक बड़े कारक के रूप में मौजूद है? इन प्रश्नों के उत्तर राजनीति में नहीं, समाज–संरचना और परिवेश में ही तलाशे जा सकते हैं। और यहीं लेखक की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

पवन माथुर की कुछ कहानियाँ सामान्य विषयों से हट कर भी हैं। ये विषय अभी हिंदी कहानियों में अनछुए हैं। 'तफतीश', 'गुलाब के फूल' ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'तफतीश' हमारे वर्तमान शासन–तंत्र के अँधेरे पक्ष को उजागर करती है; यह कहीं जासूसी कहानी, तो कहीं राष्ट्रीय सुरक्षा की आड़ में अंतर्राष्ट्रीय षड्यंत्रों और कहीं सुरक्षा एजेंसियों के तौर–तरीकों और कहीं व्यवस्था की ख़ामियों और ज़्यादतियों की ओर संकेत करती दिखाई देती है। कहानी इस भ्रम को भी तोड़ती है कि 'अपराधी भले छूट जाये, किसी निर्दोष को सजा नहीं मिलनी चाहिए।' 'गुलाब के फूल' संस्कृतियों के मूल्यों और टकरावों से बृहद धरातल पर हमारा परिचय कराती है। कहानी का वस्तुवृत्त पश्चिमी, विशेष रूप से अमेरिकी आधुनिकता, संस्कृति और मानसिकता तथा भारतीय आधुनिकता, संस्कृति और मानसिकता की टकराहट से जुड़ा हुआ है। कहानी प्रत्यक्षत: मुक्त यौन संबंध, 'मेरा शरीर मेरी मर्जी' सरोगेसी जैसे प्रश्नों से जूझती है।

यह संघर्ष 'मैं', मैरी और शोभा के बीच केवल व्यक्ति स्तर पर होने के बावजूद आयाम में बड़ा है। वस्तुत: इन प्रश्नों और संघर्ष पर अलग से चर्चा की आवश्यकता जान पड़ती है क्योंकि इसके सूत्र केवल संस्कृतियों और मानिसकता तक सीमित नहीं है; शायद आवश्यकता इस बात की भी है कि इन्हें जैविकी, चिकित्साशास्त्र, आनुवंशिकता के क्षेत्र में अनुसंधानों के आलोक में परखा जाये। 'कौन–सा सत्य' कहानी इस आवश्यकता पर एक मोहर लगा देती है। कहानी 'कौन सा सत्य?' के प्रश्नों और उत्तरों के बीच हमारे समय के यक्ष–प्रश्न उभरते हैं, जिनमें 'अलज़ाइमर' से जुड़ी समस्याओं से भी सामना होता है तथा नैतिकता से जुड़े प्रश्न, व्यक्ति के उत्तरदायित्वों का बोध और उन्हें पूरा न कर पाने से उत्पन्न संशयों से भी। 'जख़्मी परिंदा' कहानी के दो अंश इस फलसफे को स्पष्ट कर देते हैं :

1. 'जिंदगी हो या मनुष्य, उसे किसी दूसरे की किताब से न पढ़ा जा सकता है, और न ही समझा जा सकता है। जीवन मायाजाल है, तो पुस्तक शब्दजाल।' **(जख़्मी परिंदा, 'हासिल', पृ.–150)**

2. 'रोशो के रचनाकार की कोई भी कहानी पढ़ जाइए, सूर्यास्त के होने और अँधेरा फैल जाने के बीच के समय को वे अक्सर प्रस्तुत करती हैं।' **(वही, पृ.–153)**

दरअसल, ऐसी कहानियों में कहीं पवन माथुर की वैज्ञानिक अप्रोच काम करने लगती है और कहीं जैविकी और मनोविज्ञान की अँधेरी खोहों के प्रति उनकी गहरी जिज्ञासा हमारे सामने प्रश्न खड़े करने लगती है। ये प्रश्न 'कौन–सा सत्य' के कोहरे में खोते प्रश्न हों या 'जख़्मी परिंदा'; के बिंबों में अथवा किसी भूलभुलैयाँ में भटके प्रश्न हों, प्रश्न स्वयं कहानीकार के हों या पाठक के, वे संग्रह की सब कहानियों को अनेक आयामी बनाते हैं और बुनावट को विशिष्ट।

99, कादम्बरी, 19/9, रोहिणी,
दिल्ली–110085
मो.– 9811920884

सरल सा हल नहीं मिलता

– पद्मा शर्मा

'आशान्वित बने रहना ही जीवन का सुंदरतम पक्ष है।' ग़ज़ल की असल कसौटी उसकी प्रभावोत्पादकता है। सुपरिचित हिंदी ग़ज़लकार श्री चंद्रभान भारद्वाज का सातवाँ ग़ज़ल संग्रह 'सरल सा हल नहीं मिलता' अपने कथ्य के कारण पाठक को चिंतन के विविध आयामों पर ध्यान केंद्रित करने को बाध्य करता है। यह संग्रह काव्यानुशासन में निबद्ध मानवीय संवेदनाओं का दस्तावेज है। ग़ज़ल जैसी विधा को हिंदी में प्रस्तुत करना और उसकी सूत्र भावना को सुरक्षित रखना ग़ज़लकार की ग़ज़ल कहने की सामर्थ्य को प्रकट करता है। जीवनानुभवों से उपजा संत्रास, घुटन, तनाव और वैषम्य शब्द सामर्थ्य और भावों की तीव्रता से ग़ज़लों के रूप में ढल कर पाठक को आंदोलित करने में सफल हुआ है। इनकी ग़ज़लों के विषय सौंदर्य और दैहिक प्रणय व्यापार न होकर सामाजिक सरोकार हैं जो विचार के रूप में पाठक को विचलित करते हैं। सामाजिक असमानताएँ, कुंठाएँ, जीवन संघर्ष, राजनैतिक छल प्रपंच, आम आदमी का असमंजस, और नैतिकता का पतन ग़ज़लों में प्रभावी ढंग से पिरोया गया है।

पुस्तक : सरल सा हल नहीं मिलता
लेखक : चंद्रभान भारद्वाज
प्रकाशक : श्री विनायक प्रकाशन, इंदौर
मूल्य : 300 /– रु.

ग़ज़ल का भाषिक चमत्कार प्रदर्शन ग़ज़लकार का अभीष्ट नहीं है वरन् वह अपने भावों को सहज और प्रभावोत्पादक शब्दावली में व्यक्त करना चाहता है जिससे वर्तमान युगीन सत्य का साक्षात्कार करा सके, यही रचनाकार का दायित्व भी है। भारद्वाज जी इस उद्देश्य में सफल हुए हैं। सामाजिक विसंगतियों का तीव्रतम अहसास सार्थक शब्दों के सहारे जब रचना के रूप में ढलता है वह दीर्घगामी प्रभाव छोड़ता है। संग्रह की सभी ग़ज़लों में आधुनिक समय का सांस्कृतिक अवमूल्यन, समाज का विखराव और परिस्थितियों से संघर्षरत आम आदमी की हताशा मुखरित हुई है। अपने अस्तित्व को तलाशता आम आदमी सपनों के टूटने से निराश नहीं होता वह अपनी समग्र चेतना को समेटता जीवन संघर्ष में जुटा रहता है, यही उसकी जीत है। शीर्षक ग़ज़ल का अंतिम शेर अपराध जगत की कालिख को उजागर करता एक अलग प्रभाव छोड़ता है–

वो झुलसी लाश 'भारद्वाज' बिन पहचान रह जाती
अगर झाड़ी में उसके कान का कुण्डल नहीं मिलता

जीवन का दोहरा चेहरा है जिसमें उलझनें और चरित्र का दोगलापन साफ दिखाई देता है। राजनीति समस्याएँ पैदा करती है। तालियों की गड़गड़ाहट में आँसूऔर आहें किसी को सुनाई नहीं देतीं–

थके कंधे हुआ है बोझ जीवन/समय के चक्र ने रुकने दिया कब

जिंदगी जब पग–पग पर ठोकरें खाती है तब निराशा सारे वजूद को ढक लेती है, ऐसे में दृढ़ संकल्प करते हुए ग़ज़लकार स्वयं को दीया बनाने की चाह रखता है ताकि पथ का अंधकार दूर कर सके। अपने अतीत के सौहार्दपूर्ण रिश्तों को स्मरण कर नई चेतना महसूस करते हुए किसी की निशानी और बीते सुनहरे कल की याद करते हैं, यही जीवन का आनंद बन जाता है।

जीवन की सारी ऊर्जा जगत जंजाल में खर्च हो जाती है तब केवल प्रार्थनाएँ शेष रह जाती हैं। युवा पीढ़ी का भटकाव भी इन्हें व्यथित करता है –

नई पीढ़ी समझती ही नहीं है कोई रिश्ता
सभी के बीच केवल खाइयाँ चौड़ी हुई हैं।

जगमगाते शहरों में बढ़ते तनाव, प्रदूषण, लूटमार से त्रस्त जन का मनोबल टूटने लगा है। हर व्यक्ति झूठ का नकाब लगाए घूम रहा है ऐसे में घर से निकलने में भी डर लगने लगा है। शैतानों के शहर में कहीं इंसान नहीं मिलता। हर व्यक्ति के रास्ते अलग–अलग हैं। स्वार्थ ने इंसान को मशीन बना दिया है। ऐसे में दूसरों का दर्द लिखने की बात करते हुए ये लिखते हैं कि –

घोषणा ही घोषणाएँ हो रहीं हर मंच से
जो गँवाए उम्र ने उन अवसरों का दर्द लिख।

जिंदगी सवालों में उलझ कर रह गई है जिनके हल ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते फिर भी आशा का दामन थामे रहना ही समझदारी है। भारद्वाज जी का मानना है कि जिंदगी प्रेम से ही जीने लायक बनी रह सकती

है –

जिंदगी में रोप जाना एक पौधा प्यार का
छाँह में बैठें सदा पंछी भी राही भी यहाँ

इस ग़ज़ल संग्रह में कोरोना त्रासदी पर भी ग़ज़लें हैं जिनमें महामारी की भयावहता से त्रस्त पूरा विश्व स्तब्ध हो गया था। ऐसे कठिन समय में भी राजनीति का कुरूप चेहरा और स्वार्थपरता ने आम आदमी का जीवन और अधिक संकट में डाल दिया था। इसका चित्रण भी ग़ज़लों के माध्यम से किया गया है –

संक्रमित हर शहर हर पुरी हो गई,
सुर में थी जिंदगी बेसुरी हो गई।

इस ग़ज़ल संग्रह में बेटियों को समर्पित ग़ज़ल में बेटियों को आकाश की ऊँचाइयाँ छूने का गर्व है तो निर्भया काण्ड की पाशविकता पर आक्रोश भी है। जहर से प्रदूषित वातावरण की पीड़ा है तो गुलाब के काँटों के बीच खिलने से जीवन को सीख भी है –

यदि जिंदगी गुजारना चाहो रुआब से,
काँटों के सँग निबाहना सीखो गुलाब से।

भारद्वाज जी की ग़ज़लें शहीदों को नमन करती है, प्रकृति को नमन करती हैं तथा प्यार और अपनापन तलाशने की कोशिश करती हैं। ये ग़ज़लें आत्मसंयम और स्वाभिमान के बल पर जिंदगी की जंग जीतने का हौसला देती हैं। जीवन की विषमताओं से जूझने के सपने देखने की और आकाश को झुकाने की बातें करती हैं –

एक सपना पलक पर सजा तो सही,
जिंदगी को कभी आजमा तो सही।

बाजुओं सें सिमट आएगा यह गगन,
कोई कोना पकड़ कर झुका तो सही।

भारद्वाज जी को जिंदगी की कठिनाइयों से निकलने का 'सरल सा हल नहीं मिलता' फिर भी वे उम्मीद नहीं छोड़ते। व्यवस्थाएँ अनुकूल भले ही न हों रिश्तों में ठंडापन भर गया हो और संवेदनाएँ लाख खुरदरी हो चुकी हों फिर भी उम्मीद का दामन कभी नहीं छोड़ना चाहिए। जीवन की सहजता प्रेम और भरोसा मनुष्य को मनुष्य बनाए रखते हैं। आधुनिक यांत्रिकता ने आत्मिक सम्बंधों में दरारें डाल दी हैं फिर भी जीवन के प्रति आशावान बने रहना ही जीवन का सुंदरतम पक्ष है।

108, टेलीफोन नगर एक्सटेंशन
इंदौर-452016 (म. प्र.)
मोबाइल - 9165758175

कविता पाठ, महिला शक्ति प्रकोष्ठ

निर्गुण और सगुण श्री राम-कृष्ण

- प्रेम भारती

प्राचीन काल से ही रामकथा का व्यापक प्रभाव जन मानस पर रहा है। राम ने चित्रकूट में दस वर्षों तक निर्वासित होकर जीवन बिताया। भारत की महान धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सभा चित्रकूट में हुई। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने राम के प्रथम दर्शन चित्रकूट के रामघाट में किए। कहने का आशय यह है कि बुंदेलखंड के कण-कण में जन-जन में रामकथा समाई हुई है। यही कारण है कि रामकथा पर यहाँ के साहित्यकारों ने रामकथा को लेकर साहित्य सृजन किया है। वह गौरवपूर्ण और ऐतिहासिक है। श्री प्रभुदयाल मिश्र उनमें से एक हैं।

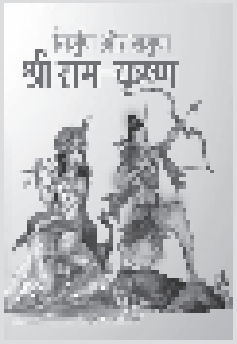

पुस्तक : निर्गुण और सगुण श्रीराम-कृष्ण
लेखक : प्रभुदयाल मिश्र
प्रकाशक : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन के 71, कृष्ण नगर, दिल्ली-51
मूल्य : 495/- रु.

साहित्य की रचना अकस्मात नहीं होती। उसके लिए स्वानुभूतियों का संसार चाहिए। श्री प्रभुदयाल मिश्र भारतीय मनीषा के अध्येता हैं। वे सागर विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में परास्नातक हैं। उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'निर्गुण और सगुण श्रीराम-कृष्ण' को पढ़कर लगा कि सौ प्रश्नों में वह सब कुछ कह दिया गया जो मधुमय सृष्टि का आधार है। जिस प्रकार मधु मक्षिका पुष्पों का रस लेकर अपनी पाचन क्रिया से उसे मधु में परिणत कर देती है, उसी प्रकार उन्होंने सनातन तत्त्वों को लेकर निर्गुण-सगुण के माध्यम से राम-कृष्ण की विराट चेतना को ब्रह्मांड से जोड़कर सत्य का साक्षात्कार किया है।

इस पुस्तक की रचना 'क्वारा-कॉम' पटल पर हिन्दी और अंग्रेजी में दिए गए प्रश्नों के उत्तरों पर आधारित है जिसे देश और विदेश के दस लाख लोगों ने देखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत ही नहीं बृहत्तर विश्व में भी भारतीय संस्कृति के जिज्ञासु हैं। वर्तमान युग में वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की विशेषताओं का प्राधान्य है। इस युग में बुद्धि और मस्तिष्क की प्रधानता है जिसका आध्यात्मिक जीवन से प्राय: कोई संबंध नहीं है। अत्यधिक धन और शक्ति की सफलता में ही जीवन व्यतीत हो जाता है। ऐसे में साहित्य सृजन और चिंतन की निरन्तरता बनाए रखना एक चुनौतीपूर्ण दायित्व है जिसे श्री मिश्र की यह पुस्तक देखकर लगता है कि उन्होंने अपना दायित्व बहुत ही कुशलता से निभाया है।

भक्तिकाल के बाद जिन कारणों से हिन्दी साहित्य अपनी छाप नहीं छोड़ सका मेरी दृष्टि में उसके दो प्रमुख कारण हैं-एक संस्कृत और दूसरा अंग्रेजी प्रभाव। साधारण साहित्य तो खूब रचा जा रहा है किन्तु संस्कृति को लेकर साहित्य कम ही देखने में या रहा है। रचनाकार भी दो प्रकार के हैं-एक प्राचीन शैली के विद्वान जो संस्कृत शैली का अध्ययन करके लिखते हैं और दूसरे नवीन शैली के बुद्धिजीवी जो अंग्रेजी ग्रंथों का अध्ययन कर उन्हीं पर केन्द्रित रहते हैं। दोनों ही शैलियों के रचनाकार हिन्दी पाठकों के प्रति उदासीन हैं। यही कारण है कि भारत में दार्शनिक चिंतन को लेकर साहित्य को धार्मिक ग्रंथ मानकर पढ़ा जाता है। उनकी शैली इतनी क्लिष्ट होती है कि उसका भाव कठिनता से ही समझ में आता है। इसलिए अच्छे मौलिक ग्रंथों का प्राय: अभाव ही है। जो ग्रंथ प्रकाशित हैं उन्हें आत्मसात् करना तो लोहे के चने चबाने जैसा है। वर्तमान युग की एक विशेषता और यह भी है कि यह पांडित्य की अपेक्षा पांडित्य प्रचार में विश्वास करता है। मुझे प्रसन्नता है कि श्री मिश्र का साहित्य इस दृष्टि से सुगम है। प्राचीन संस्कृत साहित्य की जटिलता और अंग्रेजी साहित्य के नास्तिक विचारों के परे उन्होंने इस पुस्तक को रचा है। स्वानुभव के आधार पर उन्होंने जो प्रश्नों के उत्तर दिए हैं वे अत्यंत रुचिकर हैं और जिज्ञासा को शांत करते हैं।

पुस्तक में आदि, मध्य और उत्तर मुख्य तीन खंड हैं। आदिखंड में परंब्रह्म को लेकर निर्गुण-सगुण की व्याख्या की गई है। मध्यखण्ड में श्री राम-कृष्ण की स्वीकार्यता पर प्रकाश डाला गया है। तथा-उत्तरखंड में श्री राम और श्री कृष्ण पर विषद गंभीर चर्चा प्रश्नों के उत्तरों के रूप में की गई है। अंत में 'परिपूर्ण ब्रह्म' राम-कृष्ण को लेकर उन्होंने दोनों अवतारों की सार्वकालिक, सार्वभौमिक ईश्वरता का प्रभाव बताया है। अंत में रामायण और महाभारत मिथक नहीं हैं, इस पर भी विस्तृत जानकारी दी गई है। हर पाठक को इसे पढ़ना चाहिए।

ऐसा कभी न सोचें कि हमने मानस और श्रीमद्भागवत को नहीं पढ़ा तो इस पुस्तक को पढ़कर हमारी मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। कुछ ऐसे बुद्धिजीवी भी हैं जो समझते और पढ़ते नहीं हैं किन्तु समझ लेने का पूरा दावा करते हैं। यह सोचकर इसे पढ़ें कि आत्मचिंतन के जागृत होने पर हमारे अनात्मवादी संस्कार परमात्मवादी भाव में अवश्य रूपांतरित होंगे।

राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के अवतारी पुरुष ही नहीं जननायक भी हैं। मानवीय सांस्कृतिक अभ्युत्थान में दोनों की भूमिका अद्वितीय है और आगे भी रहेगी। सनातन राष्ट्रवादी यह चिंतन प्रत्येक पाठक के मन में अवस्थित होना चाहिए।

लेखक का मानना है कि ईश्वर की निर्गुण और सगुण दो धाराएँ सर्व व्यापक हैं। ईश्वर अपनी अव्यक्त निर्गुण अवस्था से सगुण अवस्था में भी सर्वथा सर्वशक्तिमान होता है। अवतार लेने पर उसके कार्य यद्यपि मनुष्यों के समान होते हैं, परंतु उसके प्रभाव से करोड़ों के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन होता है। उसका स्वरूप और विस्तार वास्तव में इतना गंभीर होता है कि उसको यथार्थत: जानना संभव नहीं है। वह तो जैसे एक अज्ञात रहस्य ही बना रहेगा किन्तु इतना निश्चित है कि अवतार पुरुषों ने परमोच्चता में जो जागतिक व्यवहार किया वह सर्वग्राह्य और अनुकरणीय है, वे ईश्वर के रूप में पूजनीय और अवलंबनीय तो हैं ही।

मैं श्री मिश्र को साधुवाद देता हूँ कि इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने भारतीय संस्कारों की सुगंध पूरे विश्व में फैलाने का जो प्रयास किया वह स्तुत्य है। पुस्तक की भाषा भावानुसारिणी तथा ऐसी प्रवाह युक्त है कि पुस्तक पढ़ने में मन लगता है। इसमें आपका भी मन रमेगा, एक बार इसे पढ़कर तो देखें।

91/49 तुलसीनगर,
भोपाल-462003 (म.प्र.)
मो.-9424413190

पत्रांश

'अक्षरा' की निमीक पत्रकारिता बड़े बड़े राष्ट्रीय दैनिकों के लिये चुनौती के समान है। नवंबर 2023 का संपादकीय दो बार पढ़ना पड़ा। राष्ट्र की ही नहीं, संयुक्त राष्ट्र की विदेश नीति व रक्षा नीति के निर्णायकों को इसमें कही गई बातें झकझोर देंगी। संपादकीय के अंत में नफरत को आत्मघाती बताया गया है। यह सनातन सत्य ही है। मुझे स्मरण हो आया साप्ताहिक धर्मयुग का जिसकी अपार लोकप्रियता थी, उद्भट विद्वान का संपादकत्व भी। पर भारत-पाक युद्ध (दोबार) भारत-चीन युद्ध पर बेबाक चित्रण से यह साप्ताहिक साफ बचता रहा। साहित्यिक जो था। 'अक्षरा' क्या साहित्यिक नहीं! सच कहने से कतराए या इसे घुमा फिरा कर कहे यह साहित्य भी क्या साहित्य है। 'अक्षरा' राजधर्म का निर्वाह करने वाली पहली साहित्यिक पत्रिका है। यह व्यवस्था के समक्ष विवश नहीं। यह व्यवस्था की अवस्था को उघाड़ कर रखने का माद्दा रखती है। पूर्व संपादकीयों का जिसने गंभीरता से पठन किया है, वे इस बात से सहमत होंगे।

हिम्मत जोशी, नागपुर (महा.)
मो. - 8275397089

खिड़की

– रणविजय राव

अपने समय में कथा सम्राट प्रेमचंद ने कथा साहित्य में उद्देश्यपरकता पर विशेष जोर दिया था। उन्होंने सोद्देश्य लेखन का नारा देकर साहित्य को समाज से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। तब से सामाजिक यथार्थ के कड़वे, मीठे सच को साहित्य की प्राय: हर विधा में परोसने का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह अभी भी जारी है। लघुकथा विधा को भी इसी कड़ी में रखा जा सकता है। अपने छोटे कलेवर में बड़े सामाजिक प्रश्नों को पाठकों के समक्ष रखने का अद्भुत प्रयास दिखाई देता है इस विधा में।

इसी संदर्भ में हालिया प्रकाशित लघुकथा संग्रह 'खिड़की' को भी देखा जा सकता है जिसे लिखा है कवयित्री और लघुकथाकार यशोधरा भटनागर जी ने। संस्मय प्रकाशन से प्रकाशित इस संग्रह में नवासी लघुकथाएँ संकलित हैं और प्राय: सभी कथाओं में सामाजिक विसंगति, समाज के अंतर्विरोध, मानवीय मूल्य, समाज का वर्ग चरित्र, मानवीय रिश्तों एवं संबंधों का क्षरण साफ-साफ दिखाई देता है। कह सकते हैं कि यशोधरा जी का यह लघुकथा संग्रह दरकते मानवीय संबंधों एवं बदलते सामाजिक स्वरूप का कच्चा चिट्ठा है।

पुस्तक : खिड़की
लेखक : यशोधरा भटनागर
प्रकाशक : संस्मय प्रकाशन, 8, सीएससी, ए डी ब्लॉक, शालीमार बाग, नई दिल्ली-110088
मूल्य : मूल्य 220 /- रु.

बढ़ते बाजारवाद और उपभोक्तावाद के दौर में हमारे जीवन मूल्य जैसे विलुप्त होते जा रहे हैं। ऐसे में उन्हीं चीजों की महत्ता शेष बची दिखाई दे रही है जो बाजार एवं व्यापार के मार्ग में सहायक हैं। और जो अवरोधक हैं उन्हें ठोकर मार कर रास्ते से हटा दिया जा रहा है। ऐसा इसीलिए है कि विकास एवं सारी दुनिया को मुट्ठी में कैद कर लेने की मानसिकता से उपजी अवधारणा के केंद्र में न मनुष्य है और न ही मानवीयता। बदलाव की इस विवशता और व्यापकता को यशोधरा जी ने अपने नजरिए से देखने की सार्थक कोशिश की है।

'घंटी' नामक लघुकथा में सड़क पार रहने वाले बेटा-बहू भूल कर भी अपनी अम्मा के पास झाँकने तक नहीं आते। मंदिर में संध्या वंदन के समय जब घंटी बजाती हैं तो उन्हें भी कहीं न कहीं बजने का एहसास होता रहता है। हारी-बीमारी झेलती अम्मा के पास बिटिया का फोन जरूर आ जाता है जिससे अम्मा अपना सुख-दुख बाँट लेती हैं। कोरोना जैसी वैश्विक महामारी ने तो जैसे हमारे पहले से ही दरकते पारिवारिक, सामाजिक संबंधों को और हवा दे दी है। लगता है जैसे हमारे बेहद आत्मीय एवं खून के रिश्ते भी क्वॉरेंटाइन होते जा रहे हैं। संग्रह में करीब सात लघुकथाएँ कोरोना विपदा पर ही आधारित हैं।

परिवार में, समाज में बुजुर्गों की दुर्दशा पर भी कई लघुकथाएँ हैं। परिवार के बड़े-बुजुर्गों को भी नई पीढ़ी 'डस्टबिन' समझ रही है, जबकि वे हमारे विकास का, हमारे संस्कार एवं हमारे जीवन का आधार हैं। उन्हीं के त्याग पर टिका है हमारा वर्तमान। बदलते सामाजिक परिवेश में नई पीढ़ी यह सब नहीं समझ रही है जो चिंता की बात है।

यशोधरा जी की अंतर्दृष्टि बहुत गहरी है और नजर बिल्कुल पैनी। निर्जीव वस्तुओं के माध्यम से भी वह हमारे समाज में एवं आसपास परिवेश में व्याप्त विसंगतियों एवं अंतर्विरोधों को भाँप लेती हैं। 'ढोल, कबाड़, डस्टबिन, घड़ी, हलवा, मटके, सर्कल, बूट, आँगन, चार दीवारें, फोल्डर, ब्रिज, तारा, पोखर, घंटी, पराली, माटी, चूल्हा, रोटी, घर' जैसी कुछ अन्य लघुकथाओं को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है।

संग्रह की कथाओं को व्यक्ति विशेष के अंतर्मन के भाव एवं विचारों के आत्मालोचन की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है। उन्नत तकनीक किस तरह मनुष्य को संवेदना से दूर करती हुई अमानवीय बनाती जा रही है, इन लघुकथाओं को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वार्थ भाव के कारण सिमटते जा रहे रिश्तों की करुण व्यथा की दुनिया में अंतर्मन की 'खिड़की' से झाँकने की सार्थक कोशिश है यह संग्रह।

कुल मिलाकर संग्रह में संकलित लघुकथाओं के माध्यम से वृहद संदेश देने की एक सफल कोशिश दिखती है। यह समय की नब्ज को टटोलने वाला संग्रह है। नब्ज टटोलते समय कथाकार का ईमानदार प्रयास साफ-साफ दिखाई देता है। लघुकथा की सीमा के भीतर अपने समय को उसकी पूर्णता में देखने का प्रयास बेहद सार्थक है। भाषा, शिल्प और कंटेंट बेजोड़ हैं और मानसिक वेदना को शब्दों में बहुत ही खूबसूरती से ढाला है यशोधरा जी ने।

संपादक, लोकसभा सचिवालय,
भारतीय संसद
717, लक्ष्मीबाई नगर,
नई दिल्ली-110023

वनगमन

- प्रदीप कुमार श्रीवास्तव

साहित्य भूमि प्रकाशन नई दिल्ली से 2022 में प्रकाशित वन गमन श्री गोवर्धन यादव का प्रथम वृहत संग्रह है, जिसने 171 पृष्ठों में विस्तार पाया है। जिनमें दो भूमिका आलेख एवं लेखकीय प्रतिवेदन सम्मिलित है। वनगमन-भगवान राम की कथा है और उन्होंने एक पत्नी व्रत लिया था, इस नाते श्री गोवर्धन यादव जी द्वारा अपनी स्वर्गीय पत्नी श्रीमती शकुन्तला यादव जी को पुस्तक समर्पित करना नि:संदेह उनकी भावनाओं की श्रेष्ठ एवं सुन्दर अभिव्यक्ति है, जो बेहद खूबसूरत एवं प्रशंसनीय है।

जहाँ एक ओर भगवान राम अवतारी मानव थे तो वहीं भगवान कृष्ण को भी यही दर्जा प्राप्त है। वनगमन भगवान राम के जीवन के एक कालखंड को चित्रित करती है और चित्रण करने वाले स्वयं गोवर्धन (कृष्ण का पर्यायवाची नाम) और उसपर सोने पे सुहागा यादव हैं तो कौन कथा की सुगमता, सरलता, सच्चाई, ईमानदारी, विश्वास और दृष्टिकोण पर प्रश्न चिह्न लगाएगा? भगवान् राम का जितना पारदर्शी व्यक्तित्व है उतना ही गोवर्धन यादव जी का सीधा एवं सरल प्रस्तुतीकरण संप्रेषणीयता में इसे और सुगम बनाता है।

पुस्तक : वनगमन
लेखक : गोवर्धन यादव
प्रकाशक : साहित्य भूमि प्रकाशन नई दिल्ली

वनगमन, सर्वविदित वही पृष्ठभूमि है जिसमें भगवान के राज्याभिषेक की तैयारी के साथ घटते घटनाक्रम समाहित हैं। जिसकी परिणिति भगवान के अयोध्या से गमन और चित्रकूट पहुँचने तक की रोचक प्रस्तुति है। परिवर्तन जीवन का अभिन्न अंग हैं और उस होने वाले परिवर्तन को जान पाना साधारण मानव के वश में नहीं, लेकिन भगवान राम तो स्वयं अवतारी मानव थे। पृथ्वी पर अवतरण उनका सहज नहीं सोद्धेश्य था। ऐसे में होनेवाले सभी घटनाक्रम एक सुनियोजित योजना का हिस्सा लगते हैं जिनका सफल एवं कुशल संचालन विधाता द्वारा किया जा रहा था और भगवान इससे अनभिज्ञ हो ऐसा मानना लघुतम सोच को परिलक्षित करता है। पुस्तक में गोवर्धन यादव जी इस लघुतम सोच का परित्याग करते दिखते हैं। वे बलपूर्वक अपनी असहमति दर्शाते हैं कि मंथरा जैसी दासी की समझ एवं पहुँच के बाहर की यह बात है कि वे कैकई जैसी वीरांगना की मतिभ्रष्ट कर सके। कथावस्तु का आधार यही है या यूँ कहें कथा का यही केंद्र बिंदु है। यूँ तो विभिन्न घटनाक्रम को समाहित किये हुए यह पुस्तक चित्रकूट पर विश्राम करने लगती है, लेकिन मुझे लगता है कि पूरी पुस्तक में केवल एक रात की ही कथा है। वह रात, जिसमें समय का ऐसा चक्र चला जिसने एक अनोखा इतिहास रचा, जो अमर हो गया। एक रात में होने वाले व्यवस्था के परिवर्तन पर आधारित सुप्रसिद्ध लेखक चाणक्य सेन का उपन्यास 'मुख्यमंत्री' याद आ गया, जिसमें एक मुख्यमंत्री को दूसरे दिन अपना बहुमत सिद्ध करना है और उस रात जो जोड़-तोड़, राजनीति एवं हठधर्मिता का चित्रण चाणक्य सेन ने किया है, लगभग उसी तरह गोवर्धन यादव ने भी एक रात के उन रहस्यों को अपने अनोखे अंदाज में उजागर करने का प्रयास किया है, जिसमें तात्कालिक स्थितियों और उनसे उपजे सभी प्रश्नों की प्रस्थापना एवं समाधान के लिए किए गए राजनैतिक और कूटनीतिक क्रियाकलाप सम्मिलित हैं।

महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण हो या गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस दोनों का प्रभाव जनमानस पर बहुत गहरा है। महर्षि वाल्मीकि समकालीन होने के कारण उनकी प्रस्तुति में स्वाभाविकता एवं वास्तविकता की सुन्दर अभिव्यक्ति है, जबकि तुलसीदास जी भगवान राम के अनन्य उपासक एवं भक्त थे, तो स्वाभाविक रूप से उनकी प्रस्तुति में श्रद्धा भक्ति की प्रचुरता है। राम जी की वाल्मीकि जी से भेंट का लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में उल्लेख किया है। चित्रकूट में प्रवेश के बाद भगवान राम महर्षि वाल्मीकि जी से जो कहते हैं वह देखने में तो साधारण वार्तालाप लगता है, लेकिन जाने कितने अर्थों को अपने आप में समाहित किये हुए है। राम जी वाल्मीकि जी से कहते हैं-'हे महाभाग आपने तो काफी समय पूर्व ही मेरे लिए पटकथा लिख दी है। राम उसके अनुसार सफल अभिनय भी कर रहा है। मैं आपके इस पवित्र पावन पर्णकुटी से कुछ दूरी पर रहकर निवास करना चाहता हूँ। वसंत ऋतु के चलते चित्रकूट इस समय मुझे बड़ा ही मनभावन लग रहा है। इस स्थान पर आकर मैं अपने सारे संताप भूल चुका हूँ। अत: आप मुझे यहीं निवास करने की आज्ञा प्रदान करें।' **(पृ. क्र.159)**

भगवान् राम के विराट व्यक्तित्व एवं चरित्र की थाह पाना मानव मात्र के लिए संभव नहीं है। व्यक्तित्व की सरलता जितनी उल्लेखनीय है वहीं उसकी विशालता हर किसी को अचंभित कर देती है। इसीलिए मानव मात्र को यह अटूट श्रद्धा से भर देता है। विभिन्न भाषाओं में अनेकानेक ग्रन्थ, टीकाएँ, आलेख आदि जाने कितना ही विपुल भण्डार उपलब्ध है। न जाने कितने कथा वाचक राम महिमा का बखान प्रति दिन करते हैं।

एक स्वाभाविक प्रश्न पाठकों के मन में उठता है कि जब इतना प्रचुर साहित्य भगवान राम की महिमा में उपलब्ध है, तो ऐसा क्या है जो वनगमन के माध्यम से लेखक पाठकों तक पहुँचाना चाहता है? नि:संदेह यह विचारणीय है। देखा जाए तो आज विभिन्न माध्यमों (दृश्य एवं श्रव्य) से जितनी भी कथाएँ हम तक पहुँच रही हैं, मुझे लगता है उन सब में आधारभूत ग्रन्थ रामायण, रामचरितमानस और उत्तर रामायण ही हैं। 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' कोई यदि आधार माने तो हर लेखक जब अपनी प्रस्तुति देता है तो निश्चित ही दृष्टिकोण का अंतर, वैचारिक पृष्ठभूमि, प्रस्तुति में विभिन्नता हर प्रस्तुति को नया स्वरूप प्रदान करती है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण होता है पाठकों की स्वीकार्यता। लेखक की सफलता पाठकों की स्वीकार्यता पर निर्भर करती है और जो पाठक को रोचक प्रस्तुति से आकर्षित करता है। पाठक की पसंद भी वही बनता है। गोवर्धन यादव जी का यही प्रयास वनगमन में घनीभूत होते दिखता है। चिरपरिचित घटनाओं की अनुभूति का यह बदलाव पाठक को नि:संदेह पसंद आयेगा।

पुस्तक को पढ़ते समय मुझे दो बातें विशेषरूप से उल्लेखनीय लगीं। पहली-वृहत एवं तार्किक विश्लेषण साथ ही दूसरी-तब के वातावरण, प्रकृति की नैसर्गिकता और उनका तत्कालीन स्थितियों पर पड़ने वाला प्रभाव। इस सबमें लेखक की परिमार्जित सोच एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने इसे ज्यादा प्रभावी एवं उल्लेखनीय बना दिया है। सूक्ष्तम विश्लेषण में जब भगवान राम, लक्ष्मण जी एवं सीता जी को चित्रकूट में महर्षि, देवर्षि, ऋषि, मुनि, संत, महात्मा, साधु, योगी और सिद्ध की परिभाषा को स्पष्ट करते हैं तो यह पूरा संवाद महत्त्वपूर्ण बन पड़ता है। यह निश्चित ही युवा पाठकों के ज्ञानवर्धन में उपयोगी साबित होगा **(पृ. क्र. 152-153)**। यहाँ लेखक का गहन अध्ययन भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

लेखक का मानना है कि वनगमन एक यात्रा है। यात्रा का पर्याय है और यह यात्रा अकारण नहीं सोद्देश्य है, जिसमें देश को जानना, देश को पहचानने की आकांक्षा की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है। यात्रा की विशेषता यह है कि इसमें लक्ष्य का निर्धारण करने के बाद, नीति निर्धारण किया गया और उसे व्यवस्थित करने लिए यह दर्शाया गया कि जैसे सब कुछ अव्यवस्थित है, जबकि वास्तविकता इस दर्शाए गए चित्र से सर्वथा परे थी और यही परिस्थिति की सुन्दरता थी या यूँ कहें की सौन्दर्यपूर्ण पारिस्थितिक अभिव्यक्ति एवं क्रियान्वयन का अनूठा उदाहरण जन-जन तक पहुँचाने की चेष्टा लेखक द्वारा की गई है।

गोवर्धन यादव जी ने जिस तरह तथ्यात्मक विश्लेषण के साथ घटनाक्रम में धार्मिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश किया है, वह प्रशंसनीय है। पुस्तक का प्रारम्भ ही उन्होंने अयोध्या के वैभव से किया लेकिन इसकी अक्षुण्णता के लिए उन्हें अयोध्या के भविष्य की भी चिंता ने आ घेरा। कान के पास आये सफेद बालों की झलक एक युग की समाप्ति का संकेत देने लगे तथा नए युग को अभिलेखित करने की प्रेरणा भी। दरअसल महाराज दशरथ की उस समय की सोच भावी राजनैतिक परिदृश्य के लिए एक दिशा निर्धारण थी। लेकिन समय कहीं कुछ और ही अपने अंतर में छुपाये हुए था। तभी तो तमाम तुलनात्मक अध्ययन के बाद निर्णीत भगवान राम को होने वाले पारिस्थितिक एवं चारित्रिक परिवर्तन ने प्रभावित कर दिया, क्या इसे बदला जा सकता था। यदि हाँ तो फिर यह संभव क्यों नहीं हुआ और यदि नहीं बदला जा सकता था तो यह नियति थी और नियति चक्र जिसके निर्देशों से संचालित एवं नियंत्रित होती है उसका नाम है विधाता। कहते हैं होनी को टाला नहीं जा सकता। देखा जाए तो हम भगवान राम को अवतारी मानव से परे साधारण मानव भी समझें, तो यह उनका प्रारब्ध ही होगा, जिसने उन्हें राजपाट से दूर वनगमन करा दिया। लेखक ने यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है की यह वनगमन जन कल्याण, सामाजिक उत्थान की भावना से किया गया सुनियोजित प्रयास है क्योंकि यदि यह नहीं होता तो फिर शोषित वर्ग की मुक्ति कैसे होती? लेखक का निश्चित रूप से इस हेतु ये एक सफल प्रयोग है।

राम कथा में हमेशा यह प्रश्न उठाता है कि कैकई जैसी माता, जिसने हमेशा भरत से ज्यादा राम पर अपना वात्सल्य छलकाया, वह अचानक इतनी निर्दयी, निष्ठुर कैसे हो सकती है? जिसे न जन भावना का ख्याल होगा, न ही पारिवारिक परिस्थितियों का। कहते हैं त्रिया चरित्र को भगवान भी नहीं समझ पाए, तब भी सामान्य सोच इस बात पर सहमत नहीं होगी की बिना किसी पूर्व पृष्ठभूमि के कैकई की समझ इतनी विध्वंसक कैसे हो गई? कोई परिवर्तन अकस्मात् नहीं आता, लेकिन राम के वन गमन की घटना अकस्मात् ही सामने आती है। सुबह राज्याभिषेक है और रात्रि के अंतिम प्रहर में यह निर्णय होता है कि राम वनगमन करेंगे। कहीं ना कहीं सहज और स्वाभाविक रूप से ग्राह्य नहीं होता। ऐसी क्या बात थी जिसने कैकई को खलनायिका का स्वरूप पाने में भी असहज नहीं किया। मुख्य रूप से यही वह घटनाक्रम था जिसने गोवर्धन यादव जी को मजबूर किया कि वे इस विषय पर अपने ढंग से घटनाक्रम के उस पक्ष पर अपनी लेखनी चलायें, जिसे सामान्य रूप से अभिव्यक्त नहीं किया गया। जैसे-जैसे यादव जी की कलम इस घटनाक्रम का सर्वथा अलग चित्रण करते हुए आगे बढ़ती है, उनकी लेखनी की सच्चाई पर विश्वास मजबूत होते जाता है।

दो महान ग्रन्थ रामायण और महाभारत जिसमें दो विशिष्ट चरित्र थे जिनको वास्तव में वो सम्मान नहीं दिया गया जिनके वे हकदार थे। रामायण में कैकई और महाभारत में कर्ण। सुप्रसिद्ध साहित्यकार शिवाजी सावंत नें अपने बहुचर्चित उपन्यास मृत्युन्जय में कर्ण की

सर्वथा अलग एवं तार्किक प्रस्तुति दी। मुझे लगता है कि वनगमन में लेखक ने कैकई का भी ऐसा ही चरित्र चित्रण किया है, जिसे पढ़ते हुए लगता है कि कैकेई कितनी महान थी जिन्होंने यह जानते हुए कि जो कुछ उन्हें करने के लिए कहा जा रहा है यदि उन्होंने किया तो कोई उन्हें माफ नहीं करेगा। उनका अपना पुत्र उनका विरोधी हो जाएगा। इतिहास उन्हें सदैव स्वार्थी, निर्दयी, निष्ठुर के रूप में कलंकित करेगा फिर भी उन्होंने ऐसा किया। यह चित्रण बरबस उस दूरदृष्टि को केंद्र में रख कर किया गया प्रतीत होता है, जहाँ जन कल्याण पर निहित स्वार्थ की भावना सर्वोपरि लगती है और खूबसूरती यह कि दिखे स्वार्थ पर अंतर्निहित हो जनकल्याण।

राम कैकई संवाद को तथ्यात्मक रूप से लेखक ने इस पुस्तक में जिस तरह से प्रस्तुत किया है, वह उनकी लेखकीय श्रेष्ठता को प्रदर्शित करती है, जहाँ उन्होंने राम द्वारा एक आभासी संसार का निर्माण करते हुए अपने मंतव्य से माता कैकई को न केवल अवगत कराया बल्कि सहमत भी कराया। लेखक कहते हैं 'माते मैं आपकी शरण में आया हूँ। कृपाकर आप मुझे इस चक्रव्यूह से बाहर निकालें। केवल और केवल आप ही यह उपक्रम कर सकती हैं दूसरा कोई नहीं।' (पृ. 44)।

'माते आप मेरे लिए चौदह साल का वनवास और भरत के लिए राज्याभिषेक का वर माँग लीजिये। बस यही एकमेव रास्ता बचता है मेरे लिए-राम ने कैकई से कहा।' (पृ. 45)

कैकेई ने इसे सहज स्वीकार नहीं किया उन्होंने भी इसका विरोध किया था जिसका सामान्यत: उल्लेख नहीं मिलता है-'राम ये क्या कह रहे हो तुम-तुमने ये कैसे सोच लिया की कैकई ऐसा भी कर सकती है? क्या वह सत्ता के लालच में इतना गिर सकती है? जिस राम को उसने अपने बेटे से ज्यादा स्नेह दिया लाड़-प्यार दिया, दुलार दिया, उसके लिए यह सब कैसे माँगे।' (पृ. 45)

कोई भी माँ अपनी संतान के लिए यह सब नहीं कर सकती और शायद यही कैकई का प्रतिरोध भी था लेकिन जब राम ने यह कहा की यह आवश्यक है। इसमें जगत कल्याण छुपा है तो ही कैकई ने अपनी सहमति दी। लेखक कहता है 'माते एक सामान्य मनुष्य भी यही सोचेगा जैसा कि आप सोच रही हैं, राम की माता होने के नाते आप को इतना छोटा नहीं सोचना चाहिये। हम जो इस चलते-फिरते संसार को देख रहे हैं यह मात्र एक सपने के सदृश्य है। समय बदलते ही दृश्य भी बदल जाते हैं। हम सब इतिहास का हिस्सा बन जाएँगे हम आज हैं कल कोई और रहेगा। यदि कोई बच रहेगा तो केवल देश और सनातन धर्म ही बच रहेगा।' (पृ. 46)

प्रसंगवश आगे राम कहते हैं-'रावण के बढ़ते अत्याचार से धरती काँप रही है। सारे देवगण उसके आतंक से भयभीत होकर यहाँ-वहाँ छिपकर रहने के लिए विवश हैं। यदि उस दुष्ट का संहार नहीं हो सका तो इस धरती पर दानव ही दानव होंगे-मानवता समूल नष्ट हो जायेगी आपके इन दो वरदानों में संसार का कल्याण छिपा है। अत: माते अपने मन मस्तिष्क से क्षुद्र विचारों को बाहर निकाल दें और जनकल्याण की भावना से आगे आयें। (पृ. 46)

लेखक ने एक अँधियारे पक्ष को अपनी लेखनी के माध्यम से प्रकाशवान किया है, जिसमें कैकई के सर्वविदित चरित्र को एक अलग स्वरूप प्रदान किया, जो इस वन गमन के माध्यम से चारित्रिक विशेषता के वास्तिविक रूप को जन-मानस तक पहुँचाने का सघन प्रयास है। जिस घटनाक्रम ने इतिहास बना दिया, जिसने कैकई जैसी माता को कलंक के अँधियारे पथ में धकेलकर बदनाम कर दिया, उसी कैकई के चरित्र के उजले पक्ष को जन-जन तक पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य लेखक ने किया है। लेखक ने अपने बुद्धिचातुर्य का प्रदर्शन करते हुए जब उन्होंने, राम के द्वारा आभासी संसार सृजित कर, कैकई-राम संवाद के माध्यम से, इस पूरे सांसारिक मायाजाल की रचना की, यह तात्कालिक परिस्थितियों में समय की माँग थी, वरना संसार का स्वरूप कुछ और ही होता, जो शायद सृष्टि का सर्वाधिक दुरूह काला अध्याय होता जिसमें सृष्टि से सभी सद्गुणों का समापन हो जाता। .

वनगमन की रचना के पीछे लेखक का जो मंतव्य मुझे समझ में आया कि वह इस बात को आम जन तक पहुँचाना चाहते थे कि कैकई दरअसल विधाता द्वारा रचित योजना के क्रियान्वयन की सशक्त माध्यम थी, लेकिन जिस ढंग से परिस्थिति की अनिवार्यता थी, कैकई ने सहज तमाम दुरूहता, दुर्गमता, एवं अपमान के साथ इसे स्वीकारा। उनकी इसी चारित्रिक विशेषता की तमाम अपमानजनक कालिख को पोंछकर उसे उज्जवल बनाने का प्रयास लेखक ने किया है। लेखक की इसी सोच ने इस चरित्र को परिमार्जित कर उज्जवल एवं उत्कृष्ट बना दिया। उज्जवल बनाने की प्रबल इच्छाशक्ति के अंतर्गत किया गया लेखक का यह प्रयास उल्लेखनीय है।

यदि भगवान राम दोनों वरदान लागू न करवाते तो वे सीमित दायरे में कैद हो जाते। एक राजा के रूप में अयोध्या ही उनका कार्यक्षेत्र बन जाता जो उनके अवतारी होने के प्रमुख उद्देश्य को ही समाप्त कर देता। इन दो वरदानों ने, जो कैकई ने हठपूर्वक लागू करवाये उसने ही राम को उन्हें इतना वृहत केनवास प्रदान किया। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जनमानस की नजरों में राम को राम बनाने का कार्य इसी माध्यम से पूर्ण हुआ। लेखक ने इसी भावना का वनगमन में खुलकर समर्थन किया, जिसने उनकी विकेन्द्रित दृष्टि को हर पहलू, हर घटना के साथ न्याय करने हेतु उत्साही बनाए रखा।

पुस्तक की एक विशेषता और है जो पाठक को हर क्षण, हर घटना से

जोड़े रखने में सफल हो पाती है, वह है स्थिति के साथ उस समय के वातावरण का मनभावन चित्रण, प्रकृति की सुन्दर मनभावन प्रस्तुति, काल परिवेश से सीधे पाठक को जोड़ देती है। लेखक ने प्रकृति का जो सुन्दर चित्रण किया है वह इस प्रकार है-'सूर्यास्त का समय हो चला था। आकाश में घिरा कुहासा अब धीरे-धीरे छटने लगा था। शीतल पवन मंद-मंद गति से प्रवाहमान होने लगी थी। पौधों पर ऊग आईं कलियाँ जो अब तक लाज के मारे घूँघट काढ़े हए थीं, अपनी मादक सुगंध को बिखराते हुए खिलने लगी थीं। भ्रमर जो अब तक अलसाया पड़ा था, आनंद मगन हो, मकरंद चुराने के लिए निकल पड़ा था। सरोवर का जल जो अब तक ठहरा हुआ था हिलोरें लेने लगा था। चिड़ियों के समूह और अन्य पक्षियों के दल अपनी-अपनी बोलियों में चहचहाते हुए तथा ऊँची-ऊँची उड़ान भरते हुए सामूहिक गाने गाकर, अपने आराध्य सूर्यदेव की अगवानी में निकल पड़े थे। शाखामृग कब पीछे रहने वाले थे। वे कभी इस डाली से उस डाली पर, तो कभी किसी अन्य डालियों पर उछल-कूद मचाने लगे थे। दाना-पानी की तलाश में बगुलों के दल निकल पड़े थे। सारी सृष्टि जो अबतक अलसाई-सी सोई पड़ी थी, प्रमुदित होकर मुस्कुराने लगी थी। **(पृ. 25)**

एक और बानगी इस तरह चित्रकूट पर्वत पर बड़ा ही रमणीय स्थल है इस पर्वत पर लंगूर, वानर और रीछ निवास करते हैं। बहुसंख्यक फल-मुलों से संपन्न। बड़ी संख्या में हिरणों के झुण्ड यहाँ-वहाँ विचरते, उछलते-कूदते देखे जा सकते हैं। वहाँ पवित्र मन्दाकिनी नदी, अनेकानेक जल स्रोत, पर्वत-शिखर, गुफाएँ, कंदराएँ तथा छल-छल के स्वर निनादित करते मन भावन झरने भी देखने मिलेंगे। जमीन पर घोंसला बनाकर रहने वाला पक्षी टीटीटुम (टिटहरी), पिविटीया (हरी चिड़िया भी कहते हैं) और स्वर साधिका कोकिला के मधुर कूक भी मनोरंजन करेंगे **(पृ.154)**

पुस्तक पर विहंगम दृष्टि डालते हुए यदि समग्रता पर केन्द्रित करें, तो नि:संदेह यह उत्तम कृति है जिसमें सम्पूर्ण राम चरिमानस के एक अंश, वनगमन पर केन्द्रित होकर उस विलक्षण घटना के मूल में छिपे उन गूढ़ार्थों को उजाकर करने का सफल प्रयास किया गया है, जिसके द्वारा राम को सृष्टि उद्धारक के अनूठे रूप में प्रस्तुत कर उन्हें सर्वमान्य अलौकिक स्वरूप क्यों मिला उसका तार्किक चित्रण उसे सारगर्भित प्रासंगिकता से जोड़ देता है। क्यों राम आज भी पूजनीय एवं प्रासंगिक हैं इसमें स्वेच्छा से वनगमन भी एक अभीष्ट कारण बन गया। पुस्तक में कैकई के चरित्र का अनूठा चित्रण जिसने कैकई के चरित्र पर लगे सभी कलंकों को हटाकर, उनके महान व्यक्तित्व की अविस्मरणीय छवि प्रस्तुत की है। देखा जाए तो शायद यही वास्तिविकता भी थी क्योंकि कैकई यदि अपने आप को उस परिस्थिति में कलंकित न करवाती, तो शायद रामायण सम्पूर्णता को प्राप्त न हो पाती। कैकई के उल्लेख तथा कालखंड के बिना वनगमन संभव नहीं था और तब राम की चारित्रिक विशेषता भी इस लोक के लिए कल्पना मात्र ही होती। इस नाते कैकई ने ही राम के द्वारा 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' के जन कल्याणकारी कार्य में प्रमुख सूत्रधार की भूमिका को अभिमंचित किया।

वनगमन पुस्तक में लेखक की लेखनी एवं सोच के विभिन्न पहलुओं से साक्षात्कार होता है। धार्मिक आस्था, सामाजिक समदृश्यता, मत विभिन्नता के बावजूद, जनकल्याणकारी सर्वोच्चता, चारित्रिक उत्थान विशेष पर कैकई की राजकीय एवं व्यक्तिगत प्रतिबद्धताएँ, परिस्थितियों के विश्लेषण की वैज्ञानिकता, मनोविज्ञानिक एवं दार्शनिक धरातल पर सोच एवं परिस्थितियों का अन्वेषण, विश्लेषण एवं समावेशन ने पुस्तक को विशिष्ट बना दिया है। यही वजह है कि वनगमन एक प्रभावी उपन्यास के रूप में सामने आता है।

लेखन कि उच्च परम्पराओं का निर्वाह करते हुए लेखक ने वनगमन के साथ पूर्ण न्याय किया है। धार्मिक प्रसंगों में होने वाले जोखिम को परे रखते हुए उन्होंने पुस्तक में सभी स्थितियों, परिस्थितियों को सहज एवं स्वाभाविक प्रस्तुतीकरण द्वारा इसे विवादित होने से बचाया है। जाने-पहचाने प्रसंगों को नए स्वरूप में पुन: पाकर पाठकों को यह रुचिकर लगेगा। ताजगी एवं प्रवाह इसे अंत तक पढ़ने हेतु पाठकों को उत्साहित करते रहेगा।

पाठकों के लिए पुस्तक नि:संदेह उत्साहवर्धक रहेगी, खासतौर पर राम के राम बनने की प्रारम्भिक स्थितियाँ, कैकई का सर्वथा विलक्षण चरित्र चित्रण, वातावरण के अनुकूल प्राकृतिक स्थितियों का चित्रण उपन्यास की उल्लेखनीय विशेषता है। कथ्य और शिल्प में लेखक ने अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखा है। हाँ, प्रकाशकीय भूल के अंतर्गत कहीं-कहीं प्रूफ की गलती से शब्दों के संयोजन में बाधाएँ आती हैं, लेकिन उनसे अर्थों में बदलाव नहीं होने से ज्यादा परेशान नहीं करती, फिर भी अगले संस्करण में सुधार अपेक्षित है। बावजूद इसके उल्लेखनीय है कि पुस्तक का कलेवर अच्छा बन पड़ा है।

वनगमन यद्यपि उपन्यास के प्रथम रूप में हम तक पहुँचा है किन्तु इसमें भी उन्होंने अपनी पूर्वस्थापित लेखकीय प्रतिभा का परिचय देते हुए इसे भी श्रेष्ठ प्रस्तुति बना दिया है, जो निश्चित ही पाठकों को अपनी रुचि के अनुकूल ही लगेगी और इसे वे अपनी परिमार्जित अभिरुचि का हिस्सा बनाएँगे। छोटे-छोटे शीर्षकों के माध्यम से की गई रचना रोचक बन पड़ी है। हर शीर्षक अपने आप में हर घटनाक्रम को पूर्णत: समाहित किये हुए है, जिससे पाठक आसानी से सामंजस्य स्थापित कर लेता है। कथावस्तु पाठक तक सहज रूप में पहुँचने में सफल है और इसे पाठक की स्वीकार्यता भी प्राप्त होगी।

डी-303, सिग्नेचर रेजीडेंसी
कोलार रोड, भोपाल-462042 (म.प्र.)

प्रबंध सुधाकर

- जया केतकी

धर्मपत्नी उमा को समर्पित श्री सुधाकर शर्मा जी का प्रबंध काव्य का शास्त्रीय विश्लेषण प्राप्त हुआ। जितेंद्र कुमार सिंह संजय ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस पुस्तक को साकार रूप दिया है। प्रभाश्री विश्व भारती प्रकाशन प्रयागराज द्वारा प्रकाशित यह प्रबंध काव्य 344 पृष्ठों में प्रबंध सुधाकर के नाम से संकलित है।

पुस्तक में एक ओर सुधाकर शर्मा जी के काव्य को संकलित किया गया है और दूसरी ओर उनकी सृजनात्मकता पर विद्वान दृष्टिकोण प्रकाशित है। पहले फ्लैप पर इंद्र बहादुर सिंह अपनी टिप्पणी में कहते हैं-जितेंद्र कुमार सिंह रामचंद्र शुक्ल की परंपरा के शास्त्रीय आलोचक एवं भावित्री प्रतिभा के उज्जवल प्रकाश से उनका विशाल वाङ्मय श्रीमंडित है। प्रस्तुत ग्रंथ प्रबंध सुधाकर में पंडित सुधाकर शर्मा को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य गुरु राजकवि प्रेम बिहारी पांचोलिया मुंशी अजमेरी प्रेम की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले उनके समर्थ वंशज और मेरे सुयोग्य शिष्य मानते हैं। वहीं दूसरे फ्लैप पर जितेंद्र कुमार सिंह संजय का साहित्यिक परिचय प्रस्तुत है।

पुस्तक : प्रबंध सुधाकर
लेखक : जितेंद्र कुमार सिंह संजय
प्रकाशक : प्रभाश्री विश्व भारती प्रकाशन
मूल्य : 1100/- रु.

जितेंद्र कुमार सिंह संजय द्वारा प्रस्तुत प्राणित्र वाक्य पढ़कर उनकी साइंस, संस्कृति और भाषा की पकड़ की विधा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। श्री जितेंद्र सिंह लिखते हैं कि किस तरह उनकी मुलाकात सुधाकर शर्मा जी से हुई और उनके अनेक गीत सुनने के बाद उनकी शैली से इस तरह प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी ऊर्जा इस प्रबंध काव्य को तैयार करने में लगा दी। म्यूजिक में आचार्य राजशेखर की टिप्पणी है कि संस्कृत आत्म वाला कवि किसी प्रकार काव्य की रचना तो कर सकता है पर काव्य पाठ वही कर सकता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो।

इसी के अंतर्गत सुधाकर शर्मा जी के अनेक गीतों का अंश प्रस्तुत करते हुए श्री जितेंद्र सिंह कहते हैं पंडित जी के प्रबंध काव्य की पृष्ठभूमि को देखने की मैट्रिक शास्त्रीय दृष्टि है। पंडित जी के प्रबंध काव्य केवल वही नहीं हैं जो इस दृष्टि से दिखाई पड़ रहे हैं, इस दृष्टि के नेपथ्य में भी पंडित जी के प्रबंध काव्य का विस्तार है। यह विश्लेषण केवल अर्थ है और इसकी आईटीआई भविष्य के अध्ययनों के हाथ में है। सुधाकर जी के कवि कर्म की यह अंतिम कसौटी नहीं है। उन्होंने जितना रचा है उसका केवल एक अंश मात्र प्रकाशित है। पुस्तक का प्रारंभ प्रबंध चतुर्थी की पृष्ठभूमि से होता है।

शीर्षकों की बात करें तो पहले ही शीर्षक मंथरा, पाषाणी, रत्नावली, अश्वत्थामा सभी विशेष पौराणिक पात्र हैं। लौकिक सम्बन्ध को पौराणिक आख्यानों के दर्पण से इतर हटकर सुधाकर जी की दृष्टि से ही देखा जा सकता है-

राम रस रंग रचाये री!
उतर देवता भू पर आये दर्शनार्थ सुध-बुध बिसराये
धरनि धूरि मुख में मुट्ठी भरि
राम रिझाये री!
राम रस रंग रचाये री!
शिशुलीला के कौतुक सारे निरख निरख नैना मतवारे
हास - लास-उल्लास
अँजोये हिय हुलसाये री!
राम रस रंग रचाये री!
जिनकी महिमा वेद बखाने उनके बोल-वचन तुतलाने
गूढ़ साधना के रहस्य को सहज सुझाये री!
राम रस रंग रचाये री!

पंचम पर्व में राम अपने अनुजों के साथ गुरुकुल जाते हैं और जिस तरह बाबा तुलसी के राम 'अल्पकाल विद्या सब आयी' से विभूषित होते हैं, उसी तरह सुधाकर जी के राम 'गुरु वसिष्ठ धन विद्या आगर; शिष्य बन विद्यासागर!' को चरितार्थ करते हैं। गुरुकुल से लौटने के बाद मह विश्वामित्र के यज्ञरक्षार्थ राम-लक्ष्मण तपोवन जाते हैं। ताड़का का वध करते हैं। वहीं से आगे मिथिला-नरेश शीलध्वज जनक के निमन्त्रण पर सीत स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए गुरु विश्वामित्र के संग दोनों भाई मिथिला की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। इस यात्रा का मध्यबिन्दु पण्डित सुधाकर शर्मा के दूसरे प्रबन्धकाव्य का मुक्ति प्रद मुक्तक है। भुक्ति देनेवाली भुक्ता है और मुदिता भी है। कवि ने कहा है-

ललित रूप लावण्या नारी- है आधार जगत् का।
वर्तमान की अधिष्ठातृ औ शुचि विस्तार विगत का।।
भावी जिसकी भाव भंगिमा, जैसी सरस सुधा है।
आगत की अक्षय पयनिधि वह रति की क्षरित क्षुधा है।।
कलित कामिनी स्वर्गस्वामिनी, भुवनभामिनी नारी। नर क्या? नारायण भी ऋण से, उऋण नहीं, आभारी।।

रूप-रंग-रस के वश बरबस, की गर्हित मानसिकतावाले नराधम समाज रूप से घूम रहे हैं, तब कवि अपने समय के समाज से पूछता है-

अब तक भोग्य वस्तु ही समझा-
पुरुषों ने नारी को।
यह कैसा विधि का विधान है?
नारी का क्या यही मान है?
विषम विसंगतियुत् समाज में,
नारी से नर क्यों प्रधान है?
सींच रक्त से, रखे कोख में,
असह वेदना सहकर।
वही पुरुषत्व दिखाता,
श्रद्धा-अधिकारी को?

पुरुष के अपराध का दण्ड स्त्री भुगते, यह कहाँ का न्याय है? या इन्द्र थे, तो फिर अहल्या शापित क्यों हुई? कवि ने अपनी भूमिका गौतम के ऋषित्व पर भी प्रश्नचिह्न अंकित करते हुए लिखा है हल्या के साथ इन्द्र छलपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करता है, अहल्या न तो इसके लिए आमन्त्रित करती है और न ही उसकी बोधगम्य सहमति रह इस दुष्कर्म में। फिर भला अहल्या को 'पाषाणी' होने का शाप क्यों? तम ऋषि अपनी तप:साधन से दक्षिण में गौतमी गंगा 'गोदावरी' प्रवाहित है। कवि ने बड़े मनोहारी शब्दों में लिखा है-

तुलसीदास भाव-विह्वल हैं।
द्वैत और अद्वैत एक है

फिर क्यों यह मोहातिरेक है?
क्रूर ग्रहों के भाव प्रबल हैं?
तुलसीदास भाव-विह्वल हैं।।

कौन राग अनुराग गा रहा ?
कैसा भावोद्वेग छा रहा?

होनी-अनहोनी के छल हैं?
तुलसीदास भाव-विह्वल हैं ।।

काम नहीं आ रहा ज्ञान कुछ
उचटा उचटा लगे ध्यान कुछ
यद्यपि सियाराम सम्बल हैं।
तुलसीदास भाव-विह्वल हैं।।

तुलसी बाबा की स्मृतियों में रत्नावली छा जाती हैं। वे स्वयं सम्पूर्ण वसुन्धरा पण्डित सुधाकर शर्मा लिखते हैं-

कर देना चाहता है। उसे अनुदानित
दिग्दिगन्त में सिंहनाद - सा एक शब्द ही अनुगुंजित है।
रक्त! रक्त! बस रक्त! रक्त रणचण्डी का रव।

ऋषियों ने एक अक्षौहिणी सेना को परिभाषित करते हुए

अयुतं च नागास्त्रिगुणी रथानां लक्षैक योद्धा दशलक्षवाजिनाम्।
पदाति संख्या षट्त्रंशकोटयः अक्षौहिणीनां मुनयो वदन्ति ।। 121

सुधाकर शर्मा का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है जब वह गीत पढ़ते हैं। उनके अंतर मन की धारा अवतरित होती दिखाई पड़ती है। उन्होंने जो प्रबंध काव्य लिखा है उसके विषय ही इतने मनमोहक हैं जिन पर बहुत कम बात की गई है। ऐसे पौराणिक व्यक्तित्व पर उन्होंने लिखा है जिन पर बात करना आवश्यक लगता है। मथरा, पाषाणी, रत्नावली और अश्वत्थामा।

इस पुस्तक में सुधाकर शर्मा जी के विभिन्न विद्वानों के साथ मुलाकात के चित्र भी लगाए हैं जिससे उनके व्यक्तित्व की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। पृष्ठ 144 पर वे लिखते हैं -

लोक भले दे तुझे लांछना,
पर हैं देव कृतज्ञ।
अनुष्ठान है तेरी वाणी,
तेरा जीवन यज्ञ।

मंगलनाद में वे लिखते हैं -

राम, तुम भी क्या निष्ठुर हो?
दीनबंधु अरु दयासिंधु तुम कहलाते हो
हे करुणानिधान तुम करुणा बरसते हो
शरणागत के लिए सदा दौड़े आते हो
ऋषि-मुनि-गुनि
कहते किधरा के तुम्हीं धर्मधुर हो
बिना तुम्हारी इच्छा के पत्ता हिल पता है
रामकाज करने वाला तो पूजा जाता है
लांछनाओं से त्रस्त मंथरा
त्याज्य तिरस्कृत क्यों
कवि का तुमसे
यही प्रश्न है काव्यातुर हो

मंथरा की बात करें तो गीतकार सुधाकर जी ने उसे कुलटा का प्रतिरूप नहीं मातृत्व का प्रतिरूप बताया है। उन्होंने अपनी रचना में प्रस्तुत किया है कि किस तरह से मंथरा रामचंद्र को हृदय लगाती और अपनी छाती से ममता सरसाती थी। सुधाकर जी की मंथरा मंदमति नहीं है वह तो अति विदुषी नारी है। कैकई को परामर्श देती है उनका अनुराग करती है और त्यागिनी है। मंथरा जानती है कि दशरथ नंदन राम साक्षात् परम स्वरूप विष्णु के अवतार हैं तभी तो वह कहते हैं

सेवा और सुश्रूषा करती
निज सौभाग्य सराहा करती . . .
सदा राम के रंग राचती
अवधूता-सी उमग नाचती। (पृ.36)

पाषाणी

गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या पर आधारित है यह भाग। अहल्या के पाषाणी बने और राम के स्पर्श से उनका उद्धार होने की कथा के उदाहरण अनेक स्थान पर इस पुस्तक में दृष्टव्य हैं। कथासरित सागर, वाल्मीकि रामायण आदि के तथ्यों का उल्लेख भी किया है। कवि ने अपने विचार इस रूप में रखे हैं-

ललित रूप लावण्या नारी
है आधार जगत का
वर्तमान की अधिष्ठातृ औ'
शुचि विस्तार विगत का
भावी जिसकी भाव भंगिमा,
जैसी सरस सुधा है।
आगत की अक्षय पयनिधि वह
रति की क्षरित क्षुधा है।
कलित कामिनी स्वर्गस्वामिनी
भुवनभ्भाविनी नारी
नर क्या? नारायण भी ऋण से
उऋण नहीं आभारी।
रूप रंग रस के वश बरबस
पौरुष प्रमद प्रमुदता
नवरस की निर्झरिणी नारी
मुक्ति भुक्ति मुदता।

रत्नावली

तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के कारण ही रामचरितमानस और अन्य तुलसी काव्य क काश राजन हुआ। उनके बारे में कौन नहीं जानता। वे तुलसीदास जी के हृदय परिवर्तन का निमित्त बनी। कवि बड़े मनोहरी शब्दों में लिखते हैं-

तुलसीदास भाव विह्वल हैं
द्वेत और अद्वैत एक है
फिर क्यों यह मोहातिरेक है
क्रूर ग्रहों के भाव प्रबल हैं
तुलसीदास भाव विह्वल हैं
कौन राग-अनुराग गा रहा?
कैसा भावोद्वेग छा रहा?
होनी-अनहोनी के छल हैं
तुलसीदास भाव विह्वल हैं।
काम नहीं आ रहा ज्ञान कुछ
उचटा उचटा लगे ध्यान कुछ
यद्यपि सियाराम संबल हैं
तुलसीदास भाव विह्वल हैं।

अश्वत्थामा

पंडित सुधाकर शर्मा का चतुर्थ प्रबंध काव्य **अश्वत्थामा** एक ऐसे पौराणिक पात्र पर केंद्रित है जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य का पुत्र, शंकर का अंश, स्वयं अप्रतिहत महारथी, सप्त चिरंजीवियों में प्रथम गणनीय है। महाभारत के प्रमुख चरित्र के रूप में पहचाने जाने वाला अश्वत्थामा। जब संपूर्ण वसुंधरा रक्त रंजित हो गई उसके बारे में पंडित सुधाकर शर्मा लिखते हैं-

दिग दिगंत में
सिंहनाद- सा
एक शब्द ही अनुगुंजित है
रक्त!
रक्त! बस रक्त!
रक्त रण चंडी का रव।

पुस्तक के पृष्ठ 319 से 344 तक विशेष परिशिष्ट है जिसके अंतर्गत विभिन्न रचनाकारों की वक्तव्य हैं जैसे बालकवि बैरागी श्रीमती वसुंधरा व्यास डीआर समर सिंह शैलेश आदि ने सुधाकर जी के कृतित्व के बारे में विस्तार से लिखा है।

पत्रांश

'अक्षरा' का 224 वाँ अंक नवंबर 2023 आपके संपादकीय के साथ-साथ पठनीय तो है ही प्रशंसनीय भी है। आप जब संपादकीय लिखते हैं तो संबंधित विषय का हर पहलू स्पर्श कर लेते हैं। संदर्भ सहित उल्लेख और प्रमाण सहित प्रस्तुति आपकी विशेषता है। इस बार के संपादकीय में अपने संवेदना से आरंभ करके 'और भी गम हैं जमाने में नफरत के सिवा' पर समाप्त किया है। आरंभ से समापन तक आपने फिलस्तीन, इजरायल, यहूदी कश्मीरी पंडित, जोधपुर लांसर्स और स्वरा भास्कर से लेकर नाडव लैपिड पर इस तरह लिखा है कि शब्द-शब्द न रहकर विजुअल्स हो गए हैं अर्थात् अब आपकी कलम रूपी कैमरे की नजर में है। बहुत झकझोरता है आपका यह संपादकीय। कविताएँ और आलेख अच्छे हैं। समीक्षाएँ पठनीय हैं। खास तौर से जया केतकी जी ने नवगीतकार स्व. विनोद निगम पर समीक्षा में अच्छी टिप्पणियाँ की हैं।

- अजहर हाशमी, रतलाम (म.प्र.)

प्रतिक्रिया

- अशोक धमेनियाँ

अक्षरा का सुगंधित अंक-माह नवंबर-23 अंक हस्तगत हुआ। आवरण आकर्षक है और दीपावली के दीपक की लौ के साथ संपूर्ण पत्रिका आभा बिखेर रही है। किसी भी पत्रिका का हृदय उसकी संपादकीय होती है। सदा की तरह संपादकीय की धड़कन समूची पत्रिका में रक्त प्रवाह का कार्य करती आ रही है। पत्रिका अपने नाम को साकार कर रही है। वर्तमान संपादकीय समसामयिक महत्त्वपूर्ण विषय पर है। पाठक संपादकीय को एकाग्र होकर पढ़ने के लिए आतुर हो उठता है। इसराइल और हमास के बीच चल रहे युद्ध और भारत के नजरिए का विवरण आपकी कलम ही लिख सकती है। आतंकियों की आसुरी प्रवृत्ति, यहूदियों द्वारा दीर्घकाल तक झेली गई त्रासदी और घृणा, इजरायल के जन्म लेते ही उस पर अरब देशों का आक्रमण, क्या उसे क्रूरतापूर्वक सताए जाने के लिए पर्याप्त सबूत नहीं है।

भारत तो -'सर्वे भवंतु सुखिना----' के भाव वाला देश है। इसीलिए भारत में आने पर भारतवासियों द्वारा उनका भावभीना स्वागत किया गया। अर्थात् विषम समय में भारत ने सहायता की। ऐसे समय में सहयोग करने वाला ईश्वर की श्रेणी का कहलाता है। यहूदियों को भारत में जो सम्मान मिला, उसके लिए उनकी अनुवांशिकी में भारत के लिए कृतज्ञता का भाव है। श्री मनोज श्रीवास्तव जी की संपादकीय यथार्थ को अपनी कलम से उकेरने में सफल हुई है। श्री अजीत वाडेकर जी का लेख 'मुनादी के बहाने' में नाद और नाज , शीतल और भद्र, धारा और प्रवाह, निर्झर और गर्जन, नदी और नद, को बड़े ही सुंदर तरीके से व्याख्या करता है। वहीं श्री रामेश्वर पंकज जी का लेख संपत्ति विभाजन के शास्त्रीय नियम में विभिन्न तरीके से उत्पन्न संतानों को पुत्र के समान ही माना गया है। सभी ऐसी संतानों के बीच संपत्ति के बँटवारे को भी सही ठहराया गया है। यह लेख वास्तव में नई जानकारी से पाठक को अवगत कराता है। जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित होता है। इस लेख का आधार शास्त्रीय नियम है। कुसुमलता केडिया जी के द्वारा तीर्थ की यात्रा का महत्व, युधिष्ठिर और देवर्षि नारद की वार्ता से प्रारंभ करते हुए लिखा है कि तीर्थ यात्रा का फल ऐसे व्यक्ति को ही मिलता है जो अहंकार रहित होकर तीर्थ यात्रा करता है, जो अल्पाहारी और अपरग्रही होकर तीर्थ में जाता है। बड़े-बड़े अग्निष्टोम आदि यज्ञों द्वारा भजन करने से मिलने वाले फल से भी अधिक फल तीर्थ यात्रा से मिलता है। उन्होंने बहुत कुछ स्थान जैसे -पुष्कर तीर्थ, जम्बु मार्ग, अगस्त्य सरोवर, कण्व आश्रम, महाकाल तीर्थ, तीर्थराज प्रयाग, नर्मदा तट, दक्षिण समुद्र की यात्रा, प्रभास तीर्थ , सरस्वती-समुद्र तीर्थ संगम, वरुण तीर्थ, द्वारका तीर्थ , काशी, अयोध्या, चित्रकूट, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ स्थानों का महत्व बताया है। इतना अवश्य है कि श्रीमद् रामचरितमानस में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं -'कलयुग केवल नाम अधारा, सुमिर-सुमिर नर उतरहिं पारा।' मलाला यूसुफजई एक बहुचर्चित नाम है। जिन्होंने बालिकाओं की शिक्षा के लिए काम किया। उन्हें पाकिस्तान में वर्ष 2012 में स्कूल जाते समय तालिबान ने गोली मार दी थी पर भगवान कहें या अल्लाह की कृपा से वह बच गई। तालिबान बालिकाओं की शिक्षा का सख्त विरोधी है। वह तो स्त्री जाति के लिए बुर्का पद्धति का हिमायती है। इसीलिए 12 जुलाई को 'मलाला दिवस' के रूप में मनाया जाता है । संयुक्त राष्ट्र के विशेष दूत द्वारा शाला शुरुआत की दुनिया के सहयोग से संयुक्त राष्ट्र युवा सभा का आयोजन किया गया था। मलाला यूसुफजई के द्वारा दिए गए भाषण का अनुवाद विभा खरे जी द्वारा किया गया है। विभा खरे जी का यह कार्य श्रेयस्कर है। हिंदी को अभी तक राष्ट्रभाषा न बन पाने की कसक प्रायः सभी देशवासियों के जहन में है। महात्मा गाँधी जी के द्वारा तो कहा गया था कि जिस देश की स्वयं की राष्ट्रभाषा नहीं होती, वह राष्ट्रगूंगा होता है। वह प्रगति पथ पर नहीं बढ़ सकता। वह हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के प्रबल पक्षधर थे। पर पता नहीं कि किस ग्रह के कारण यह पुनीत कार्य उस समय नहीं हो पाया। श्री अंबिका दत्त शर्मा जी का आलेख %हिंदी बने वैचारिक स्वराज की भाषा% स्पष्ट रूप से इन्हीं विचारों की वकालत करता है। विचारों का स्वराज, राज्य भाषा का स्वराज एक हों तो बहुभाषी भारत में इसकी उत्तराधिकारी हिंदी ही हो सकती है । 'काल के भाल पर इक सदी की तरह : रामदरश मिश्र' पर श्री ओम निश्चल जी का आलेख ठाकुर प्रसाद सिंह, गिरधर गोपाल के 'चांदनी और चूनर' उपन्यास, लक्ष्मी

शंकर मिश्र 'निशंक' की छंद साधना, विष्णु कुमार त्रिपाठी जी के गीत और डॉक्टर नरेंद्र जी के साथ किए कार्यों की स्मृतियों से शुरू होता है। निश्चल जी लिखते हैं कि संस्कृत की पढ़ाई काम तो आई पर जीविका के लिए यह भाषा काम नहीं आयी।मैं इतना अवश्य लिखना चाहूँगा की पढ़ाई कोई भी हो, मानसिक रूप से सबल बनाने के लिए यह दंड-बैठक लगाने का काम करती है। अब दंड-बैठक लगाने का जो योगदान कुश्ती जीतने में होता है, वही योगदान पढ़ाई का जीविका के साथ होता है। इसके बाद कहीं-कहीं निश्चल जी के आलेख में मुझे व्यंग्य दिखाई देता है। आप ऋषि हैं या नहीं, पर अपने आप को ऋषि लिखना सुहाता है। और तो और आजकल लोग अपने नाम के साथ राष्ट्रकवि भी लिखने लगे हैं । जिसकी जैसी मर्जी । उन्हें इससे ऐसा लगने लगता है कि उनके समान कोई अन्य नहीं। मुझे नहीं मालूम कि राष्ट्रकवि लिखने अथवा बनाने के कोई नियम हैं अथवा नहीं। क्या सरकार के घोषित किए जाने के बगैर भी कोई अपने को राष्ट्रकवि लिख सकता है? मैं इस अच्छे आलेख के लिए आदरणीय निश्चल जी को बधाई देना चाहता हूँ। प्रोफेसर रामदरश जी प्रवहमान हैं, प्रवहमान बने रहें, अपने स्नेह से सब के चित्त को भिगोते रहें , हम भी आदरणीय निश्चल जी के साथ यही प्रार्थना करते हैं। अथर्ववेद पर महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हुए श्री रवीन्द्र कुमार जी लिखते हैं कि इसका सूत्रपात- प्रारंभकर्ता होने के कारण अंगीरस अथर्व भी कहलाते हैं। अथर्ववेद छंद वेद भी कहलाता है। छंद का अर्थ होता है आनंद । इस प्रकार अथर्ववेद आनंद का मार्ग प्रशस्त करता है। इसमें बह्म संवाद के कारण इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। श्री रवीन्द्र कुमार जी के इस लेख में महत्वपूर्ण जानकारी है, जो पाठक का ज्ञानवर्धन करती है। बसंत राघव जी का आलेख 'व्यंग्य और उसके पर्याय : हरिशंकर परसाई जी', अनिल कुमार पांडे जी का आलेख 'निर्माण और सृजन' के अन्वेषी राकेश शर्मा और 'राम प्रश्न नहीं उत्तर हैं' सुंदर आलेख है, जो प्रकाश शर्मा जी के द्वारा लिखा गया है।

आलेख फजीहत पाल व्यंग्यात्मक शैली से शुरू होता है। पाठक को पढ़ने में रसानुभूति होती है। मैंने देखा है की फजीहत जी हों या कोई बंधु राजनीतिक घृणा के चलते उन्होंने राम-राम बोलना भी बंद कर दिया है। वह कहते हैं कि राधे-राधे बोल। अब इस बात में कोई बुराई नहीं है, लेकिन मन का मैलापन साफ झलकता है। अंत समय की पालकी में भी क्या राम नाम का उच्चारण नहीं होगा। मैं तो यह जानता हूँ कि-जो राम को भूल गए, राम भी उनको भूल गए। अरविंद कुमार पाल जी का आलेख 'भारतीय सिनेमा पर ओवर-द-टॉप' का प्रभाव, जो शोध आलेख है, साकेत बिहारी जी का 'हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का नामकरण', सुधारानी तैलंग जी का 'धरती माता का श्रंगार, माँडना से जगमग त्यौहार', दिनेश माली जी का 'उद्भ्रांत', अनीता सक्सेना जी का 'अयोध्या यात्रा का संस्मरण', नर्मदा प्रसाद सिसोदिया का ललित निबंध, सुदर्शन सोनी जी का व्यंग्य, उषा जायसवाल जी की आत्मकथा और प्रकाश मनु से प्रीति प्रसाद की बातचीत : एक साक्षात्कार, सुभद्रा मिश्रा की कहानी, नीलम कुलश्रेष्ठ की 19 बरस की जिंदगी, जय आनंद का , है न, शशि कला त्रिपाठी का देवकीनंदन त्रिपाठी कहानी, यात्रा वत्तांत हैं जो सभी रुचिकर होकर पत्रिका में अपनी रोशनी बिखेर रहे हैं।

इसके बाद शुरू होता है कविताओं का खण्ड। श्री रामेश्वर मिश्र पंकज जी की आराधनात्मक कविताएँ आओ आलोक दो, प्रार्थना, शब्दों के रथ स्वयं में आलोकित होने के साथ-साथ पत्रिका को भी आलोकित करने का कार्य कर रही हैं। तुम्हीं, हुआ -हुआ, ओर-छोर फैला तम सभी उत्कृष्ट श्रेणी की रचनाएँ हैं। श्री रामवल्लभ आचार्य जी की दीपावली आधारित रचना ज्योति कुसुम से सजी, जिसमें वह लिखते हैं- बाँचती है हर किरण कवितावली। जगमगाती जगत में दीपावली एक सुंदर गीत है। अब की बरस, किरणों का त्यौहार और जगर-मगर दीप जले सभी उत्कृष्ट गीत हैं। कुसुम श्रीवास्तव, प्रीति प्रवीण खरे के सुंदर गीतों के साथ डी. एन. प्रसाद की गीतिका पत्रिका में दीपावली का प्रकाश बिखेर रही है। यह सारी रचनाएँ ऐसी लग रही हैं जैसे उद्यान में विभिन्न प्रकार के फूल अपनी खुशबू बिखरते हुए दीपावली का स्वागत कर रहे हों। पत्रिका में सात कृतियों पर समीक्षायें, प्राप्त होने वाले पत्रों के अंश, पत्रिका के अंतिम कवर पेज के भीतरी आवरण में आदरणीय स्वर्गीय शिवमंगल सुमन की रचनाओं का समावेश, पत्रिका के सुखद आराम पर विराम लगाता है। अक्षरा के इस सुंदर और सारगर्भित अंक में उत्कृष्ट जानकारी सँजोने के लिए संपादक मंडल सहित सभी रचनाकारों, लेखकों का मैं धन्यवाद।

भोपाल (म.प्र.)
मोबाइल -989 349 422 6

चंद्रसेन विराट

जन्म – 03 दिसंबर 1936
प्रयाण – 15 नवंबर 2018

तुम कभी थे सूर्य

तुम कभी थे सूर्य लेकिन अब दियों तक आ गये।
थे कभी मुख्पृष्ठ पर अब हाशियों तक आ गये॥

यवनिका बदली कि सारा दृश्य बदला मंच का।
थे कभी दूल्हा स्वयं बारातियों तक आ गये॥

वक्त का पहिया किसे कुचले कहाँ कब क्या पता।
थे कभी रथवान अब बैसाखियों तक आ गये॥

देख ली सत्ता किसी वारांगना से कम नहीं।
जो कि अध्यादेश थे खुद अर्जियों तक आ गये॥

देश के संदर्भ में तुम बोल लेते खूब हो।
बात ध्वज की थी चलाई कुर्सियों तक आ गये॥

प्रेम के आख्यान में तुम आत्मा से थे चले।
घूम फिर कर देह की गोलाइयों तक आ गये॥

कुछ बिके आलोचकों की मानकर ही गीत को।
तुम ऋचाएँ मानते थे गालियों तक आ गये॥

सभ्यता के पंथ पर यह आदमी की यात्रा।
देवताओं से शुरू की वहशियों तक आ गये॥

वंदन मेरे देश-तेरा वंदन मेरे देश

वंदन मेरे देश–तेरा वंदन मेरे देश
पूजन, अर्चन, आराधन, अभिनन्दन मेरे देश

तुझसे पाई माँ की ममताऔर पिता का प्यार
तेरे अन्न, हवा, पानी से देह हुई तैयार

तेरी मिट्टी–मिट्टी कब है, चंदन मेरे देश
वंदन मेरे देश–तेरा वंदन मेरे देश

भिन्न–भिन्न भाषाएँ, भूषा यद्यपि धर्म अनेक
किन्तु सभी भारतवासी हैंऔर हृदय है एक

तुझ पर बलि है, हृदय–हृदय का स्पंदन मेरे देश
वंदन मेरे देश–तेरा वंदन मेरे देश

पर्वत, सागर, नदियाँ ऐसा दृश्य कहाँ ,
स्वर्ग अगर है कहीं धरा पर तो है सिर्फ यहाँ

तू ही दुनिया की धरती का वंदन मेरे देश
वंदन मेरे देश–तेरा वंदन मेरे देश

अक्षरों की अर्चना

आयु भर हम अक्षरों की अर्चना करते रहें।
छंद में ही काव्य की नव सर्जना करते रहें।।

स्वर मिले वह साँस को, हर कथ्य जो गाकर कहे।
ज़िंदगी के सुख–दुखों की व्यंजना करते रहें।।

वक्ष का रस–स्त्रोत सूखे दिग्दहन में भी नहीं।
नित्य नीरा वेदना की वन्दना करते रहें।।

जो भविष्यत् में कभी भी ठोस रूपाकार ले।
सत्य के उस स्वप्न की हम कल्पना करते रहें।।

रम्य प्रियदर्शी रहे, हो रूप में रति भी सहज।
प्रेम हो शुचि काम्य जिसकी कामना करते रहें।।

दे नयी उद्भावनाएँ, प्राण ऊर्जस्वित रखे।
हम प्रणत हो प्रेरणा की प्रार्थना करते रहें।।

सत्य–शिव–सुंदर हमारी लेखनी का लक्ष्य हो।
श्रेष्ठ मूल्यों की सतत् संस्थापना करते रहें।।

युद्ध से निरपेक्ष मत को विश्व–अनुमोदन मिले।
मानवी कल्याण की प्रस्तावना करते रहें।।

बैंक ऑफ़ बड़ौदा
Bank of Baroda
विजया VIJAYA | देना DENA

त्यौहारों के इस मौसम में
गृह एवं कार ऋण पर **पाएं आकर्षक ब्याज दरें**

आपकी खुशियों की चाबी

#bobHomeLoan

@8.40% प्रति वर्ष

- शून्य प्रक्रिया शुल्क
- मैक्स सेवर गृह ऋण के साथ ब्याज दर में अतिरिक्त छूट

#bobCarLoan

@8.70% प्रति वर्ष

- शून्य प्रक्रिया
- निश्चित एवं फ्लोटिंग ब्याज दर

बॉब के संग त्यौहार की उमंग

शुभ भी. लाभ भी

त्योहारी ऑफर्स के लिए स्कैन करें

*नियम एवं शर्तें लागू

बैंक ऑफ़ बड़ौदा के त्यौहारी ऑफर्स के साथ पाएँ लाइफटाइम खुशी

MY FAMILY MY BANK
- No Individual MAB/QAB
- 10 bps Concession on Home & Car Loan

BARODA SALARY A/c
- Free Personal Accident Insurance upto ₹1 Cr
- 10 bps Concession on Home & Car Loan and 50 bps Concession on Personal Loan

BOB BRO SB A/c
- Lifetime Zero Balance Ac for Age Group 18yrs to 25yrs
- Exclusive Festive Offers on Top Brands
- 15 bps Concession on Education Loan
- Upto ₹40 Lakhs Collateral Free Education Loan

BARODA NRI POWERPACK
- International Airport Lounge Access
- Free Health Check-up in India

BOB LITE SB A/c
- Lifetime Zero Balance Ac
- Free Platinum RuPay Debit Card with Attractive Offers

PERSONAL LOAN
- ROI Starts at 10.10%
- Nil Processing Fee

बॉब डेबिट और क्रेडिट कार्ड पर त्यौहारी ऑफर्स

amazon.in | Apollo 24|7 | croma | cleartrip | mmt | myntra | tata CLiQ

प्रेषक, प्रकाशक, मुद्रक कैलाशचन्द्र पंत, भोपाल द्वारा, स्वत्वाधिकारी मध्य प्रदेश राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल से प्रकाशित एवं श्रेया ऑफसेट, 4 लाजपत भवन, जोन-1, एम.पी.नगर, भोपाल से मुद्रित।